जैन धर्म में कर्म सिद्धांत : एक अनुशीलन

पीएच्.डी शोध-प्रबंध

* संशोधक विद्यार्थिनी *

साध्वी भक्तिशीला

* मार्गदर्शक *

डॉ. कांचन व्ही. मांडे

* संशोधन स्थल *

संस्कृत-प्राकृत भाषा विभाग

पुणे विद्यापीठ, पुणे - ७

वर्ष

२००९

Date :

CERTIFICATE

This is to Certify that the work incorporated in the thesis ''जैनधर्म में कर्म-सिद्धांत : एक अनुशीलन'' Submitted by **Jain Saddhvi Bhaktiseela,** is a genuine work. It is carried out by the candidate under my supervision. Such material as has been obtained from other sources, has been duly aknowledged in the thesis.

KMande

(Dr. Kanchan Mande)
Guide

विभाग प्रमुख
संस्कृत-प्राकृत भाषा विभाग
पुणे विद्यापीठ
पुणे-४११ ००७.

DECLARATION

I hereby declare that this thesis entitled ''जैनधर्म में कर्म-सिद्धांत : एक अनुशीलन'' submitted by me for the degree of Doctor of Philosophy is the record of the work carried out by me during the period from 2006 to 2009 under the guidance of **Dr. Kanchan V. Mande** and has not formed the basis for the award of any degree, deploma, associateship, fellowship, titles in this or any other University or other institution of Higher learning.

I further declare that the material obtained from other sources has been duly acknowledged in the thesis.

साध्वी भक्तिशीला

Signature of the Candidate Date :
PUNE

ऋण निर्देश

आज मेरा Ph.D. का प्रबंध पूर्णता की ओर पहुँचा है। ऋणनिर्देश करने में औपचारिकता नहीं हो सकती। विद्या वाचस्पति (Ph.D.) इस उपाधि तक पहुँचने के पूर्व और प्राप्त करने तक अनेक व्यक्ति, संस्थाएँ, ग्रंथालयों की बहुमूल्य मदद होती है। इन सब के प्रति मेरा आदरभाव ऋण निर्देश से व्यक्त करती हूँ।

प्रबंध के अभ्यास के रूप में भले ही मेरा नाम हो, परंतु उसके पीछे अनेकों की मेहनत, सहकार्य और सदिच्छाएँ हैं।

विश्वसंत जिनशासन चंद्रिका दादीजी म.सा. पू. उज्ज्वलकुमारीजी म.सा. की मैं अत्यंत ऋणी हूँ। जिन्होंने मुझे Ph.D. तक पहुँचाने में अदृश्य रूप से सहायता की है। उज्ज्वल संघ प्रभाविका प्रखर व्याख्याता साध्वी रत्ना गुरुणी मैया पू. डॉ. धर्मशीलाजी महासतीजी तथा नवकार साधिका पू. डॉ. चारित्रशीलाजी महासतीजी को मैं नहीं भूल सकती जिन्होंने मेरे इस शोध प्रबंध के लिए अथाह मेहनत की है। उनके आशीर्वाद से मैं आज यहाँ तक पहुँच सकी हूँ। मैं उनका ऋण कृतज्ञतापूर्वक व्यक्त करती हूँ।

मेरे शोध प्रबंध के मार्गदर्शक, समय-समय पर बहुमूल्य सेवा देने वाले पूना विद्यापीठ के डॉ. कांचन मांडे का ऋण मैं कृतज्ञतापूर्वक व्यक्त करती हूँ।

भावी जीवन में भी इन सभी की सदिच्छा मेरे लिए प्रेरणादायी बनी रहे। यही शुभकामना है।

विषयानुक्रमणिका

CERTIFICATE (२)

DECLARATION (३)

ऋणनिर्देश (४)

प्रस्तावना १-१३

प्रथम प्रकरण १४-७४

कर्म सिद्धांत के मूल ग्रंथ आगम वाङ्मय

मानव जीवन और धर्म १८, जीवन की परिभाषा १८, अध्यात्म एवं धर्म की भूमिका १८, भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी १९, वैदिक संस्कृति २०, श्रमण संस्कृति २१, बौद्ध धर्म२२, जैन धर्म २२, इतिहास एवं परंपरा २३ , जैन धर्म की सार्वजनीनता २४, जैन धर्म का अंतिम लक्ष्य : शाश्वत शांति २५, कालचक्र २५, समीक्षा २६, अवसर्पिणी काल के छह आरे २६, उत्सर्पिणी काल के छह आरे २७, समीक्षा २८, तीर्थंकर एवं धर्मतीर्थ २८, तीर्थंकरोपदेश आगम २९, आगमों की भाषा ३०, भगवान महावीर द्वारा धर्मदेशना ३१, आगमों का महत्त्व ३२, आगमों का संकलन ३२, प्रथम वाचना ३२, द्वितीय वाचना ३३, तृतीय वाचना ३३, आगमों का विस्तार ३४, आगम : अनुयोग ३४, चरणकरणानुयोग ३४, धर्मकथानुयोग ३४, गणितानुयोग ३५, द्रव्यानुयोग ३५, अंग आगम परिचय ३५, आचारांगसूत्र ३६, सूत्रकृतांगसूत्र ३७, स्थानांगसूत्र ३८, समवायांगसूत्र ३९, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र ३९, ज्ञाताधर्मकथासूत्र ४०, उपासकदशांगसूत्र ४०, अन्तकृत्दशांगसूत्र ४१, अनुत्तरौपपातिकसूत्र ४१, प्रश्नव्याकरण ४१, विपाकसूत्र ४२, दृष्टिवाद ४२, उपांग परिचय ४२, औपपातिकसूत्र ४३,राजप्रश्नीयसूत्र ४३, जीवाजीवाभिगमसूत्र ४४, प्रज्ञापनासूत्र ४४, जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र ४४, सूर्यप्रज्ञप्ति-चंद्रप्रज्ञप्ति ४५, निरयावलिका-कल्पिकासूत्र ४५, कल्पावतंसिकासूत्र ४६, पुष्पिकासूत्र ४६, पुष्पचूलिकासूत्र ४६, वृष्णिदशा ४६, चार मूलसूत्र परिचय ४६, दशवैकालिकसूत्र ४७, उत्तराध्ययनसूत्र ४८, नंदीसूत्र ४८, अनुयोगद्वारसूत्र४९, चार छेदसूत्र४९, व्यवहारसूत्र ५०, बृहत् कल्पसूत्र ५०, आगम गृह ५१, निशीथसूत्र ५१, दशाश्रुतस्कंधसूत्र ५२, आवश्यकसूत्र ५२, प्रकीर्णक आगम साहित्य ५३, चउसरण : चतुःशरण प्रकीर्णक ५४, आउर-पच्चक्खाण : आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक ५५, महापच्चक्खाण : महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक ५५, भत्तपरिण्णा : भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक ५५, तंदुलवेयालिय : तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक५६, संथारग(संस्तारक) प्रकीर्णक ५६, गच्छायार : गच्छाचार प्रकीर्णक ५७, गणिविज्जा : गणिविद्या प्रकीर्णक ५७, देवाधिदेव देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक ५७, वीरत्थओ : वीरस्तुति प्रकीर्णक ५८, मरणसमाही (मरणसमाधी) ५८, महानिशीथ छेदसूत्र ५९, जीयकप्पसुत्त जीतकल्पसूत्र ५९, पिंडनिज्जुत्ति, ओहनिज्जुत्ति ५९, ओघनिर्युक्ति ६०, पिण्डनिर्युक्ति ओघनिर्युक्ति ६०, आगमों पर व्याख्या साहित्य ६०, निर्युक्ति ६१, भाष्य ६१,

चूर्णि ६२, टब्बा ६२, समीक्षा ६३, टीका ६३, श्वेतांबर दिगंबर परिचय ६४, दिगंबरों के सर्वमान्य शास्त्र ६४, षट्खण्डागम ६५, षट्खण्डागम पर व्याख्या साहित्य ६६, धवला की रचना ६६, कषायपाहुड (कषायप्राभृत) ६६, तिलोयपन्नत्ति (तिलोकप्रज्ञप्ति) ६७, आचार्य कुंदकुंद के प्रमुख ग्रंथ ६७, पंचास्तिकाय ६७, प्रवचनसार ६८, समयसार ६८, नियमसार ६९, रयणसार ६९, दिगंबर परंपरा में संस्कृत रचनायें ६९, निष्कर्ष ६९, संदर्भ सूची ७१,

द्वितीय प्रकरण ७५-१२२

कर्म का अस्तित्व

आत्मा का अस्तित्व : कर्म अस्तित्व का परिचायक

इन्द्रभूति गौतम की आत्मा विषयक शंका और निराकरण ७८, ज्ञानगुण के द्वारा आत्मा का अस्तित्व ७८, जहाँ आत्मा वहाँ ज्ञानगुण ७८, शरीरादि भोक्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ७९, परलोक के रूप में आत्मा की सिद्धि ७९, शरीरस्थ सारथी के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ७९, उपादान कारण के रूप में आत्मा की सिद्धि ७९, आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ८०, आत्मा का असाधरण गुण : चैतन्य ८०, जहाँ कर्म वहीं संसार ८०, आत्मा की दो अवस्थाएँ ८१, संसारी (अशुद्ध) दशा का मुख्य कारण : कर्म ८२, कर्म अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ८३, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म क्यों माने? ८४, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के समय शरीर नष्ट होता है आत्मा नहीं ८५, प्रत्यक्ष-ज्ञानियों द्वारा कथित पूर्वजन्म-पुनर्जन्म वृत्तान्त ८६, प्रत्यक्ष-ज्ञानियों और भारतीय मनीषियों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि ८८, ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत ८८, उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख ८९, भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत ८९, बौद्ध दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९०, न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९१, अदृष्ट (कर्म के साथ ही) पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का संबंध ९१, सांख्य दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९२, मीमांसा दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९२, योगदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९२, महाभारत में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ९२, मनुस्मृति में पुनर्जन्म के अस्तित्व की सिद्धि ९३, पूर्वजन्म के वैर विरोध की स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि ९३, आत्मा की नित्यता से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि ९३, पाश्चात्य दार्शनिक ग्रंथों में पुनर्जन्म ९४, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानव जाति के लिए आध्यात्मिक उपहार ९५, परामनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से पुनर्जन्म और कर्म ९६ पुनर्जन्म की सिद्धि के साथ-साथ आत्मा और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि ९७, जीते जी पुनर्जन्मों का ज्ञान एवं स्मरण ९८, प्रेमात्माओं का साक्षात् संपर्क : पुनर्जन्म की साक्षी ९९, जैन दर्शन की दृष्टि से प्रेतात्मा के लक्षण एवं स्वरूप १००, प्रेतात्मा द्वारा प्रिय पात्र की अदृश्य सहायता १०१, फोटो द्वारा सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व १०१, पुनर्जन्म सिद्धांत की उपयोगिता १०२,

कर्म अस्तित्व का मुख्य कारण जगत वैचित्र्य १०२, बौद्ध दर्शन की दृष्टि से विसदृशता कारण कर्म १०८, कर्म अस्तित्व कब से कब तक ? १०९, तात्विक दृष्टि से कर्म और जीव का सादि और अनादि संबंध ११०, आत्मा अनादि है तो क्या कर्म भी अनादि हैं? १११, कर्म और आत्मा में पहले कौन? १११, दोनों के अनादि संबंध का अंत कैसे? ११३, भव्य और अभव्य जीव का लक्षण ११४, अभव्यजीव का कर्म के साथ अनादि अनंत संबंध ११४, भव्यजीव का कर्म के साथ संबंध अनादि सान्त ११४, संदर्भ-सूची ११६

तृतीय प्रकरण १२३-१६७

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

जैनदृष्टि से कर्मवाद का आविर्भाव १२५, कर्मप्रवाह तोडे बिना परमात्मा नहीं बनते १२५, कर्मवाद के अविर्भाव का कारण १२६, भगवान ऋषभदेव द्वारा कालानुसार जीवन जीने की प्रेरणा १२६, कर्ममुक्ति के लिए धर्मप्रधान समाज का निर्माण १२७, धर्म-कर्म-संस्कृति आदि का श्रीगणेश १२८, कर्मवाद का प्रथम उपदेश : भगवान ऋषभदेव द्वारा १२९, कर्मवाद का आविर्भाव क्यों और कब?१२९, कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया गया? १३०, तीर्थंकरों द्वारा अपने युग में कर्मवाद का आविर्भाव १३१, भगवान महावीर द्वारा कर्मवाद का आविर्भाव १३१, गणधरों की कर्मवाद संबंधी शंकाओं का समाधान १३१, जैनदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थानकाल १३३, कर्मवाद के समुत्थान का मूल स्त्रोत१३३, कर्मवाद का विकास क्रम : साहित्य रचना के संदर्भ में १३५, विश्व वैचित्र्य के पांच कारण१३८, प्रत्येक कार्य में पांच कारणों का समवाय और समन्वय १३९, एकांत कालवाद १४०, एकांत स्वभाववाद १४०, एकांत नियतिवाद १४०, कर्मवाद मीमांसा १४१, कर्मवाद समीक्षा १४२, पुरुषार्थवाद की मीमांसा १४४, पुरुषार्थवाद समीक्षा १४५, पांच कारणवादों का समन्वय१४५, मोक्षप्राप्ति में पंचकारण समवाय १४६, सर्वत्र पंचकारण समवाय से कार्य सिद्धि १४७, कर्म शब्द के विभिन्न अर्थ और रूप १४७, कर्म का सार्वभौम साम्राज्य १४७, जैनदृष्टि से कर्म के अर्थ में क्रिया और हेतुओं का समावेश १४९, पुद्गल का योग और कषाय के कारण कर्मरूप में परिणमन १५०,विभिन्न परंपराओं में कर्म के समानार्थक शब्द १५१,कर्म के दो रूप : भावकर्म और द्रव्यकर्म १५२, द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्रक्रिया १५३, निमित्त नैमित्तिक श्रृंखला १५४, भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कारण क्यों मानें ?१५४, भावकर्म की उत्पत्ति कैसे ?१५५, योग और कषाय आत्मा की प्रवृत्ति के दो रूप १५५, जितना कषाय तीव्र-मंद उतना ही कर्म का बंध तीव्र-मंद १५५, कर्म संस्कार रूप भी पुद्गल रूप भी १५६, आत्मा की वैभाविक क्रियाएँ कर्म हैं १५७, प्रमाद ही संस्कार रूप कर्म (आस्त्रव) का कारण १५७, कार्मण शरीर : कार्य भी है कारण भी है १५८, पुद्गल का कर्म रूप में परिणमन कैसे? १५९, जीव के रागादि परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त १६०, जीव पुद्गल कर्मचक्र १६१, संदर्भ-सूची १६२

चतुर्थ प्रकरण १६८-२३३
कर्म का विराट स्वरूप
कर्मबंध की व्यवस्था

अष्टकर्मों का क्रम १७१, कर्म के मुख्य दो विभाग १७१, कर्मों के लक्षण १७२, ज्ञानावरणीय कर्म का निरूपण १७४, ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव फल भोग १७५, ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १७७, मतिज्ञानावरणीय कर्म१७८, मतिज्ञानावरणीय कर्म बंध के कारण और निवारण १७८, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १७९, श्रुतज्ञानावरणीय कर्मबंध के कारण और निवारण १७९, अवधिज्ञानावरणीय कर्म १८०, मनःपर्यायज्ञान की विशेषता १८०, केवलज्ञान १८१, ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव १८२, दर्शनावरणीय कर्म का निरूपण १८३, दर्शनावरणीय कर्म छः प्रकार से बांधे १८४, दर्शनावरणीय कर्म का प्रभाव १८६, वेदनीय कर्म का निरूपण १८७, वेदनीय कर्म का विस्तार १८८, असातावेदनीय कर्म का फलानुभाव १८८, सातावेदनीय कर्म दश प्रकार से बांधे १८९, असातावेदनीय कर्म बारह प्रकार से बांधे १९०, साता-असातावेदनीय कर्म का प्रभाव १९०, मोहनीय कर्म का निरूपण १९१, मोहनीय कर्म का विस्तार १९३, चारित्रमोहनीय कर्म का स्वरूप १९३, दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ १९४, चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद १९४, कषाय-चारित्र-मोहनीय की १६ प्रकृतियाँ १९५, अनंनतानुबंधी कषाय १९५, नोकषाय-चारित्र-मोहनीय का स्वभाव १९८, मोहनीय कर्मबंध के ६ कारण २००, मोहनीय कर्म पांच प्रकार से भोगे २००, मोहनीय कर्म का प्रभाव २०१, आयुष्य कर्म का निरूपण २०१, आयुष्य कर्म का विस्तार २०२, आयुष्य कर्म १६ प्रकार से बाँधे २०२, आयुष्य कर्म ४ प्रकार से भोगे २०५, आयुष्य कर्म का प्रभाव २०७, नामकर्म का निरूपण २०७, नामकर्म का विस्तार २०७, नामकर्म ८ प्रकार से बाँधे २१०, नामकर्म २८ प्रकार से भोगे २११, नामकर्म का प्रभाव २११, गोत्रकर्म का निरूपण २१२, गोत्रकर्म की १६ प्रकृतियाँ २१२, गोत्रकर्म १६ प्रकार से भोगे २१३, गोत्रकर्म का प्रभाव २१३, अंतराय कर्म का निरूपण २१३, अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ २१४, अंतराय कर्म बंध ५ प्रकार से भोगे २१६, अंतराय कर्म का प्रभाव २१६, कर्मबंध की परिवर्तनीय अवस्था के १० कारण २१७, अन्य परंपरा में तीन अवस्थाएँ २२०, कर्मबंध का मूल कारण : रागद्वेष २२१, राग या द्वेष में नुकसान-कारक कौन?२२२, प्रशस्त राग २२३, अप्रशस्त राग और उनके प्रकार २२४

पंचम प्रकरण २३४-२८०
कर्मों की प्रक्रिया

कर्म पुद्गल जीव को परतंत्र बनाते हैं २३६, जीव को परतंत्र बनानेवाला शत्रु : कर्म २३६, कर्म विजेता : तीर्थंकर २३६, कर्म बंध का व्युत्पति लभ्य अर्थ २३७, आत्मा शरीर संबंध से पुनः पुनः कर्माधीन २३७, जीव कब स्वतंत्र और

परतंत्र २३८, कर्म जीव को क्यों परतंत्र बनाता है ? २३८, कर्मों द्वारा जीवों का परतंत्रीकरण २३८, सुख-दुःख जीव के कर्माधीन २४१, मिथ्यात्वी आत्मा में तप त्याग की भावना कैसे? २४५, प्रत्येक आत्मा स्वयंभू शक्ति संपन्न है२४६, आत्मा की इच्छा बिना कर्म परवश नहीं होते २४६, आत्मा का स्वभाव स्वतंत्र २४६, कर्मराज का सर्वत्र सार्वभौम राज्य २४७, कर्मरूपी विधाता का विधान अटल है २४७, कर्म : शक्तिशाली अनुशास्ता २४८, मुक्ति न हो तब तक कर्म छाया की तरह २४९, कर्म का नियम अटल है २४९, कर्मों के नियम में कोई अपवाद नहीं २४९, जड़ कर्म पुद्गल में भी असीम शक्ति २५०, कर्म शक्ति से प्रभावित जीवन २५०, कर्म और आत्मा दोनों में प्रबल शक्तिमान कौन ?२५१, कर्म शक्ति को परास्त किया जा सकता है २५२, आत्म शक्ति, कर्म शक्ति से अधिक कैसे ?२५३, कर्म मूर्तरूप या अमूर्त आत्मा गुणरूप २५४, कर्म को मूर्त रूप न मानने का क्या कारण ? २५४, गणधरवाद में कर्म मूर्त है या अमूर्त २५४, मूर्त का लक्षण और उपादान २५५, षड्द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त है २५६, गणधरवाद में कर्म की मूर्तत्व सिद्धि २५६, जैन दार्शनिक ग्रंथों में कर्म की मूर्तता सिद्धि २५६, आप्त वचन से कर्म मूर्त रूप सिद्ध होता है २५७, कर्मों के रूप कर्म, विकर्म और अकर्म २५७, क्या सभी क्रियाएँ कर्म है ?२५८, पच्चीस क्रियाएँ : स्वरूप और विशेषता २५८, सांपरायिक क्रियाएँ ही बंधकारक, ऐर्यापथिक नहीं २५९, क्रिया से कर्म का आगमन अवश्य, सभी कर्म बंधकारक नहीं २५९, कर्म और अकर्म की परिभाषा २६०, बंधक, अबंधक कर्म का आधार बाह्य क्रियाएँ नहीं २६०, अबंधक क्रियाएँ रागादि कषाययुक्त होने से बंधकारक २६१, साधनात्मक क्रियाएँ अकर्म के बदले कर्मरूप बनती हैं २६१, कर्म का अर्थ केवल प्रवृत्ति नहीं, अकर्म का अर्थ निवृत्ति नहीं २६२, भगवान महावीर की दृष्टि से प्रमाद कर्म, अप्रमाद अकर्म २६२, सकषायी जीव हिंसादि में अप्रमत्त होने पर भी पाप का भागी २६३, कर्म और विकर्म में अंतर २६४, भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म का स्वरूप २६५, बौद्ध दर्शन में कर्म, विकर्म और अकर्म विचार२६६, कौन से कर्मबंध कारक, कौन से अबंधकारक ?२६६, तीनों धाराओं में कर्म, विकर्म और अकर्म में समानता २६६, कर्म का शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप २६७ शुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण २६८, अशुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण २६८, शुभत्व और अशुभत्व के निर्णय का आधार २६९, बौद्ध दर्शन में शुभाशुभत्व का आधार २६९, वैदिक धर्मग्रंथों में शुभत्व का आधार : आत्मवत् दृष्टि २७०, जैन दृष्टि से कर्म के एकांत शुभत्व का आधार : आत्मतुल्य दृष्टि २७१, शुद्ध कर्म की व्याख्या २७१, शुभ अशुभ दोनों को क्षय करने का क्रम २७२, अशुभ कर्म से बचने पर शेष शुभ कर्म प्रायः शुद्ध बनते हैं २७२, संदर्भ-सूची २७४.

षष्ठम-प्रकरण २८१-३५४

कर्मों का स्रोत : आस्रव

कर्म प्रवेश : जीव में कैसे ? २८३, आस्रव की व्याख्याएँ २८५, आस्रव का लक्षण २८५, पुण्यास्रव और पापास्रव२८६, द्रव्यास्रव और भावास्रव २८६, ईर्यापथ और सांपरायिक आस्रव २८७, आस्रव के पाँच भेद २८७, मिथ्यात्व आस्रव २८८, अव्रत आस्रव २९०, प्रमाद आस्रव २९१, कषाय आस्रव २९२, योग आस्रव २९४,कर्मों का संवरण : संवर २९४, संवर की व्याख्याएँ २९५, मोक्षमार्ग के लिए संवर राजमार्ग २९६, सम्यक्त्व का लक्षण २९७, सम्यक्त्व के पाँच अतिचार २९८, सम्यक्त्व के भेद २९९, विरति २९९, अप्रमाद ३०१, अकषाय ३०२, अयोग ३०२,आस्रव और संवर में अंतर ३०३, निरास्रवी होने का उपाय ३०४,निष्कर्ष ३०५, संवर का महत्त्व ३०५, कर्मों का निर्जरण : निर्जरा ३०५, निर्जरा का अर्थ ३०६, निर्जरा के दो प्रकार ३०७, निर्जरा के बारह प्रकार ३०८, तप का महत्त्व ३१८, बंध का स्वरूप ३२०,बंध के दो भेद : द्रव्यबंध और भावबंध ३२१, बंध के चार भेद ३२१, कर्मों से सर्वथा मुक्ति ३२५, मोक्ष का स्वरूप ३२६, मोक्ष प्राप्ति के उपाय ३२७, मोक्ष के लक्षण ३२८, मोक्ष का विवेचन ३२८, विभिन्न दर्शनों में मोक्ष ३२९, जैन दर्शन में मोक्ष ३३१, द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष ३३२, कर्मक्षय का क्रम ३३३, मोक्ष : समीक्षा ३३३, कर्मक्षय का फल : मोक्ष ३३५, मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान सम्यक्त्व ३३६, सम्यक्दर्शन ३३७, सम्यक्ज्ञान ३३८, सम्यक्चारित्र ३४०, चारित्र के दो भेद ३४१, निश्चय चारित्र ३४१, व्यवहार चारित्र ३४२, अन्य दर्शनों में त्रिविध साधनामार्ग ३४३, संदर्भ-सूची ३४४.

सप्तम प्रकरण ३५५-३८२

उपसंहार

सुप्त शक्ति को जगाएँ ३५६, अनंतशक्ति का स्रोत कहा? ३५६, भारतीय दर्शन में साधना पथ ३५७, जैनसंस्कृति ३५८, भारतीय दर्शन और जैनदर्शन ३५८, विसर्जन से सर्जन ३५९, कर्म की महत्ता सभी क्षेत्रों में ३६०, कर्मसिद्धांत के मूल ग्रंथ आगम वाङ्मय ३६१, कर्म का अस्तित्व ३६३, कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन ३६६, कर्म का विराट स्वरूप ३६९, कर्मों की प्रक्रिया ३७२, कर्मों से सर्वथा मुक्ति : मोक्ष ३७६.

संदर्भग्रंथ सूची ३८३-४०२

प्रस्तावना

''तारों की ज्योति में चंद्र छिपे नहीं सूर्य छिपे नहीं बादल छाये।
मेघ गर्जन से मोर छिपे नहीं, सर्प छिपे नहीं पूंगी बजाये॥
जंग जुड़े रजपूत छिपे नहीं, दातार छिपे नहीं मांगन आये।
जोगी का वेष अनेक करो, पर कर्म छिपे न भभूति रमाए॥''

जिस प्रकार तारों की ज्योति में चंद्र छिपता नहीं, सूर्य बादलों में छिपता नहीं, मेघ गर्जना से मोर छिपता नहीं, पुंगी बजने पर सर्प छिपता नहीं, युद्ध के समय रजपूत छिपता नहीं, मांगने वालों से दाता छिपता नहीं, उसी प्रकार जोगी का वेश धारण करने पर और भभूति लगाने से भी कर्म छूटते नहीं।

आज का युग विज्ञान का युग है। इस युग में विज्ञान शीघ्र गति से आगे बढ़ रहा है। विज्ञान के नवनवीन आविष्कार विश्वशांति का आवाहन कर रहे हैं। संहारक अस्त्र-शस्त्र विद्युत गति से निर्मित हो रहे हैं।

आज मानव भौतिक स्पर्धा के मैदान में तीव्रगति से दौड़ रहा है। मानव की महत्त्वाकांक्षा आज दानव के समान बढ़ रही है। परिणामत: मानव निर्जीव यंत्र बनता चला जा रहा है। विज्ञान के तूफान के कारण धर्मरूपी दीपक तथा तत्त्वज्ञान रूपी दीपक करीब-करीब बुझने की अवस्था पर पहुँच गये हैं। ऐसी परिस्थितियों में आत्मशांति तथा विश्वशांति के लिए विज्ञान की उपासना के साथ तत्त्वज्ञान की उपासना भी अति आवश्यक है।

आज दो खंड आमने सामने के झरोखे के समान करीब आ गये हैं। विज्ञान ने मनुष्य को एक दूसरे से नजदीक लाया है, परंतु एक दूसरे के लिए स्नेह और सद्भाव कम हो गया है। इतना ही नहीं मानव ही मानव का संहारक बन गया है।

विज्ञान का विकास विविध शक्तियों को पार कर अणु के क्षेत्र में पहुँच चुका है। मानव जल, स्थल तथा नभ पर विजय प्राप्त कर अनंत अंतरिक्ष में चंद्रमा पर पहुँच चुका है। इतना ही नहीं अब तो मंगल तथा शुक्र ग्रह पर पहुँचने का प्रयास भी जारी है। भौतिकता के वर्चस्व ने मानव हृदय की कोमल वृत्तियों, श्रद्धा, स्नेह, दया, परोपकार, नीतिमत्ता, सदाचार तथा धार्मिकता आदि को कुंठित कर दिया है। मानव के आध्यात्मिक और नैतिक जीवन का अवमूल्यन हो रहा है।

विज्ञान की बढ़ती हुई उद्यम शक्ति के कारण विश्व विनाश के कगार पर आ पहुँचा है। अणु आयुधों के कारण किसी भी क्षण विश्व का विनाश हो सकता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में आशारूपी एक ही ऐसा दीप है जो दुनिया को प्रलय रूपी अंधकार में मार्ग दिखा सकेगा।

वह आशारूपी दीप तत्त्वज्ञान और भगवान महावीर के कर्मवाद को समझना है।

विज्ञान के साथ अगर तत्त्वज्ञान और भगवान महावीर का कर्मवाद जुड़ जाए तो विज्ञान विनाश के स्थान पर विकास की दिशा में आगे बढ़ेगा। विज्ञान की शक्ति पर तत्त्वज्ञान का अंकुश होगा तब विश्व में सुख शांति रहेगी। भ. महावीर का तत्त्वज्ञान और कर्मवाद का रहस्य अमृततुल्य रसायन है। वही इस विश्व को असंतोष और अशांति की व्याधि से मुक्त कर सकता है। विज्ञान के कारण भौतिक साधनों की बड़ी उन्नति हुई है। उनके कारण मानव को बाह्य सुख तो प्राप्त हुआ है, लेकिन आध्यात्मिक दुनिया में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

आज विज्ञान की जितनी उपासना हो रही है, उतनी तत्त्वज्ञान की उपेक्षा हो रही है। यही कारण है कि मानव को आत्म शांति प्राप्त नहीं हो रही है। तत्त्वज्ञान के कारण तथा कर्मवाद के रहस्य को समझने के कारण ऐसी शांति प्राप्त होती है जिससे वह संसार की प्रत्येक क्रिया सावधान पूर्वक करेगा।

आज विज्ञान जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति कर उसमें खूब क्रांति और उत्क्रांति कर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मानव शक्तिशाली बना है, यह निर्विवाद सत्य है, परंतु इस शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना है इसका निश्चय विज्ञान नहीं कर सकता। शक्ति का उपयोग विकास के लिए करना है या विनाश के लिए यह मानव के हाथ में हैं, यह निर्णय लेने में भगवान महावीर का तत्त्वज्ञान और कर्मवाद मानव को मार्गदर्शक हो सकता है।

प्रख्यात शास्त्रज्ञ तथा गणितज्ञ आलबर्ट आईनस्टाइन ने अणु शक्ति का आविष्कार किया, यह अणु शक्ति जिस मूल द्रव्य से निर्मित होती है वह दश पौंड यूरेनियम संसार को एक महिने तक बिजली उपलब्ध करा सकता है और मानव जीवन को अधिक सुखी कर सकता है, परंतु वही युरेनियम अेटमबाँब तैयार करने के लिए उपयोग में लाया जाए तो मानव जीवन नष्ट भी हो सकता है।

अमेरिका ने अणु शक्ति का उपयोग करके अणुबाँब तैयार किये और हिरोशिमा तथा नागासाकी इन दो जापानी शहरों पर उन्हें गिराकर लाखों लोगों का जीवन ध्वस्त किया, इसलिए मानवीय प्रगति सच्चे अर्थों में हो तो विज्ञान और तत्त्वज्ञान का साथ आवश्यक है। विज्ञान और तत्त्वज्ञान प्रगति के रथ के दो पहिए हैं। रथ चलाने के लिए जिस प्रकार दो पहिये आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार प्रगति के कदम सही दिशा में बढ़ाने के लिए विज्ञान, तत्त्वज्ञान और धर्म का साथ अत्यंत आवश्यक है। विज्ञान रूपी मोटर के लिए तत्त्वज्ञान रूपी स्टियरिंग व्हील अनिवार्य है। इसलिए वैज्ञानिक प्रगति के साथ तात्विक प्रगति होना भी आवश्यक है।

विश्व के देशों में भारत एक ऐसा देश है, जिसकी अपनी विलक्षण विशेषताएँ हैं। अन्य देशों में जहाँ गौरव और महत्त्व उन लोगों का रहा, जिन्होंने विपुल वैभव और संपत्ति अर्जित की, उच्च-उच्चस्तर, सत्ता और अधिकार हस्तगत किया अधिक वैभव एवं विलासोपयोगी साज सामान का संग्रह किया किंतु इस देश में सर्वाधिक पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान उनका हुआ, जिन्होंने समस्त जागतिक संपत्ति, भोगोपभोगों के उपकरणों का परित्याग कर अकिंचनता का जीवन अपनाया, अपरिग्रह, संयम, तपश्चरण का और योग का मार्ग स्वीकार किया।

भारतीय चिंतन धारा में भोग वासनामय जीवन को उपादेय नहीं माना। भोगों को जीवन की दुर्बलता स्वीकार किया गया है। भोगजनित सुखों के साथ दुःखों की परंपराऐं जुड़ी रहती हैं। इसलिए यहाँ के ज्ञानियों ने ऐसे सुखों की खोज की, जो पर पदार्थ निरपेक्ष और आत्म सापेक्ष हैं।

भारत का गौरवमय इतिहास उन ऋषि मुनियों, ज्ञानियों योगियों और साधु संतों का इतिहास है। जिन्होंने परम प्राप्ति की साधना में अपने को लगाया। साथ ही साथ जन जन को कल्याण का संदेश दिया। सदाचार, नीति, सच्चाई और सेवा के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। यह सब तभी फलित होता है, जब जीवन भोगोन्मुखता से आत्मोन्मुखता की ओर मुड़े।

भगवान श्री महावीर स्वामी का उदात्त चिन्तन एवं तत्त्व दर्शन जीव मात्र के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का मार्ग प्रशस्त करता है। यही वह परम पथ है, जिस पर चलकर मानव शांति और सुख की प्राप्ति कर सकता है।

''ढाई अक्षर कर्म धर्म के, अन्तर तूं पहचान।
एक देते है नरकगति, दुजा देत है मोक्ष धाम॥''

कर्म और धर्म इन दोनों के ढाई अक्षर हैं लेकिन इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। कर्म यह जीव को नरक गति में ले जाता है और 'धर्म' यह मोक्ष मंजिल में पहुँचाता है।

'धर्म' और 'कर्म' अध्यात्म जगत् के शब्द अद्भुत हैं। जिन पर चैतन्य जगत् की समस्त क्रिया, प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म मनुष्य के मोक्ष का प्रतीक है, और कर्म बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही समस्त खेल है। संसारी प्राणी कर्मबद्ध प्रवृत्ति करता है, सुख दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, और मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा आत्म परितोष होता है कि मैंने लगभग बीस वर्ष पूर्व जैन

साधना का संयममय साधु जीवन स्वीकार किया। परम पूज्य श्रमणसंघ के आचार्य सम्राट १००८ पू. आनंदऋषिजी म.सा., वर्तमान आचार्य सम्राट १००८ पू. डॉ. शिवमुनिजी म.सा., आनंद कुलकमल प्रवर्तक श्री. पू. श्री कुंदनऋषिजी म.सा., अनंत उपकारी ज्ञान एवं साधना की दिव्य ज्योति प्रात: स्मरणीय विश्वसंत दादीजी म.सा., पू. श्री. उज्जवलकुमारीजी म.सा. तथा उज्ज्वल संघ प्रभाविका श्रुत स्थविरा साध्वीरत्ना गुरुणी मैया पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.सा. के सानिध्य में भागवती दीक्षा अंगीकार की। पू. गुरुणी मैया के सानिध्य में जो सीखने को, जानने को मिला वह मेरे श्रमणी जीवन के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

मैं गुरुणी मैया की कृपादृष्टि से संयम पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती रही। साधु-साध्वी के जीवन में संयम का सर्वोपरि स्थान है। उनके साथ यदि सद्विद्या का संयोग बनता है तो संयम और अधिक उज्ज्वल और प्रशस्त होता जाता है। मैंने मेरी गुरुणी मैया पू. डॉ. धर्मशीलाजी महासतीजी के निर्देशन और मार्गदर्शन में अपना अध्ययन गतिशील रखा।

जैन विश्वभारती मानद विश्वविद्यालय, लाँडनू (राज.) से मैंने प्राकृत में एम्. ए. फर्स्ट क्लास से उत्तीर्ण किया। यद्यपि एक जैन साध्वी के लिए लौकिक परीक्षा का कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु परीक्षा के माध्यम से अध्ययन करने में एकाग्रता, सुव्यवस्था और गूढ़ अध्ययन होता है। एम्.ए. होने के बाद मैंने निश्चय किया कि यदि भविष्य में पीएच.डी. करने की संधि मिली तो मैं 'कर्म सिद्धांत' पर ही पीएच.डी. करूँगी।

पू. गुरुणीमैया के मुखारविंद से कर्मसिद्धांत पर अनेक प्रवचन सुनने से भी मुझे कर्म सिद्धांत पर पीएच.डी. करने की प्रेरणा मिली। इसलिए मैंने मेरे शोध प्रबंध का विषय जैन धर्म में कर्म सिद्धांत यह विषय मैंने पसंद किया। पूना विश्वविद्यालय ने और मेरे मार्गदर्शक डॉ. कांचन मांडे इन्होंने मुझे यह विषय लेने की अनुमति दी। कर्मसिद्धांत के विषय में लिखने की जब अनुमति मिली तब मुझे अत्यन्त आनंद हुआ, क्योंकि मुझे मेरा मन पसंद विषय मिला। कर्मसिद्धांत के विषय में प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, इंग्लिश इत्यादि भाषाओं में जो लेख, किताबें मिली उनका रसास्वाद लेकर तात्त्विक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन करने का निर्णय किया।

साधुचर्या में समर्पित जीवन में वीतराग प्रभु की आज्ञा में रहकर आचार धर्म का पालन करके संयम और वैराग्य को उत्तरोत्तर विशुद्ध करना, मोक्षमार्ग की उपासना करना, वैसे ही स्व पर कल्याण की प्रवृत्ति का विकास करना यही मेरा अनिवार्य धर्म है।

गुरुणीमैया पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.सा. की असीम कृपा से ज्ञान वृद्धि के लिए मुझे

सभी सुविधाएँ प्राप्त हुई। गुरुणीमैया के आशीर्वाद से एवं सहकार्य से आदिनाथ स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ एवं महावीर प्रतिष्ठान श्रावकसंघ के सहकार्य से अभ्यास में मेरा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

विषय निश्चित होने के बाद सर्व प्रथम जैन आगम साहित्य में कर्म विषयक जो विवेचन आया है उसका संशोधन शुरु किया। उसमें अंग, उपांग, मूल, छेद, प्रकीर्णक आदि आगम ग्रंथ और उसके आधार पर प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में रचे हुए साहित्य का अध्ययन किया, उसमें से कुछ ग्रंथों के नाम निम्नलिखित हैं -

जैनों के युवाचार्य मधुकरमुनि संपादित आचारांग आदि ३२ आगम, आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र, श्री बह्मदेवकृत बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, आचार्य शिवार्यकृत भगवतीआराधना, उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा. कृत कर्मविज्ञान भाग १ ते ७ मरुधर केसरी पू. मिश्रीमलजी म.सा. कृत कर्मग्रंथ भाग- १ ते ६, क्षु. जिनेंद्रवर्णीकृत जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भाग- १ ते ४, मलयगिरिकृत कर्मप्रकृति, माधवाचार्यकृत सर्वदर्शन संग्रह, पुप्फभिक्खु का सुत्तागमे, पूज्यपादाचार्य की सर्वार्थसिद्धि, भट्टाकलंकादेव का तत्त्वार्थ राजवार्तिक, युवाचार्य श्री मधुकरमुनि का कर्ममीमांसा, अमृतचंद्रसूरिकृत तत्त्वार्थसार, महासतीजी उज्ज्वलकुमारीजी का जीवन धर्म, पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.सा. का नवतत्त्व (मराठी), दलसुखभाई मालवणीया का गणधरवाद, श्री. नेमिचंद्रचार्य सिद्धांतचक्रवर्तीकृत 'गोम्मटसार' श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य विरचित प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय एवं समयसार।

इसके अतिरिक्त अनेक आचार्य, मुनि, विद्वानों की रचनाओं का अनुसंधानात्मक दृष्टि से अध्ययन किया।

कर्म के संबंध में जो जो सामग्री मुझे उपलब्ध हुई उसका यथास्थान संयोजित करने का मैंने प्रयत्न किया है। विद्या और साधना किसी भी धर्म या संप्रदाय की मर्यादा में बंधी हुई नही होती है। वह तो सर्वव्यापी सर्वग्राही और सर्व उपयोगी उपक्रम है। उसको विविध परंपरा से संलग्न ज्ञानीजन और साधकगण समृद्ध करते हैं।

जैन दर्शन अनेकान्तवाद पर आधारित समन्वयात्मक दर्शन है। इस दृष्टि से किसी भी प्रकार से सांप्रदायिकता का संकीर्ण भेद भाव न रखते हुए कर्मवाद और कर्मसिद्धांत पर जो आलेखन कार्य शुरु किया वह प्रस्तुत शोध प्रबंध के रूप में उपस्थित है। वह विषय व्यवस्थित प्रस्तुत करने की दृष्टि से इस शोध-प्रबंध में ७ प्रकरणों में विभक्त किया गया है। वे सात प्रकरण सात भयों को दूर करके और अष्ट कर्म को नष्ट करके साधक को उपयोगी होवें यही मंगल कामना है।

प्रकरण : १

कर्मसिद्धांत के मूल ग्रंथ आगम वाङ्मय

इस प्रकरण में मानव जीवन और धर्म, भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति, श्रमण संस्कृति, कालचक्र, तत्त्वदर्शन, आचार आदि का विवेचन करके जैन परंपरा के वर्तमान काल के अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रस्थापित द्वादशांग और तत् संबंधी अंग, उपांग, मूल, छेद आदि बत्तीस आगमों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। प्रकीर्णक, षट्खण्डागम, धवला, कषायपाहुड, आचार्य कुंदकुंद के प्रमुख ग्रंथ पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि ग्रंथों के शोध कार्य की पृष्ठ भूमिका में प्रयुक्त किया है।

सर्वप्रथम मानव जीवन का वर्णन किया है। कारण मनुष्य यह सृष्टि की सर्वोत्तम रचना है। इस सर्वोत्कृष्टता का मूल आधार है। उसकी विचारशीलता और विवेकशीलता जो प्राणी का वैशिष्टय है। चैतन्य प्राणी के सहस्त्राधिक वर्ग में मानवजाति सर्व श्रेष्ठ है। हिताहित का विवेक मनुष्य में है। उसके साथ अन्य कोई भी प्राणी स्पर्धा नहीं कर सकता।

प्रेम, करुणा, दया, ममत्व, साहचार्य, संवेदना, क्षमा आदि असंख्य भाव मनुष्य के हृदय में निवास करते हैं। ऐसे भाव अन्य प्राणियों में दिखाई नहीं देते। चिंतन, मनन, विवेक निर्णय आदि की क्षमता का वरदान तो सिर्फ मानव को ही मिला है। यही विचारशीलता मनुष्य के श्रेष्ठत्व की आधारशिला है। मनुष्य मन का ईश्वर है, मन का स्वामी है। उसके उत्थान पतन का कारण उसके शुभाशुभ विचार हैं। अशुभ विचारों से उसका पतन होता है और शुभ विचारों से उसका उत्थान होता है। यही मनुष्य के मन का व्यक्त रूप है। विचार मनुष्य का निर्माण करनेवाला है। यही मानव जीवन के महल की मजबूत आधारशिला है।

आगम ग्रंथ जैन साहित्य में जिनका असाधारण महत्त्व है। आगम ग्रंथ के अभ्यास से अष्टकर्म नष्ट होते हैं। आगम ग्रंथों का चिंतन, मनन करना यह सच्चा स्वाध्याय है। स्वं आत्मा, अध्याय-अभ्यास, निरीक्षण, परीक्षण करना, स्वयं की आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना स्वाध्याय है।

वस्तु का स्वभाव धर्म है। **'वत्थु सहावो धम्मो'**। दुर्गति में पड़ने वाले जीव को बचानेवाला धर्म है। मन पर विजय मिलाना धर्म है। पाँच इंद्रियों को वश करना धर्म है। व्रत नियम का पालन करना धर्म है। कषाय पर विजय मिलाना धर्म है। मोह ममत्व नष्ट करने से ही जीवन का अंतर बाह्य विकास होता है। मोह न छोडते हुए सिर्फ धार्मिक क्रिया की, तो आत्मा का विकास नहीं होता, और संसार परिभ्रमण कम नहीं होता, इसलिए धर्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबंध में आत्मशुद्धि, आत्मविकास, आत्मावलोकन

करने के लिए **''जैन धर्म में कर्मसिद्धांत''** इस विषय पर समीक्षात्मक समालोचन का अभ्यास करके मेरे क्षयोपशम के अनुसार आलेखन किया है।

प्रकरण : २

आत्मा का अस्तित्व : कर्म अस्तित्व का परिचायक

इस प्रकरण में ज्ञानगुण के द्वारा आत्मा का अस्तित्व शरीरादि के भोक्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि, उपादान कारण के रूप में आत्मा की सिद्धि, आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि, जहाँ कर्म वहाँ संसार, कर्म अस्तित्व के मूलाधार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म प्रत्यक्ष ज्ञानियों और भारतीय मनीषियों द्वारा पूर्वजन्म की सिद्धि, ऋग्वेद, उपनिषद, भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म संकेत आदि विषयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

अध्यात्म की व्याख्या कर्म सिद्धांत के बिना नहीं की जा सकती। इसकी अतल गहराईओं में डुबकी लगाना मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है। जो अध्यात्म के अंतस् की ऊष्मा का स्पर्श चाहता है।

जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है, और आत्मा की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनंतानंत कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुंबक की तरह आकर्षित होकर आत्म प्रदेशों से संलिष्ट हो जाते हैं, वह 'कर्म' हैं।

कर्म का अस्तित्व जानने के बाद ही सच्चे अर्थ में आत्मा की उन्नति हो सकती है। प्राचीन काल से कर्म के विषय में अनेक खोजे हुई हैं। वेद, उपनिषदों में तथा प्राचीन तत्त्वचिंतक गौतमबुद्ध, भ. महावीर जैसी महान विभूतियों ने इस संबंध में अनेक प्रयत्न किये हैं। उनमें से जैनधर्म में कर्म सिद्धांत का परिशीलन प्रस्तुत प्रबंध का विषय होने से उस संबंध में आवश्यक संशोधन करने का मेरा एक प्रयत्न है।

जिस प्रकार पानी और हवा अनादि होते हुए भी उसके बिना किसी भी काल में मनुष्य का काम नहीं चलता, उसी प्रकार कर्म सिद्धांत की कल्पना अति प्राचीन होने पर भी सभी कालों में इसे समझना नितान्त आवश्यक है।

प्रकरण : ३

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

इस प्रकरण का मुख्य विषय है- कर्म प्रवाह तोडे बिना परमात्मा नहीं बनते, कर्मवाद का आविर्भाव का कारण धर्म-कर्म संस्कृति आदि का श्रीगणेश, कर्मवाद का आविर्भाव क्यों और कब? पुरुषार्थवाद की मीमांसा, कर्म शब्द के विभिन्न अर्थ-रूप, कर्म का सार्वभौम

साम्राज्य, जीव, पुद्गल, कर्मचक्र आदि अनेक विषयों का विश्लेषण प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है।

मनुष्य को जन्म, जरा, मरण, आधि-ब्याधि-उपाधि आदि दुःखों से मुक्त होने के लिए कर्म सिद्धांत के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। इस ज्ञान के बिना मानव दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। ऐसा जैन दर्शन का दृढ विश्वास है। प्राणीमात्र मुक्ति चाहता है। प्राणीमात्र के सारे प्रयत्न दुःख मुक्ति और सुख प्राप्ति के लिए हैं इसलिए कर्मसिद्धांत का ज्ञान प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है।

कर्म सिद्धांत का वर्णन प्राचीन आगम ग्रंथों में भी मिलता है। कर्म का विवेचन करने से पहले कर्म किसे कहते हैं यह समझना आवश्यक है। जैन दर्शन, वेद, उपनिषद और भारतीय साहित्य में कर्म के संबंध में गहराई से अनुशीलन परशीलन किया गया है और चिंतन मनन की शुरुवात कर्म शब्द से होती है। ''किं कर्म'' याने कर्म क्या है यही तत्त्व दर्शन का मूल है।

संसार का मूल कारण कर्म है। सभी दर्शनों में अपनी-अपनी दृष्टि से कर्म का निरूपण किया है। सबका कथन यही है कि जीवन में कर्म का स्थान महत्त्वपूर्ण है। आत्मा और कर्म का परस्पर संबंध है। आत्मा को कर्म से अलग करना याने मुक्ति मिलाना है। कर्म प्रवाह को तोडे बिना कोई भी जीवात्मा परमात्मा नहीं बन सकता जैसे आत्मा अनादि काल से है वैसे कर्म भी अनादि काल से है। कर्म की आदि है वैसे उसका अंत भी है।

जैनधर्म और कर्मवाद का सूर्य और उसकी किरण के समान घनिष्ठ संबंध है तो भी कर्म तोडने के बाद याने अष्ट कर्म नष्ट करने के बाद आत्मा सिद्धबुद्ध मुक्त हो सकती हैं।

प्रकरण : ४

कर्मबंध की व्यवस्था

इस प्रकरण में आठ कर्मों का क्रम, कर्म के मुख्य दो विभाग, ज्ञानावरणीय कर्म का निरूपण, दर्शनावरणीय कर्म, उसके भेद प्रभेद, वेदनीय कर्म का विस्तार, मोहनीय कर्म के भेद, आयुष्य कर्म के प्रकार, नामकर्म का निरूपण, भेद-प्रभेद, गोत्र कर्म और अन्तराय कर्म आदि आठों कर्मों की मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ आदि अनेक विषयों का निरूपण किया है। कर्म सिद्धांत के समग्र स्वरूप पर क्रमशः चिंतन मनन और चर्चा इस प्रकरण में की गई है।

एक बगीचे में आम, अंगूर, अनार, चीकू, नींबू, संतरे आदि विविध फलों के पेड़ हैं। उस बगीचे में कई माली रखे हुए हैं। उन्होंने समय समय पर जैसे बीज बोये होंगे, उनके फल भी वैसे ही आते रहते हैं। उन सभी वृक्षों के फल अपने अपने समय पर जब पक जाते हैं, तब

अपने आप फल या तो नीचे गिर जाते हैं या बगीचे के कर्मचारी उसे तोड़ लेते हैं। परंतु यह निश्चित है कि जैसे-जैसे बीज बोये जाते हैं, वैसे-वैसे ही उनके फल कोई जल्दी और कोई देर से मिलते हैं। यदि कोई नीम का बीज बोकर आम के मधुर फल पाना चाहे तो नहीं पा सकता।

इसी प्रकार संसार रूपी बगीचे में विविध प्रकार के जीव रूपी माली अपनी अपनी गति-मति अनुसार कर्म बीज बोते रहते हैं। वे पूर्वबद्ध कर्म जब परिपक्व होकर फल देने के अभिमुख होते हैं। तब उन्हें कर्म विज्ञान की भाषा में विपाक कहते हैं।

आत्मा के द्वारा किया हुआ अच्छा कर्म अच्छा फल देता है और बुरा कर्म बुरा फल देता है। कर्म का कर्तृव्य आत्मा पर आने से जगत में सामाजिक एवं नैतिक न्याय भी अखंडित चलता है।

इस प्रकार जैन दर्शन ने संसार की विचित्रता का, संसार के सुखदुःखका, उन्नति अवनति के कारण कर्मों को मानकर उस कर्म की बागडोर आत्मा के हाथ में रखी है। आत्मा अपने संकल्प, अपनी भावना और धारणा के अनुसार स्वतंत्र है। अपनी स्थिति, परिस्थिति में परिवर्तन ला सकता है। प्रगति कर सकता है।

जीवन में परिवर्तन और प्रगति का सिद्धांत ही साधना और तपस्या का मूल्य स्थापित करता है इसलिए जैन धर्म का कर्म सिद्धांत लचीला है, वैज्ञानिक है और आत्मा के आधीन है। लोग कहते हैं जीव कर्म के आधीन है परंतु वह एकांगी दृष्टि है। वास्तव में कर्म जीव के अधीन हैं। कर्म क्रिया है, जो जीव करता है। जीव तपस्या, ध्यान, स्वाध्याय, भावना, अनुप्रेक्षा द्वारा कर्म का निरोध करता है। कर्म का क्षय करता है। अशुभ कर्म से शुभ और शुद्ध की ओर गतिशील बनता है।

प्रकरण : ५

कर्मों की प्रक्रिया

इस प्रकरण में कर्म पुद्गल जीव को परतंत्र बनाते हैं, कर्मबंध की उत्पत्ति, जीव कब स्वतंत्र और परतंत्र, जीव के सुख-दुःख कर्माधीन हैं, आत्मा का स्वभाव स्वतंत्र, कर्म शक्तिशाली अनुशास्ता, कर्म को मूर्त रूप न मानने का क्या कारण जैन दार्शनिक ग्रंथों में कर्म की मूर्तत्व सिद्धि, भगवत् गीता में कर्म-विकर्म और अकर्म का स्वरूप, वैदिक ग्रंथों में शुभत्व का आधार आत्मवत् दृष्टि आदि अनेक विषयों का वर्णन किया है।

इस प्रकरण में कर्म का सार्वभौम विचार किया है। कर्म कितने शक्तिशाली होते हैं

और जीव को कैसे परतंत्र बनाते हैं इसका वर्णन विशेष प्रकार से किया गया है।

घुड़दौड़ के मैदान में जब रेस के घोड़े दौड़ते हैं, तब उनमें बड़ी रस्साकसी चलती है, जो घोड़ा सबसे अधिक तेजीला और फुर्तीला होता है, वह आगे बढ जाता है और बाजी जीत जाता है। कुछ उससे कम फुर्तीले घोड़े होते हैं, वे दूसरे नंबर पर आ जाते हैं। जो घोड़े फुर्तीले होते हैं वे दूसरे घोड़ों को आगे आने नहीं देते किन्तु जो घोड़े कमजोर और सुस्त होते हैं, वे दिखने में भले ही हृष्ट पुष्ट दिखते हैं, रेस कोर्स में वे आगे नहीं बढ पाते उनकी गति प्रगति तीव्र नहीं होती, इसलिए वे दूसरे घोड़े को आगे बढ़ने देते है, स्वयं उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते।

इसी प्रकार जीवों के जीवन में कर्मबंधों की भी घुड़दौड़ चलती रहती है। कर्मों की घुड़दौड़ में कई कर्म ऐसे होते हैं, जिनकी प्रकृतियाँ तीव्र और फुर्तीली गतिवाली होती हैं, वे बंध, उदय और बंधोदय में दूसरे कर्मों को रोक देती हैं, और स्वयं, अपना बंध, उदय और बंधोदय करती हैं। जबकि कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनकी प्रकृतियाँ ऐसी होती हैं।

समस्त विश्व कर्म के अटल नियम के अनुसार चल रहा है। कर्म-कानून की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें किसी के लिए रु-रियायत या मुलाहिजा नहीं होता। विश्व के समस्त कानूनों में कोई न कोई अपवाद होते हैं; धार्मिक नियमों और आचार-संहिताओं में भी उत्सर्ग और अपवाद होते हैं मगर कर्म के कानून में प्राय: अपवाद नहीं होता।

कर्म एक ऐसी ऊर्जा अथवा शक्ति है जो समस्त प्राणियों की वृत्ति-प्रवृत्ति को संचालित करती है। विशेष रूप से कहना होगा मनुष्य की यह विवशता अथवा अनिवार्यता है कि उसे सक्रिय रहना ही पड़ता है। इस क्रियाशीलता की प्रेरक शक्ति है **'कर्म'**। इसी अपेक्षा से कर्म की सत्ता विश्वव्यापी भी है और बलवती भी है। यह स्पष्ट है, कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। क्रिया की प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया की पुन: क्रिया, यह प्रक्रिया जन्म से मृत्यु तक सतत रूप से चलती है।

प्रकरण : ६

कर्मों से सर्वथा मुक्ति : मोक्ष

इस प्रकरण में कर्म का प्रवेश जीव में कैसे होता है, आस्रव की व्याख्या, आस्रव के भेद-प्रभेद, कर्म का संवरण, संवर, संवर की व्याख्या, आस्रव-संवर में अंतर, निर्जरा का अर्थ, तप का महत्त्व, बंध का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, जैन दर्शन में मोक्ष आदि विषयों का विशेष विश्लेषण किया गया है।

जैन दर्शन मोक्षवादी दर्शन है। वह आत्मा की परम विशुद्ध स्वभाव दशा में विश्वास

करता है। आत्माका स्वभाव है सुख, आनंद और परम निर्मलता। आत्मा में मलिनता स्वाभाविक नहीं, कर्मों के कारण है। कर्म मुक्ति की प्रक्रिया को समझना-जैन धर्म का साधना मार्ग है। साधना का पथ है। संयम, संवर और तप अर्थात् निर्जरा, इन्हीं दो उपायों से कर्ममुक्ति की साधना संभव है।

आस्त्रव कर्म आने का स्थान, संवर कर्म को रोकनी क्रिया, निर्जरा-पूर्वकृत कर्मों का क्षय करना, बंध से आत्मा और कर्म का संबंध किस प्रकार संश्लिष्ट होता है तथा इन संपूर्ण कर्मों को क्षय कैसे करना तथा मोक्ष प्राप्ति कैसे प्राप्त करना आदि का वर्णन इस प्रकरण में विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया है।

कर्म सिद्धांत की महत्ता का मूल्यांकन इसी से किया जा सकता है कि उसने केवल मानव जाति के ही कर्मों के आस्त्रव और संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष का विचार नहीं किया अपितु नरक, तिर्यंच और देव आदि पंचेन्द्रिय तथा तीन विकलेंद्रियों तथा एकेन्द्रिय आत्माओं का भी कर्म संबंधी उपयुक्त विचार व्यक्त किया है । कतिपय धर्मों और दर्शनों ने जहाँ केवल मनुष्यगति तथा मनुष्य जाति का उसमें भी उसके कामना मूलक या सामाजिक कर्मों का ही तथा स्वर्ग और नरक का ही विचार किया है। जबकि जैन कर्म सिद्धांत वेत्ताओं ने मनुष्यादि चार गतियों का मनुष्यों के भी बंधक-अबंधक कर्मों का, शुभ-अशुभ कर्मों और उनके परिणामों का तथा कर्मों से सर्वथा मुक्ति से मोक्ष गति का विचार किया है। जैन दर्शन ने संसार की समस्त आत्माओं को निश्चय दृष्टि से परमात्मा सदृश बताया है। इतना ही नहीं बहिरात्मा से परमात्मा बनने के उपाय भी बताये हैं।

प्रकरण : ७

उपसंहार और निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध प्रबंध में जैनधर्म में कर्मसिद्धांत के विषय में किया हुआ समीक्षात्मक विवेचन इस प्रकरण में किया है। उपसंहार में उप याने समीप, नजदीक और संहार याने नाश करना, विध्वंस करना। अर्थात् मुमुक्षु जीवों के दोषों का अत्यंत निकट से संपूर्णतः नाश करना छेदन करना याने उपसंहार हैं।

जैन धर्म में कर्म सिद्धांत ग्रंथरूपी प्रासाद का निर्माण होने के बाद इस दिव्य प्रासाद के शिखर पर उपसंहार रूपी कलश इस प्रकरण में चढ़ाया गया है।

कर्म सिद्धांत यह जीवन का विज्ञान है। कर्म सिद्धांत हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया का कारण, उसका फल (प्रतिक्रिया), उसके निवारण का कर्म सिद्धांत यह युक्ति संगत समाधान देता है। मन की उलझी हुई अबूझ गुत्थियों और सृष्टि की विचित्र अलक्षित घटनाओं के जब

हम 'प्रभु की लीला' या होनहार एवं नियति मानकर चुप हो जाते हैं। तब कर्मसिद्धांत उनकी तह में जाकर बड़े तर्कपूर्ण व्यावहारिक ढंग से सुलझाते हैं।

इसके सात प्रकरण जीव को अष्ट कर्मों को नष्ट करने का संदेश दे रहा है। आठ कर्मों का नाश करने का चिंतन, मनन हरेक जिज्ञासुओं के लिए कल्याणकारी शुभकारी होवे ।

यह ग्रन्थ आध्यात्म के रसिकों के लिए आनंद रस से परिपूर्ण करनेवाला, आंतरिक तृप्ति देनेवाला और मोक्ष मंजिल तक पहुँचानेवाला होवे यही मंगल मनीषा है।

प्रबंध लेखन का उद्देश्य मुमुक्षु साधकों को और जैन दर्शनानुसार उपासना करने वाले साधकों के एक बौद्धिक और आध्यात्मिक सीमा तक साधन उपलब्ध कर देना यह है। परीक्षक इससे सहमत होंगे ऐसा विश्वास है।

कर्मक्षय के पुरुषार्थ द्वारा आत्मा जीव से शिव, नर से नारायण, भक्त से भगवान और आत्मा से परमात्मा बनाता है।

कृतज्ञता-अभिव्यक्ति

प्रस्तुत शोध ग्रंथ के लेखन कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में पूजनीय, वंदनीय, स्मरणीय, गुरुवर्यों का आशीर्वाद, कृपादृष्टि और सत् प्रेरणा है। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना यह मेरा प्रथम कर्तव्य है।

आध्यात्म जगत की दिव्य ज्योति अमृतवाणी द्वारा जनता के लिए धर्मसुधा की वृष्टि करने वाले, पवित्र हृदया, उज्जवल संघ प्रभाविका विश्वशांति रत्ना प.पू. गुरुणीमैया डॉ. धर्मशीलाजी म.सा. (एम.ए., पीएच.डी. साहित्यरत्न) की दिव्य प्रेरणा से मेरा शैक्षणिक, साहित्यिक शोधकार्य में मुझे विद्या, संयम और साधनामय जीवन में नित्य प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला। उनका मैं तहे दिल से आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरे इस शोधकार्य में शुभ कामना रखनेवाले मुझे हमेशा सहयोग देने वाले नवकार साधिका पू. डॉ. चारित्रशीलाजी म.सा., पू. डॉ. पुण्यशीलाजी. म.सा., पू. लब्धिशीलाजी म.सा., पू. कीर्तिशीलाजी म.सा., पू. मैत्रीशीलाजी म.सा. आदि साध्वी बहनों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

करुणा, अनुकंपा और मानवता से जिनका जीवन भरा हुआ है। अपनी संतानों में संस्कार देने का काम उन्होंने बचपन से ही किया था। 'सादा जीवन उच्च विचार' ऐसा जिनका जीवन है ऐसे श्री सेवाभावी दृढधर्मी समाजसेवी सुश्रावकजी करुणामूर्ति मेरे संसारी मातुश्री पिताश्री सौ. जयश्रीबेन हसमुखभाई सुतरीया, जिन्होंने मुझे संयम मार्ग की ओर प्रेरित कर संयम दिलाया और उच्च शिक्षण में सहयोग दिया। वैसे ही मेरे संसारी भाई-भाभी

सौ. डिंपल राजेश भाई सुतरीया, संसारी बहन सौ. मीना हेमलकुमारजी डगली, सौ. हंसाबेन विजयकुमारजी उदाणी तथा सौ. चारुबेन चेतनभाई दोशी इनका भी सहयोग रहा इसलिए मैं उनका भी आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोधकार्य में विशेष सहयोग देनेवाले सेवाव्रती कॉन्फरन्स के युवा अध्यक्ष श्री. विजयकांतजी कोठारी, सेवाभावी सुश्रावकजी श्री नेमिचंद्रजी कटारिया, सेवानिष्ठ सुश्रावकजी माणकचंदजी कटारिया और अतिउत्साही जितेन्द्रकुमारजी चोरडिया उनका भी मैं आभार मानती हूँ। हमेशा सभी प्रकार का सहयोग देने वाली सुश्राविका सौ. चंदनवेन डॉ. धीरेन्द्र भाई गोसलिया का आभार व्यक्त करती हूँ।

पूना निवासी डॉ. सौ. शारदाबाई, डॉ. सतीशजी जैन जिन्होंने भी सहयोग दिया है इसलिए उनको भी मैं धन्यवाद देती हूँ। ज्ञानमूर्ति सौ सज्जनबाई कान्तिलालजी बोथरा, सौ. चंचलदेवी शशिकांत कोठारी तथा सौ. राजश्रीबहन पारख का भी आभार मानती हूँ।

सेवाभावी महेशभाई भोगीभाई दोशी ने इस प्रबंध कार्य में पूर्ण सहायता की है इसलिए मैं आभारी हूँ, पूना में आदिनाथ श्रीसंघ तथा महावीर प्रतिष्ठान श्रीसंघ का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने सहृदयता और भक्तिभाव से अध्ययन के लिए अपेक्षित सामग्री मिलाकर और अध्ययन के लिए सारी सुविधाएँ देकर मुझे सहयोग दिया। कु. लीना सुगनचंदजी बंब का भी मैं आभार मानती हूँ।

* * *

प्रथम प्रकरण

कर्मसिद्धांत के मूल ग्रंथ : आगम वाङ्मय

अनुक्रमणिका - प्रथम प्रकरण

कर्म सिद्धांत के मूल ग्रंथ आगम वाङ्मय

मानव जीवन और धर्म	१८
जीवन की परिभाषा	१८
अध्यात्म एवं धर्म की भूमिका	१८
भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी	१९
वैदिक संस्कृति	२०
श्रमण संस्कृति	२१
बौद्ध धर्म	२२
जैन धर्म	२२
इतिहास एवं परंपरा	२३
जैन धर्म की सार्वजनीनता	२४
जैन धर्म का अंतिम लक्ष्य : शाश्वत शांति	२५
कालचक्र	२५
समीक्षा	२६
अवसर्पिणी काल के छह आरे	२६
उत्सर्पिणी काल के छह आरे	२७
समीक्षा	२८
तीर्थंकर एवं धर्मतीर्थ	२८
तीर्थंकरोपदेश आगम	२९
आगमों की भाषा	३०
भगवान महावीर द्वारा धर्मदेशना	३१
आगमों का महत्त्व	३२
आगमों का संकलन	३२
प्रथम वाचना	३२
द्वितीय वाचना	३३
तृतीय वाचना	३३

आगमों का विस्तार	३४
आगम : अनुयोग	३४
चरणकरणानुयोग	३४
धर्मकथानुयोग	३४
गणितानुयोग	३५
द्रव्यानुयोग	३५
अंग आगम परिचय	३५
आचारांगसूत्र	३६
सूत्रकृतांगसूत्र	३७
स्थानांगसूत्र	३८
समवायांगसूत्र	३९
व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र	३९
ज्ञाताधर्मकथासूत्र	४०
उपासकदशांगसूत्र	४०
अन्तकृत्दशांगसूत्र	४१
अनुत्तरौपपातिकसूत्र	४१
प्रश्नव्याकरण	४१
विपाकसूत्र	४२
दृष्टिवाद	४२
उपांग परिचय	४२
औपपातिकसूत्र	४३
राजप्रश्नीयसूत्र	४३
जीवाजीवाभिगमसूत्र	४४
प्रज्ञापनासूत्र	४४
जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	४४
सूर्यप्रज्ञप्ति-चंद्रप्रज्ञप्ति	४५
निरयावलिका-कल्पिकासूत्र	४५

कल्पावतंसिकासूत्र	४६
पुष्पिकासूत्र	४६
पुष्पचूलिकासूत्र	४६
वृष्णिदशासूत्र	४६
चार मूलसूत्र परिचय	४६
दशवैकालिकसूत्र	४७
उत्तराध्ययनसूत्र	४८
नंदीसूत्र	४८
अनुयोगद्वारसूत्र	४९
चार छेदसूत्र	४९
व्यवहारसूत्र	५०
बृहत् कल्पसूत्र	५०
आगम गृह	५१
निशीथसूत्र	५१
दशाश्रुतस्कंधसूत्र	५२
आवश्यकसूत्र	५२
प्रकीर्णक आगम साहित्य	५३
चउसरण : चतुःशरण प्रकीर्णक	५४
आउरपच्चक्खाण : आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक	५५
महापच्चक्खाण : महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक	५५
भत्तपरिण्णा : भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक	५५
तंदुलवेयालिय : तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक	५६
संथारग : संस्तारक प्रकीर्णक	५६
गच्छायार : गच्छाचार प्रकीर्णक	५७
गणिविज्जा : गणिविद्या प्रकीर्णक	५७
देवाधिदेव देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक	५७
वीरत्थओ : वीरस्तुति प्रकीर्णक	५८
मरणसमाही (मरणसमाधी)	५८

महानिशीथ छेदसूत्र	५९
जीयकप्पसुत्त जीतकल्पसूत्र	५९
पिंडनिज्जुत्ति, ओहनिज्जुत्ति	५९
ओघनिर्युक्ति	६०
पिण्डनिर्युक्ति ओघनिर्युक्ति	६०
आगमों पर व्याख्या साहित्य	६०
निर्युक्ति	६१
भाष्य	६१
चूर्णि	६२
टब्बा	६२
समीक्षा	६३
टीका	६३
श्वेतांबर दिगंबर परिचय	६४
दिगंबरों के सर्वमान्य शास्त्र	६४
षट्खण्डागम	६५
षट्खण्डागम पर व्याख्या साहित्य	६६
धवला की रचना	६६
कषायपाहुड (कषायप्राभृत)	६६
तिलोयपन्नत्ति (तिलोकप्रज्ञप्ति)	६७
आचार्य कुंदकुंद के प्रमुख ग्रंथ	६७
पंचास्तिकाय	६७
प्रवचनसार	६८
समयसार	६८
नियमसार	६९
रयणसार	६९
दिगंबर परंपरा में संस्कृत रचनायें	६९
निष्कर्ष	६९
संदर्भ सूची	७१

प्रथम प्रकरण

कर्म सिद्धांत के मूलग्रंथ : आगम वाङ्मय

मानव जीवन और धर्म

संसार के सभी प्राणियों में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं अध्यात्मिक दृष्टि से मानव का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। मानव ही एक ऐसा मननशील प्राणी है, जो अपने हित अहित का यथावत् रूप में चिंतन करने में और उसके अनुसार क्रियाशील होने में सक्षम है। इसलिए मानव जीवन को बड़ा दुर्लभ और मूल्यवान माना गया है। इसी जीवन में मनुष्य यदि सन्मार्ग का अवलंबन कर कार्यशील रहे तो वह उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच सकता है।

जीवन की परिभाषा -

शरीर और आत्मा का सहवर्तित्व जीवन है, जो पूर्वकृत कर्मों पर आधारित है। कर्मों का आत्मा के साथ अनादि काल से संबंध चला आ रहा है।

जब तक सत्य का यथार्थ बोध नहीं होता तब तक मनुष्य की दृष्टि शरीर पर रहती है, आत्मा पर नहीं। शारीरिक सुख, सुविधा, भोग, उपभोग आदि पदार्थों में उसका मन ग्रस्त रहता है। *भौतिक सुख सुविधायें प्राप्त करने का साधन धन है। धन एक ऐसा पदार्थ है, वह* ज्यों ज्यों प्राप्त होता है, त्यों त्यो प्राप्त करनेवाले की इच्छायें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं।

''इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।''

इच्छायें आकाश के समान अनंत होती हैं।[१] भौतिक सुखों में विभ्रांत मानव उन्हें पाने के लिए चिरकाल से दौड़ रहा है, पर वास्तविकता यह है कि- जिन्हें वह सुख मानता है, वे नश्वर हैं। इतना ही नहीं वे दु:खों के रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस शरीर के प्रति उसे अत्यधिक ममत्व है वह भी जीर्ण-शीर्ण, व्याधि ग्रस्त हो जाता है और एक दिन वह चला जाता है। यही बात परिवार पर और धन संपत्ति पर भी लागू होती है। ये सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, परिवर्तनशील हैं। जिन भोगों को भोगने में मानव सुख मानता है, वे भोग, रोगों के कारण बन जाते हैं। **''खणमित्त-सुक्खा बहुकाल-दुक्खा''** वे क्षणिक सुख चिरकाल तक दुख देने वाले होते हैं।[२]

अध्यात्म एवं धर्म की भूमिका

भौतिक सुखों में विभ्रांत मानव उन सुखों को प्राप्त करने के लिए चिरकाल से अविश्रांत रूप से दौड रहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि जिन्हें वह सुख मानता है वे नश्वर हैं। इतना ही नहीं, वे दु:ख रूप में परिणत होते हैं। जिस शरीर के प्रति मानव को सबसे अधिक ममता

है वह भी जीर्ण-शीर्ण और व्याधिग्रस्त हो जाता है और एक दिन सदा के लिए चला जाता है। यह सत्य, सच्चाई, परिवार, धन, वैभव, संपत्ति आदि सभी पर घटित होती है। यह सभी क्षणभंगुर हैं।

शरीर, परिवार, भौतिक सुख आदि की नश्वरता के भाव ने मानव को आत्मा की ओर प्रेरित किया। उसके फल स्वरूप वह आत्मा-स्वरूप की गवेषणा से संलग्न रहा और उसने अनुभव किया कि आत्मा ही सत्य है, परमतत्त्व है। उसने आप्त पुरुषों के वचनों से यह भी ज्ञात किया कि आत्मा में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतबल है। वह कर्मों के आवरणों से आच्छादित हैं। अपने पराक्रम, उद्यम और पुरुषार्थ द्वारा जीव कर्मावरण हटा सकता है, नष्ट कर सकता है तथा अपने परम दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। आध्यात्मिक शक्ति जागरण का यह प्रसंग है- जिसने मानव को भौतिक एषणाओं, अभिप्साओं और आकर्षणों से दूर किया।

भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी

संस्कृति एक ऐसा विराट तत्त्व है, जिसमें ज्ञान, भाव और कर्म ये तीन पक्ष हैं, जिसे दूसरे शब्दों में बुद्धि, हृदय और व्यवहार कहा जाता है। इन तीनों तत्त्वों का पूर्ण सामंजस्य होता है वह संस्कृति है। संस्कृति में १) तत्त्वज्ञान, २) नीति, ३) विज्ञान और ४) कला इनका समावेश होता है। किसी लेखक ने लिखा है- बाहर की ओर देखना विज्ञान है, अंदर की ओर देखना दर्शन और ऊपर की ओर धर्म है। कला मानव जीवन का विकास है अर्थात् संस्कृति में धर्म, दर्शन, विज्ञान और कला विद्यमान हैं। संस्कृति को अंग्रेजी में (कल्चर) कहा जाता है।

भारत वर्ष की विशेषता है कि जब संसार के अन्यान्य देशों के लोग केवल बहिर्जीवन या शारीरिक सुख प्राप्त करने तक ही सीमित थे, जबकि भारत के ज्ञानी पुरुषों ने आत्मा के सूक्ष्म चिंतन में अपने आपको लगाया। शाश्वत एवं पवित्र विचार मनुष्य के कर्ममयजीवन को सार्थक बनाते हैं। उत्तम विचार और आचार का यह स्त्रोत उच्च कोटी के संस्कारों को जन्म देता है। वे संस्कार स्थिर, पवित्र और श्रेयस्कर होते हैं। संस्कारों की उस धारा को संस्कृति कहा जाता है। निःसंदेह भारतवर्ष सांस्कृतिक विकास और उन्नति की दृष्टि से बहुत ही सौभाग्यशाली रहा है। भारतीय संस्कृति राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधीजी की है। राम की मर्यादा, कृष्ण का कर्मयोग, महावीर की सर्वभूत हितकारी अहिंसा और अनेकान्त, बुद्ध की करूणा, गांधी की धर्मानुप्रणीत राजनीति और सत्य का प्रयोग ही भारतीय संस्कृति है - 'दयतां, दीयतां, दम्यताम्'- याने दया, दान और दमन ही भारतीय संस्कृति का मूल हैं।[३]

भारत में जन्म लेने वालों का आचरण और व्यवहार इतना निर्मल और पवित्र है कि उनके पावन चरित्र की छाप प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ी। इसलिए आचार्य मनु ने कहा है-

एतदेश प्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्व मानवा॥[४]

यहाँ वैदिक, जैन और बौद्ध परंपराओं के रूप में संस्कृति की त्रिवेणी संप्रवाहित हुई, वह अत्यंत गौरवपूर्ण है।

इन तीनों सांस्कृतिक धाराओं को वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति के रूप में दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न रूप में हैं।

वैदिक संस्कृति

वैदिक संस्कृति, बाह्मण संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ ब्राह्मण शब्द बहुतही महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण संस्कृति में संन्यासी एकाकी साधना के पक्षधर रहे, उन्होंने वैयक्तिक साधना को अधिक महत्त्व दिया है। वे एकान्त, शांत वनों में, आश्रम में रहते थे। उन आश्रमों में अनेक ऋषिगण भी रहते थे। पर सभी वैयक्तिक साधना ही करते थे और जो ब्रह्म या परमात्मा को जानता है। या ब्रह्म की उपासना करता है, उसे ब्राह्मण कहा जाता है।[५] ब्राह्मण संस्कृति के आधार वेद हैं। वेद शब्द संस्कृत की विद् धातु से बना है, जो ज्ञात के अर्थ में है। वेदों में उन सिद्धांतों का वर्णन है, जो मानव को ज्ञान द्वारा सन्मार्ग दिखाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के रूप में वेद चार हैं। वेदों को श्रुति भी कहा जाता है, क्योंकि इनको गुरु से सुनकर शिष्य अपनी स्मृति में रखते थे।

वैदिक संस्कृति या धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में समाज को विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास रूप में जीवन को चार भागों में बाँटा गया है, जो आश्रम कहे जाते हैं।

विषय की दृष्टि से वेदों के कर्मकांड और ज्ञानकांड दो भाग हैं। कर्मकाण्ड में यज्ञ, याग आदि का वर्णन है। वैदिककाल में यज्ञों का बहुत ही प्रचलन था। 'स्वर्गकामो यज्ञेत्' अर्थात् जो स्वर्ग की कामना करता हो, उसे यज्ञ करना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार अश्वमेघ, राजसूय आदि अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। यज्ञों में पशुओं की बली दी जाती थी। ऐसा माना जाता था कि यज्ञ में हिंस्त्रित पशु स्वर्ग प्राप्त करता है इसलिए 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति'- अर्थात् वैदिक विधि के अनुसार यज्ञ आदि में की गई हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती थी। उसमें हिंसा का दोष नहीं लगता, किसी प्रकार का पाप नहीं होता; परंतु जैन धर्म को यह बात मान्य नहीं है, क्योंकि जैन धर्म अहिंसावादी धर्म है।

ज्ञानकाण्ड में उपनिषद् आते हैं। जिनमें आत्मा, परमात्मा, बह्म, विद्या, अविद्या इत्यादि तत्त्वों का विवेचन है। आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों का भारतीय साहित्य में बहुत महत्त्व है।

वेदों के अतिरिक्त स्मृतियाँ, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, पुराण, इतिहास आदि के रूप में और भी विशाल साहित्य है, जिसमें वैदिक संस्कृति के आदर्शों का विवेचन है।

विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार महर्षि गौर्भका न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पातंजल का योग, जैमिनी का पूर्व मीमांसा और बादरायण का उत्तर मीमांसा अथवा वेदांत ये सब वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं।[६]

श्रमण संस्कृति

श्रमण संस्कृत शब्द है। उसका प्राकृत रूप 'समण' है। इसके मूल में संस्कृत के श्रम, शम तथा सम इन तीनों शब्दों का प्राकृत में एक मात्र 'सम' ही होता है। समण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल से खिन्न नहीं होता, अपितु सदा मान, अपमान में सम रहता है।[७] उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है- सिर मुंडा लेने से कोई समण नहीं होता, किंतु समता का आचरण करने से समण होता है।[८]

सूत्रकृतांग सूत्र में समभाव की अनेक दृष्टियों से व्याख्या करते हुए लिखा है- मुनि को गोत्र-कुल आदि का मद न करके दूसरों के प्रति घृणा न रखते हुए सदा समभाव में रहना चाहिए।[९] जो दूसरों का अपमान करता है वह दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। अतः मुनि मद न कर समता में रहे।[१०] चक्रवर्ती दीक्षा (संयम) लेने पर अपने से पूर्व दीक्षित अनुचर को भी नमस्कार करने में संकोच न करें, किंतु समता का आचरण करें। प्रज्ञा संपन्न मुनि क्रोध आदि कषायों पर विजय पा कर समता धर्म का निरूपण करें।[११] जो समण 'श्रमण' शब्द श्रम, शम तथा सम के साथ संपृक्त तीन प्रकार के अर्थों से जुड जाता है।

श्रम का अर्थ उद्यम तथा व्यवसाय है, जो श्रमण के संयम, सदाचरण तथा तपोमय जीवन का द्योतक है। एक श्रमण अपनी साधना में सतत प्रयत्नशील, पराक्रमशील रहता है। ज्ञान की साथ क्रियाशीलताएँ उनके जीवन की विशेषताएँ हैं। श्रम में क्रियाशीलता सन्निहित है। शम, निर्वेद, वैराग्य एवं त्याग का बोधक है। त्याग श्रमण जीवन का अलंकरण है। सम का अभिप्रायः प्राणिमात्र के प्रति समत्वभाव रखना। अहिंसा एवं करुणा जीवन में तभी फलित होती है, जब व्यक्ति के अंतकरण में 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का भाव हो। विश्वमैत्री का यही मूलमंत्र है। श्रमण के विश्व वात्सल्यमय जीवन का समत्व में संसूचन है। श्रमण

आत्मकल्याण के साथ-साथ जन कल्याण में भी निरत रहता है।

श्रमण शब्द की यह सामान्य रूप से शाब्दिक व्याख्या है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों परंपराएँ श्रमण संस्कृति में समाविष्ट हैं। श्रमण संस्कृति कर्मवाद पर आधारित है। जो पवित्र और श्रेष्ठ कर्म करता है वही उच्च है। जो हिंसा, निर्दयता, लोभ आदि में अशुभ कर्मों से संलग्न रहता है, वह नीच है।

बौद्ध धर्म

महात्मा बुद्ध ने भी ऐसा कहा है कि- 'जो व्रत युक्त है, सत्यभाषी है, इच्छा और लोभ से रहित है, जो छोटे बडे पापों का शमन करता है वह श्रमण है।[१२]

बौद्ध धर्म संसार के प्रमुख धर्मों में है। इस धर्म का भारत के बाहर के देशों में भी प्रचार है। भगवान बुद्ध ने इसका उपदेश दिया, जो भगवान महावीर के समकालीन थे। बौद्ध धर्म में ऐसा माना जाता है कि उनसे पूर्व भी अनेक बुद्ध हुए हैं। इतिहासकार प्रायः भगवान बुद्ध को ही बौद्ध धर्म का प्रवर्तक मानते हैं। बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्य स्वीकार किये हैं। १) दुःख है, २) दुःख का कारण है, ३) दुःख का निरोध किया जा सकता है, ४) दुःख के निरोध का मार्ग है।[१३]

बुद्ध ने मध्यम मार्ग को स्वीकार किया । अत्यंत त्याग और अत्यंत भोग के बीच के मार्ग को लेकर उन्होंने धर्म के सिद्धांतों का प्रसार किया। बौद्ध धर्म के सर्वाधिक मान्य शास्त्र पिटक कहलाते हैं। वे तीन हैं- विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक। उनमें भिक्षुओं के आचार के नियम, मुख्य सिद्धांत एवं तत्त्वों का विवेचन है।[१४]

बौद्ध धर्म में मुख्य रूप से दो संप्रदाय हैं - १) हीनयान तथा २) महायान। हीनयान में ऐसा माना जाता है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की वासनाएँ हैं। निर्वाण ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हीनयानी साधक स्वकल्याण पर जोर देते हैं।

महायान साधक (संप्रदाय) में अशुभ वासनाओं को छोडकर शुभ वासनाओं के विकास पर जोर दिया है। वे करुणा को बहुत महत्त्व देते हैं।

जैनधर्म

जैनधर्म का विश्व के धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह आत्मकल्याण और प्राणिमात्र के श्रेयस के सिद्धांतों पर आधारित है। जैन धर्म अनादि अनंत है। जिनों (जिनेश्वर देवों) द्वारा उपदिष्ट होने के कारण यह जैन कहलाता है। 'जयति राग-द्वेषौ इति जिनं' जो राग एवं द्वेष को जीत लेते हैं, वे जिन कहलाते हैं। वे सर्वज्ञ होते हैं, क्योंकि उनके ज्ञान के आवरण नष्ट हो जाते हैं। वैसे वीतराग महापुरुष विभिन्न कालों में धर्म का प्रतिबोध देते हैं, उन्हें तीर्थंकर भी

कहा जाता है। यहाँ तीर्थ शब्द का प्रयोग बाह्य तीर्थ स्थानों के लिए नहीं है। श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक तथा श्रमणोपासिका रूप चतुर्विध धर्मसंघ यहाँ तीर्थ शब्द से अभिहित है। वे सर्वज्ञ प्रभु तीर्थ की स्थापना करते हैं, इसलिए तीर्थंकर कहलाते हैं। 'तीर्थतेऽनेनेति तीर्थम्'। जिसके द्वारा तीर्थ किया जाता है या पार किया जाता है वह तीर्थ है।[१५] धर्म तीर्थ संसार सागर को पार करने का, जन्म मरण से छूटने का साधन या माध्यम है।

इतिहास एवं परंपरा

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो जैन धर्म पहले इस नाम से प्रचलित नहीं था। तो जैनधर्म के लिए 'निर्ग्रंथ' शब्द का उपयोग किया जाता था। जैन आगमों में 'निगंथ निग्गंथ' शब्द का संस्कृत रूप निर्ग्रन्थ दिया गया है। निर्ग्रंथ याने (धन, धान्य इत्यादि) बाह्य ग्रंथी और मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि (अंतरंग ग्रंथी) अर्थात् बाह्यान्तर परिग्रह से रहित संयमी साधु को निर्ग्रंथ कहा जाता था। उन्होंने कहे हुए सिद्धेंतों को **'निर्ग्रंथ प्रवचन'** कहा जाता है।

आवश्यक सूत्र में 'निग्गंथं पावयणं' शब्द आया है।[१६] पावयणं शब्द का अर्थ प्रवचन होता है। जिसमें जीवाजीव इत्यादि पदार्थों का और ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि रत्नत्रय साधना का यथार्थ रूप में निरूपण किया जाता है। शास्त्रानुसार बिंदुसार पूर्व तक का ज्ञान निर्ग्रंथ प्रवचन में समाविष्ट हुआ है।[१७]

जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकर माने गये हैं, जो विभिन्न युगों में अनंत बार होते रहे हैं, एवं होते हैं। वर्तमान युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म आश्रित है। उन्होंने धर्म परिषदों में अर्धमागधी याने प्राकृत में जो उपदेश दिया है, वह उनके प्रमुख शिष्यों द्वारा शब्द रूप में संकलित सुग्रंथित किया है।[१८] वही उपदेश आगमों के रूप में हमें प्राप्त है। उसे ही द्वादशांगी वाणी कहते हैं। उसका संकलन, रचना गणधरों ने की है।[१९] वे अंगसूत्र के रूप में हैं। 'अंगसूत्र' को समवायांग सूत्र में गणिपिटक कहा गया है। जिसमें गुणों का समुदाय होता है ऐसे आचार्यों को 'गणि' कहा जाता है और पिटक याने पेटी, मंजुषा, पिटारा आदि अर्थ होते हैं, इस प्रकार श्रुत रत्नों की पेटी को गणिपिटक कहते हैं।[२०] ये अंग, उपांग, छेद, मूल या आवश्यक के रूप में मुख्यतः बत्तीस आगम हैं।[२१] श्वेतांबर जैन परंपरा के सभी आम्नायों द्वारा वे स्वीकृत हैं। उनमें साधुओं के व्रत, आचार, नियम, दिनचर्या, तपस्या, कर्मबंध के कारण इत्यादि का वर्णन है।

इन आगमों में तत्कालीन समाज, शासन, राज्य व्यवस्था, कृषि, व्यापार कला, शिक्षण आदि का भी वर्णन है। जिससे देश की तत्कालीन स्थिति का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। वास्तव में ये आगम भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

दिगंबर परंपरा में **षट्खंडागम का विशेष** महत्त्व है। धरसेन नामक आचार्य से, जिन्हें आंशिक रूप में पूर्वों का ज्ञान था, विद्याध्ययन कर भूतबली और पुष्पदंत नामक मुनिद्वय ने षट्खण्डागम की रचना की। इसके छह भाग हैं, इसलिए इसे षट्खंडागम कहा जाता है। इसमें जीव तत्त्व, कर्म सिद्धांत इत्यादि का बडा विस्तृत विवेचन है।

वीरसेन नामक आचार्य ने इस पर 'धवला नामक' टीका की रचना की। इसमें संस्कृत और प्राकृत का मिश्रित रूप में प्रयोग है, जिसे मणि-प्रवाल न्यायमूलक शैली कहा जाता है। जैसे मणियों और प्रवाल को एक साथ मिला दिया जाये तो भी वे पृथक् -पृथक् दृष्टि गोचर होते हैं, उसी प्रकार इस रचना-शैली में संस्कृत और प्राकृत अलग-अलग दिखाई पडती है।

दिगंबर परंपरा में आचार्य कुंदकुंद का भी बडा महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय तथा नियमसार आदि ग्रंथों की रचना की, जो आगम तुल्य माने जाते हैं। उनमें निश्चयनय और शुद्धोपयोग की दृष्टि से अध्यात्म तत्त्व का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

जैन धर्म की सार्वजनीनता

जैनधर्म जन्म, जाति, वर्ण, वर्ग, रंग, लिंग, देश आदि की संकीर्ण सीमाओं से प्रतिबद्ध नहीं है। वह आकाश की तरह व्यापक और समुद्र की तरह विशाल तथा गंभीर है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।[२२]

भगवान महावीर ने जन्मगत जातिवाद के विरुद्ध एक बहुत बडी क्रांति की। 'एकैव मानुषी जातिरन्यत् सर्व प्रपंचनम्' मनुष्य जाति एक है। उसमें भेद करना प्रपंच मात्र है वास्तविकता नहीं है। भगवान महावीर के सिद्धांतों में मानवीय एकता का यह सूत्र फलित था। भगवान महावीर के साधु संघ में सभी जातियों के व्यक्ति सम्मिलित थे। वहाँ साधु संघ में प्रविष्ट होने का आधार वैराग्य, त्याग और संयम था। भगवान महावीर क्षत्रिय जाति के थे। उनके प्रमुख शिष्य ग्यारह गणधर, जो उनके श्रमण संघ के अंतर्गत भिन्न-भिन्न साधु समुदायों के संचालक थे, ब्राह्मण जाति के थे। वेद, वेदान्त के बडे विद्वान् थे। भगवान महावीर से प्रभावित होकर उन्होंने जैन दीक्षा स्वीकार की।

भगवान महावीर के साधु संघ में अछूतों के लिए भी प्रवेश पाने का द्वार खुला था। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशी मुनि का एक प्रसंग है, जो जाति से चाण्डाल थे। 'ये श्वपाक पुत्र चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि हैं, जिनकी तपश्चर्या की विशेषता साक्षात् दिखाई

देती है, जाति का कोई महत्त्व नहीं है। उनके तप की ऋद्धि अत्यंत प्रभावशालिनी है।[२३]

हरिकेशी मुनि के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि नीच कहे जाने वाली जातियों में भी उच्चकोटि के ज्ञानी एवं तपस्वी महापुरुष हुए हैं। यहाँ व्रत, त्याग, शील, और आत्मोपासना, अहिंसा, करुणा, दया, सेवा और मैत्री भावना का महत्त्व है।

भगवान महावीर के समय में देश में हिंसा का मानो ताण्डव नृत्य हो रहा था। कुछ लोग तो हिंसा को धर्म का साधन मानते थे। जैसे पहले संकेत दिया कि भगवान की क्रांति अहिंसक क्रान्ति थी। उन्होंने अहिंसा को सबसे बडा धर्म बतलाया। कहने के लिए तो अन्य धर्मों में भी 'अहिंसा परमो धर्मः'[२४] कहा जाता है किन्तु उनके जीवन में अहिंसा का स्वीकार नहीं था।

भगवान महावीर ने मन, वचन और कर्म के द्वारा अहिंसक भाव अपनाने की प्रेरणा दी। जैन धर्म की दृष्टि से सदाचार, सत्य, संतोष, इन्द्रिय दमन, आत्मनिग्रह, राग-द्वेष, लोभ आदि का नियंत्रण, इन गुणों का ही महत्त्व है। व्यक्ति विशेष का कोई महत्त्व नहीं है, चाहे वह लौकिक दृष्टि से कितना ही बडा वैभवशाली और सत्ताधीश क्यों न हो। वहाँ तो वे ही पूजनीय हैं, उन्हीं का सर्वाधिक महत्त्व है, जिनमें ये गुण हैं, वे ही आदर और सम्मान के पात्र होते हैं।

जैनधर्म का अन्तिम लक्ष्य: शाश्वत शांति

जैनधर्म के अनुसार धार्मिक कार्य-कलापों का अंतिम या मूल उद्देश्य शाश्वत शांति और मोक्ष को प्राप्त करना है। अनंतज्ञान और अनंतदर्शन आत्मा के स्वभाविक गुण हैं। संसार के प्राणियों में मनुष्य सर्वाधिक विकसित प्राणि है। आत्मा की विशुद्ध अवस्था का अनुभव करने की उसमें शक्ति है। तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक एवं नैतिक संस्कृति आत्मा को पूर्णत्व की ओर ले जाने के लिए एक व्यावहारिक मार्ग की संरचना करती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय धर्मों में मोक्ष प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। उनमें जैन धर्म के सिद्धात में विशेष अंतर यह है कि जो त्याग और साधना की गहराई इसमें है, वह अन्यत्र नहीं मिलती।[२५] जैन धर्म पुरुषार्थसिद्धि से सर्वार्थसिद्धि की सफल तीर्थ यात्रा है। वह सिद्ध पुरुषों अर्थात् शूरवीरों का धर्म है।[२६]

कालचक्र

परंपरा से जैन धर्म को शाश्वत माना गया है। अतः एव समय-समय पर जैनधर्म का किसी क्षेत्र विशेष में लोप हो जाने पर भी वह पूर्णतया नष्ट नहीं होता। वह अनादिकाल से चला आ रहा है और चलता रहेगा। जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में कालचक्र का विस्तृत विवेचन

हुआ है। गणधर गौतम स्वामी के द्वारा जिज्ञासा किये जाने पर भगवान महावीर ने जो काल का वर्णन किया है वह पठनीय है। भरतक्षेत्र में काल दो प्रकार के हैं।[२७] १)अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल। अवसर्पिणी काल छह प्रकार का है- १) सुषम-सुषमकाल, २) सुषमकाल, ३) सुषम-दुषमकाल, ४) दुषम-सुषमकाल, ५) दुषमकाल, ६) दुषम-दुषमकाल। उत्सर्पिणी काल के छह प्रकार हैं- १) दुषम-दुषमकाल, २) दुषमकाल, ३) दुषम-सुषमकाल, ४) सुषम-दुषमकाल, ५) सुषमकाल, ६) सुषमसुषमकाल।[२८] जैनतत्त्व प्रकाश[२९] और जैनागम स्तोक संग्रह[३०] में भी यही बात कही है।

समीक्षा

सर्पण शब्द का अर्थ रेंगना, सरकना या चलना है। काल के दोनों भेदों के साथ यह शब्द जुडा हुआ है। काल सर्प की तरह रेंगता हुआ शनैः शनैः अपनी गति से चलता है। अवसर्पिणी शब्द में जो 'अव' उपसर्ग लगा है। वह अपकर्ष या न्हास का द्योतक है। उत्सर्पिणी शब्द में 'उत्' उपसर्ग लगा है, वह उत्कर्ष या वृद्धि का सूचक है।

अवसर्पिणी काल सभी दृष्टियों से क्रमशः न्हासोन्मुख होता है उसके जो छह भेद बतलाये गये हैं। वे चक्र या पहिये के आरक की तरह हैं, इसलिए इन्हें आरक या आरा कहा जाता है।

अवसर्पिणी काल के छह आरे

अवसर्पिणी काल का पहला आरा सुषम-सुषम कहा गया है। सुषमा शब्द सुंदरता, समृद्धि या सुकुमारता का द्योतक है। प्रथम आरे में सुषम शब्द दो बार आया है। इसका तात्पर्य यह है कि- इस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु तथा समस्त पदार्थ अत्यंत उत्कर्षमय होते हैं। शास्त्रों में इस आरे का वर्णन विस्तार से किया गया है। प्रथम आरे की अपेक्षाकृत दूसरे आरे में हीनता या न्यूनता आ जाती है। इसलिए दूसरे आरे का नाम केवल सुषम ही रह जाता है। इस आरे में अत्यंतता या अधिकता नहीं रहती। यहाँ अपकर्ष या न्हास का क्रम उत्तरोत्तर बढता जाता है।

तीसरे आरे में सुखमयता, दूसरे आरे की अपेक्षा कम हो जाती है, अर्थात् उसमें सुख के साथ दुःख भी जुड जाता है। इसमें सुख अधिक होता है और दुःख कम होता है। काल के प्रभाव से धरती के रस-कस कम हो जाते हैं। इस आरे में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जन्म होता है। उन्होंने पुरुषों को (७२) बहत्तर कलायें और स्त्रियों को (६४) चौषठ कलायें सिखाईं।

वे स्वयं प्रव्रजित होकर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्मसंघ की

स्थापना करते हैं। उन्होंने मुनियों के लिए पांच महाव्रत और गृहस्थों के लिए बारह व्रतों का उपदेश दिया और वे आयु पूर्ण करके मोक्षगामी हुए हैं। इस आरे को सुषम-दुषम कहा जाता है। चतुर्थ आरे में दुःख का भाग अधिक होता है, तथा सुख का भाग कम होता है, इसलिए इसे दुषम-सुषम कहा जाता है। इस आरे में भगवान महावीर स्वामी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। पंचम आरे को दुषम कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि- वह सर्वथा दुःखमय होता है। उसमें सुख नहीं होता। इस आरे में वर्णादि पर्यायों में अनंतगुणी हीनता आ जाती है क्रमशः ऱ्हास होता है। छट्ठे आरे में दुःख की अत्याधिकता हो जाती है, तथा वह आरा घोर दुःखमय होता है, इसलिए इसे दुषम-दुषम कहा गया है।

अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा अत्यंत सुखमय और अंतिम आरा अत्यंत दुःखमय होता है। उसकी पराकाष्टा क्रमशः घटती घटती दुःख की पराकाष्टा में परिवर्तित होती है।

उत्सर्पिणी काल के छह आरे

अवसर्पिणी काल के पश्चात् उत्सर्पिणी काल आता है। उसका गति क्रम अवसर्पिणी से सर्वथा विपरीत या उल्टा है। अवसर्पिणी का अन्तिम आरा दुषम-दुषम के समान है उत्सर्पिणी का प्रथम आरे के समान होता है। जिस प्रकार अवसर्पिणी में क्रमशः सुख घटता जाता है और दुःख बढता जाता है। उसी प्रकार उत्सर्पिणी में दुःख घटता जाता है और सुख बढता जाता है। जिस प्रकार अवसर्पिणी का अंतिम भाग नितांत दुखमय होता है उसी प्रकार उत्सर्पिणी का प्रथम आरा घोर दुःख पूर्ण होता है, इसलिए इसका नाम दुषम-दुषम है।

अवसर्पिणी के पंचम आरे के समान उत्सर्पिणी का द्वितीय आरा होता है। दोनों दुःखमय हैं। उत्सर्पिणी के दुषम आरे में भरतक्षेत्र में पांच प्रकार की वृष्टि होती है। वनस्पतियों में पाँच रसों की उत्पत्ति होती है।

उत्सर्पिणी का तीसरा आरा दुःख की बहुलता और उसकी अपेक्षा सुख की अल्पता का काल है। वह दुषम-सुषम नामक काल है। वह अपसर्पिणी काल के चौथे आरे के समान इसमें प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है।

उत्सर्पिणी का चौथा आरा सुषम-दुषम काल है। उसमें सुख अधिक है, और दुःख कम है। इसमें चौबीसवे तीर्थंकर मोक्ष में जाते हैं। वर्णादि शुभ पर्यायों में वृद्धि होती है। उसी प्रकार अवसर्पिणी का तीसरा काल है।

उत्सर्पिणी का पांचवा सुषम काल है; जो सुखमय है। उसी प्रकार अवसर्पिणी का दूसरा काल सुखमय है। इसमें वर्णादि शुभ पर्यायों की वृद्धि होती है। उत्सर्पिणी का छट्ठा आरा सुषम-सुषम है। जो अत्यंत सुखमय है अवसर्पिणी के प्रथम आरा इसके सदृश है।[३१]

समीक्षा

प्रकृति जगत् के वातावरण में क्षण क्षण में परिवर्तन होता रहता है। वह परिवर्तन अनेक मुखी होता है। उसके परिणाम स्वरूप जगत में विद्यमान पदार्थ भी बदलते जाते हैं। पुद्गलात्मक परिणमन भी विविधतामय होता जाता है। उस परिवर्तन के अनुरूप जैविक जीव की स्थितियाँ भी विविध रूप में प्रकट होती हैं। वहाँ परिवर्तन की धारा उत्कर्ष और अपकर्ष को लेकर द्विमुखी होती है। उसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी द्वारा व्यक्त किया गया है। काल चक्र के दोनों रूपों के साथ क्रमशः यही भाव जुडा रहता है।

'उत्सर्पिणी का प्रथम एवं अवसर्पिणी का अंतिम काल अत्यधिक विकार युक्त होता है।' सभी पदार्थ दुर्गति और दुरवस्था लिये रहते हैं। वैसी घोर पापमय स्थितियों पर सोचते हुए व्यक्ति के अंतःकरण में वह भाव उत्पन्न होता कि अपनी अनुकूल जिस स्थिति में वह है वैसा नहीं है, उसको उसका लाभ लेते हुए धर्माचरण में लीन रहना चाहिए।

कालचक्र के स्वरूप के परिशीलन से जगत की विचित्रता और विषमता का बोध होता है और इस भ्रमणशील काल चक्र को पार कर परमसुख को प्राप्त करना उससे मानव आत्मावलोकन में उत्प्रेरित होता है।

तीर्थंकर एवं धर्मतीर्थ

वर्तमान अपसर्पिणी के तीसरे चौथे आरे में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जो इस प्रकार हैं-

१) श्री. ऋषभदेवजी	२) श्री. अजितनाथजी
३) श्री. संभवनाथजी	४) श्री. अभिनंदनजी
५) श्री. सुमतिनाथजी	६) श्री. पद्मप्रभुजी
७) श्री. सुपार्श्वनाथजी	८) श्री. चंद्रप्रभुजी
९) श्री. सुविधिनाथजी	१०) श्री. शीतलनाथजी
११) श्री. श्रेयांसनाथजी	१२) श्री. वासुपूज्यजी
१३) श्री. विमलनाथजी	१४) श्री. अनंतनाथजी
१५) श्री. धर्मनाथजी	१६) श्री. शांतिनाथजी
१७) श्री. कुंथुनाथजी	१८) श्री. अरहनाथजी
१९) श्री. मल्लिनाथजी	२०) श्री. मुनिसुव्रतनाथजी
२१) श्री. नमिनाथजी	२२) श्री. अरिष्ठनेमिजी
२३) श्री. पार्श्वनाथजी	२४) श्री. महावीर स्वामीजी ।

यंत्र-मंत्र-तंत्र-विज्ञान[३२] और आगम के अनमोल रत्नों[३३] में चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन है। श्री जैनसिद्धांत बोल संग्रह, भाग-६ में चौबीस तीर्थंकरों के च्यवन, जन्म, मातापिता के नाम, लांछन एवं शरीर प्रमाण आदि का उल्लेख है।[३४] तीर्थंकरों की ऐसी अनंत चौबीसियाँ हो चुकी हैं और होती रहेंगी।[३५]

तीर्थंकर एवं धर्मतीर्थ

तीर्थंकर शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक तथा श्रमणोपासिका इन चारों का समुदाय तीर्थ या धर्मतीर्थ कहा जाता है। तीर्थंकर अपने अपने युग में तीर्थ की स्थापना करते हैं। वे सर्वज्ञ होते हैं क्योंकि उनके ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म के क्षय होने से वे वीतराग, सर्वज्ञ, केवली हो जाते हैं। वे धर्मदेशना देते हैं। जिसमें तत्त्वदर्शन एवं आचार विद्या का विवेचन होता है।

एक तीर्थंकर की परंपरा जब तक चलती है, तब उनकी वाणी के आधार पर ही सभी धार्मिक उपक्रम गतिशील होते हैं। वर्तमान युग में धर्मतीर्थ या जैन धर्म भगवान महावीर के द्वारा दी गई धर्मदेशना या उपदेश के आधार पर गतिशील है।

तीर्थंकरोपदेश : आगम

आगम विशिष्ट ज्ञान के सूचक हैं, जो प्रत्यक्ष बोध के साथ जुडा हुआ है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि- जिनका ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्म के अपगत या क्षय से सर्वथा निर्मल और शुद्ध हो जाता है। संशय और संदेह रहित होता है ऐसे आप्त पुरुषों सर्वज्ञ महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का संकलन आगम है।

तीर्थंकर सर्वदर्शी, सर्वज्ञाता होते हैं, क्योंकि उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म क्षीण हो जाते हैं। वे धर्म देशना देते हैं। जन-जन को धर्म के सिद्धांतों का, आचार का ज्ञान प्रदान करते हैं। एक-एक युग में एक-एक तीर्थंकर की धर्मदेशना चलती है। यद्यपि, तात्विक रूप में तो कोई भेद नहीं होता, पर आगे होनेवाले तीर्थंकर अपने युग को अपनी वाणी द्वारा संबोधित करते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों का संकलन शब्द रूप में संग्रथन (गूंथना) उनके प्रमुख शिष्य गणधर करते हैं। यह ज्ञान का स्त्रोत- आगम इसलिए कहा जाता है कि- यह, अनादि काल की परंपरा से चला आ रहा है। वर्तमान युग में भगवान महावीर की धर्मदेशना हमें आगमों के रूप में प्राप्त है। जिसका गणधरों ने संकलन किया।

भगवान की धर्मदेशना के संबंध में आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है- अर्हत तीर्थंकर अर्थ भाषित करते हैं। सिद्धांतों या तत्त्वों का आख्यान करते हैं। चतुर्विध धर्म संघ के लाभ या कल्याण के लिए गणधर निपुणतापूर्वक-कुशलतापूर्वक सूत्ररूप में उनका ग्रंथन करते हैं-

शब्दरूप में संकलन करते हैं। इस प्रकार सूत्र का प्रवर्तन प्रसार होता है।[३६]

आचार्य श्री पूज्य देवेंद्रमुनिजी महाराज ने जैनागम साहित्य नामक विशाल ग्रंथ में आगम साहित्य का महत्त्व, आगम के पर्यायवाची शब्द, आगम की परिभाषा इत्यादि विभिन्न पक्षों को लेते हुए विद्वान आचार्यों के मन्तव्यों का विस्तार से विवेचन किया है, जिससे अध्येताओं को इस संबंध में यथेष्ट परिचय मिलता है।[३७]

वर्तमान काल में हमें जो आगम प्राप्त हैं, ये भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित हैं। ऐसी जैन परंपरा में मान्यता है। यहाँ आगमों के संबंध में संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक है।

आगमों की भाषा

भाषा का जीवन में बहुत महत्त्व है। वही अभिव्यक्ति का साधन है। यदि भाषा नहीं होती तो मनुष्य अपने भावों को कभी भी व्यक्त नहीं कर सकता था। भाषा ही वह कारण है जिससे आज हम अतीत के महापुरुषों और महान चिंतकों के विचारों से लाभान्वित हो रहे हैं। उन्होंने भाषा द्वारा अपने-अपने समय में जो भाव प्रगट किये वे आगमों में, शास्त्रों में अन्य साहित्य द्वारा हमें प्राप्त हैं।

भाषा का संबंध मानव समुदाय या समाज के साथ जुडा हुआ है। भिन्न-भिन्न देशों, प्रदेशों और जनपदों के लोग अपनी-अपनी भाषायें बोलते हैं। उनके द्वारा एक दूसरे के विचारों को जानते हैं। भिन्न-भिन्न देशों, प्रदेशों में भाषायें भिन्न-भिन्न होती हैं क्योंकि वहाँ रहने वाले लागों का संपर्क सूत्र लगभग वहीं तक होता है।

भगवान महावीर का जन्म लिच्छवी गणराज्य में हुआ। आज वह भूभाग उत्तरी बिहार में आता है। वैशाली उस समय लिच्छवी गणराज्य की राजधानी थी। जो अब एक गांव के रूप में स्थित है।

दक्षिणी बिहार तब मगध कहलाता था। उस समय उत्तर भारत में जन भाषा के रूप में प्राकृत का प्रचार था। मगध में जो प्राकृत बोली जाती थी; उसे मागधी कहा जाता था। उत्तर भारत के पश्चिमी अंचल में जो भाषा बोली जाती थी; उसे शौरसेनी कहा जाता था। इन दोनों के बीच की भाषा अर्धमागधी थी। अर्धमागधी, मागधी और शौरसेनी दोनों का रूप लिये हुए थी। वह उस समय भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जानेवाली प्राकृतों की संपर्क सूत्ररूप भाषा थी।[३८] यही कारण है कि भगवान महावीर ने अर्धमागधी भाषा में देशना दी। समवायांग सूत्र[३९], भगवई,[४०] और आचारांग चूर्णि[४१] में भी यही कहा है।

धार्मिक जगत में उस समय संस्कृत का महत्त्व था। उसी में औरों के धर्मशास्त्र रचित थे। धर्म के क्षेत्र में संस्कृत का महत्त्व बहुत बडा था, किन्तु साधारण जनता संस्कृत नहीं

समझती थी। अतः भगवान महावीर ने धर्मोपदेश के माध्यम के रूप में अर्धमागधी को अपनाया, क्योंकि उसे सभी लोग समझ सकते थे।[४२] समझकर वे उसका लाभ उठा सकते थे। कहा गया है कि- बालको, स्त्रियों, वृद्धों तथा अशिक्षितों सभी लोगों के उपकार के लिए जो चारित्र मूलक धर्म को जानना चाहते थे; भगवान ने प्राकृत भाषा में धर्मोपदेश देने का अनुग्रह किया।[४३] नवकार प्रभावना में भी यही कहा है।[४४]

भगवान महावीर द्वारा धर्मदेशना

भगवान महावीर ने केवलज्ञान-सर्वज्ञत्व, प्राप्त करने के बाद धर्मदेशना दी। वे अर्थरूप में उपदेश देते थे। उनके प्रमुख शिष्य गणधर शब्द रूप में उसका संकलन करते थे। भगवान महावीर के द्वारा जो उपदेश शब्द रूप में संकलित किया गया वह ग्यारह अंगों का अंगसूत्रों के रूप में इस प्रकार है-

ग्यारह अंग

१) आचारांगसूत्र , २) सूत्रकृतांगसूत्र, ३) स्थानांगसूत्र, ४) समवायांगसूत्र, ५) भगवतीसूत्र, ६) ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, ७) उपासकदशांगसूत्र, ८) अन्तकृतांगसूत्र, ९) अनुत्तरोपपातिक दशा, १०) प्रश्नव्याकरणसूत्र, ११) विपाकसूत्र।

बारह उपांग

१) औपपातिकसूत्र, २) राजप्रश्नीयसूत्र, ३) जीवाजीवाभिगमसूत्र, ४) प्रज्ञापनासूत्र, ५) जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, ६) चंद्रप्रज्ञप्तिसूत्र, ७) सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र, ८) निरियावलियासूत्र, ९) कल्पावतंसिकासूत्र, १०) पुष्पिकासूत्र, ११) पुष्पचूलिकासूत्र, १२) वृष्णिदशासूत्र।

चार मूलसूत्र

१) दशवैकालिकसूत्र, २) उत्तराध्ययनसूत्र,
३) नंदीसूत्र, ४) अनुयोगद्वारसूत्र।

चार छेदसूत्र

१) व्यवहारसूत्र, २) बृहत्कल्पसूत्र,
३) निशीथसूत्र, ४) दशाश्रुतस्कंध और ३२वाँ आवश्यकसूत्र।

इस प्रकार ३२ आगम हैं। प्राचीन काल में शास्त्रों का ज्ञान कंठस्थ कर याद रखा जाता था। गुरु अपने शिष्यों को सिखाते थे। आगे चलकर वे शिष्य अपने शिष्यों को बताते थे। इस प्रकार वह परंपरा श्रवण या सुनने के आधार पर उत्तरोत्तर चलती रही। इसी कारण उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है।

आगमों का महत्त्व

जैन आगम साहित्य भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि है। अनमोल निधि है। ज्ञान, विज्ञान का अक्षय भंडार है। आगम शब्द 'आ' उपसर्ग 'गम्' धातु से बना है। आ याने 'पूर्ण' और 'गम्' का अर्थ 'गति' या प्राप्ति इस प्रकार होता है। आचारांग सूत्र में[४५] आगम शब्द 'जानना' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य और संस्कृति में भी यही कहा है[४६] भगवती सूत्र[४७] अनुयोगद्वार[४८] और स्थानांगसूत्र[४९] में आगम शब्द 'शास्त्र' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूर्धन्य महामनिषियों ने आगम शब्द की अनेक परिभाषाएँ लिखी हैं। स्याद्वादमञ्जरी की टीका[५०] में आगम की परिभाषा इस प्रकार की है- 'आप्त वचन आगम है।' उपचार से आप्त वचनों से अर्थ ज्ञान होता है। वह आगम है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि जिससे पदार्थों की परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान होता है वही आगम है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[५१] इन्होंने आगम की परिभाषा देते हुए लिखा है कि- जिसके द्वारा सत्यशिक्षा मिलती है। वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहा जाता है।

आगम केवल अक्षर रूपी देह से विशाल और व्यापक ही नहीं, लेकिन ज्ञान और विज्ञान के, न्याय और नीति के, आचार और विचार के, धर्म और दर्शन के, अध्यात्म और अनुभवों के अनुपम और अक्षय कोष हैं।

वैदिक परंपरा में जो स्थान वेद का हैं, बौद्ध परंपरा में जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबल का है, इस्लाम धर्म में जो स्थान कुराण का है, पारसी धर्म में जो स्थान अवेस्ता का है, शिखधर्म में जो स्थान गुरु ग्रंथ साहेब का है, वही स्थान जैन परंपरा में आगम साहित्य का है।[५२]

आगमों का संकलन

प्रथम वाचना

जैन परंपरा में ऐसा माना जाता है कि भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (३६७ इ. स. पूर्व) चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में भयंकर अकाल पडा। साधु इधर उधर बिखर गये। संघ को चिंता हुई कि- आगमों का ज्ञान यथार्थ रूप में चलता रहे, इसका प्रयास किया जाये। दुष्काल समाप्त हो जाने पर पाटली पुत्र में आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में साधुओं का एक सम्मेलन किया गया। साधुओं ने अंग आगम के पाठ का मिलान किया। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद किसी को भी याद नहीं था। इसलिए उसका संकलन नहीं हो सका। दृष्टिवाद में पूर्वों का ज्ञान था। आगमों के संकलन का यह पहला प्रयास था। इसे आगमों की प्रथम वाचना कहा जाता है।

उस समय चतुर्दश पूर्व के धारक केवल आचार्य भद्रबाहु थे। वे नेपाल देश में महाप्राण

ध्यान की साधना कर रहे थे। उनसे पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु संघने १५०० मुनियों को उनके पास नेपाल भेजा। ५०० मुनि पढ़ने वाले थे। १००० मुनि उनकी सेवा हेतु थे। अध्ययन चालु हुआ। अध्ययन की कठिनता से घबराकर स्थूलभद्र के अतिरिक्त बाकी सब मुनि वापस लौट आये।

स्थूलभद्र ने दस पूर्वों का अर्थ सहित अध्ययन कर लिया, किंतु किसी त्रुटी के कारण आचार्य भद्रबाहु ने चार पूर्वों का केवल पाठ रूप में अध्ययन करवाया, अर्थ नहीं बताया। इस प्रकार स्थूलभद्र दश पूर्वों के परिपूर्ण ज्ञाता थे तथा चार पूर्वों का केवल पाठ जानते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे पूर्वों का ज्ञान लुप्त होता गया। आगम युग जैन दर्शन[५३], जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज[५४], उपासकदशांग सूत्र,[५५] जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा[५६], जैन तत्त्वप्रकाश[५७] और नमस्कार महिमा[५८] में यही बात कही गयी है।

द्वितीय वाचना

ऐसा माना जाता है कि - भगवान महावीर के निर्वाण के बाद ८२७ और ८४० वर्ष के बीच आगमों को व्यवस्थित करने का एक और प्रयास चला क्योंकि उस समय भी पहले की तरह एक भयानक अकाल पडा था, जिससे भिक्षा के अभाव में अनेक साधु देवलोक हो गये। मथुरा में आर्य स्कंदिल की प्रधानता में साधुओं का सम्मेलन हुआ। जिसमें आगमों का संकलन किया गया।

इसी समय के आसपास सौराष्ट्र में वल्लभी में भी आचार्य नागार्जुनसूरि के नेतृत्त्व में साधुओं का वैसा ही सम्मेलन बुलाया गया। मथुरा में और वल्लभी में हुए इन दोनों सम्मेलनों को द्वितीय वाचना कहा जाता है।

तृतीय वाचना

धीरे-धीरे लोगों की स्मरण शक्ति कम होने लगी। इसलिए भगवान महावीर के निर्वाण के ९८० या ९९३) वर्ष के बाद सौराष्ट्र के अन्तर्गत वल्लभी में देवर्धीगणी क्षमाश्रमण नामक आचार्य के नेतृत्व में सम्मेलन हुआ। आगमों का मिलान और संकलन किया गया। उस समय यह विचार आया कि धीरे-धीरे मनुष्यों की स्मरण शक्ति कम होती जा रही है, इसलिए समस्त आगमों को कंठस्थ रखना कठिन होगा। तब आगमों को लिपिबद्ध या लेखन बद्ध करने का निर्णय लिया गया। तदनुसार आगमों का लेखन हुआ। दृष्टिवाद तो पहले से लुप्त था। उसे विच्छिन्न घोषित किया गया। मूल और टीका में अपने को 'वायणंतरे पुण अथवा नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' ऐसा उल्लेख मिलता है।[५९]

आज हमें जो आगम प्राप्त हैं वे तीसरी वाचना में लिखे गये थे।[६०] आगम युग का जैन दर्शन[६१] में भी यही बात कही है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि भगवान महासीर की वाणी आज भी हमें प्राप्त है।

आगमों का विस्तार

ग्यारह अंगों के अतिरिक्त जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। उपांग, मूल, छेद के रूप में अन्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं जो अंगों से संबंधित हैं। इस प्रकार अंग और अंगबाह्य के रूप में जैन आगमों का विस्तार हुआ। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि- ये आगम श्वेतांबर परंपरा में मान्य हैं। श्वेतांबरों में इनकी संख्या के विषय में एक समान मत नहीं हैं। कोई इनकी संख्या ८४, कोई इनकी संख्या ४५, और कोई ३२ मानते हैं। श्वेतांबर मंदिरमार्गी संप्रदाय में ४५ एवं ८४ की संख्या भिन्न-भिन्न गणों में मान्य हैं। अंग, उपांग, छेद, मूल के अतिरिक्त जो आगम माने जाते हैं। उन्हें प्रकीर्णक कहा जाता है।

आगम : अनुयोग

आगमों में आये हुए विषय- अंग, उपांग, छेद, मूल, सिद्धांत, भेद, तत्त्व आदि की दृष्टि से हैं। आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने उनका चार अनुयोगों में विभाजन किया है। १) चरण-करणानुयोग, २) धर्मकथानुयोग, ३) गणितानुयोग, ४) द्रव्यानुयोग।[६२] नमस्कार चिंतामणी,[६३] दशवैकालिक निर्युक्ति,[६४] आवश्यक निर्युक्ति[६५] और विशेषावश्यकभाष्य[६६] में भी यही कहा है।

अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग अथवा सूत्र का अपने अभिध्येय में जो योग होता है, उसे अनुयोग जानना चाहिए।[६७]

१) चरणकरणानुयोग

इसमें आत्मा के उत्थान के मूलगुण, आचार, व्रत, उत्तरगुण, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र, संयम, वैयावृत्य, कषाय, निग्रह, आहार विशुद्धि, समिति, गुप्ति, भावना इंद्रियनिग्रह, प्रतिलेखन आदि का विवेचन है।

इसमें आचारांग तथा प्रश्नव्याकरण ये दो अंगसूत्र, दशवैकालिक यह एक मूलसूत्र, निशीथ, व्यवहार, बृहत् कल्प एवं दशाश्रुत स्कंध ये चार छेद सूत्र तथा आवश्यक इस प्रकार कुल आठ सूत्र आते हैं।

२) धर्मकथानुयोग

इसमें दान, शील, तप, भावना, दया, क्षमा, आर्जव, मार्दव आदि धर्म के अंगों का विशेष रूप से कथानकों के माध्यम से विवेचन किया गया है। इसमें कथा, आख्यान, उपाख्यान द्वारा धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन है। इसके अन्तर्गत ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा तथा विपाक ये पांच अंगसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा ये सात उपांगसूत्र एवं उत्तराध्ययन सूत्र यह एक

मूलसूत्र इस प्रकार कुल १३ सूत्र इसमें आते हैं।

३) गणितानुयोग

इसमें सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, भूगोल, खगोल आदि विषयों का तथा ग्रह, गतियों आदि से संबंधित गणनाओं पर विचार किया गया है। इसमें गणित की प्रधानता है। मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी द्वितीय ने 'विश्वप्रहेलिका' नामक पुस्तक में विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन एवं जैन दर्शन के आलोक में विश्व की वास्तविकता, आयतन व आयु की मीमांसा के अन्तर्गत दिगंबर एवं श्वेतांबर परंपरा की मान्यता के अनुसार जो गणितिक विवेचन किया है, उससे गणितानुयोग को समझने में बडी सहायता मिलती है।[६८] इसके अन्तर्गत जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, चंद्र प्रज्ञप्ति तथा सूर्य प्रज्ञप्ति ये तीन उपांग सूत्र समाविष्ट हैं।

४) द्रव्यानुयोग

इसमें जीव, अजीव आदि छह द्रव्यों और नौ तत्त्वों का कहीं विस्तार से कहीं संक्षेप में वर्णन किया गया है। बत्तीस आगमों को इन चार अनुयोगों की दृष्टि से श्रेणिगत किया जाय तो चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति ये चार अंगसूत्र, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, ये दो उपांग सूत्र एवं नंदी और अनुयोग द्वार ये दो मूलसूत्र ये कुल मिलाकर आठ सूत्र समाविष्ट हैं।

यह उपरोक्त वर्गीकरण विषय सादृश्य की दृष्टि से हुआ है, परंतु निश्चित रूप से यह कहा नहीं जा सकता कि अन्य आगमों में अन्य अनुयोगों का वर्णन नहीं है। उदाहरणार्थ उत्तराध्ययन सूत्र में धर्मकथा के साथ-साथ दार्शनिक तथ्यों का भी विवेचन है। भगवती सूत्र तो अनेक विषयों का महासागर है। आचारांग सूत्र में भी अलग-अलग विषयों की चर्चा है। कुछ आगमों में चारों अनुयोगों का संमिश्रण देखा जा सकता है। इन चारों अनुयोगों में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग का विविध स्थानों पर कहीं संक्षेप में कहीं विस्तारपूर्वक विषद विवेचन हुआ है। यह कार्य आगमों की व्यवस्था को सरल बनाने हेतु आर्यरक्षित द्वारा वि. स. १२२ के आसपास सम्पन्न हुआ।[६९] विशेषावश्यक भाष्य[७०] और दशवैकालिक निर्युक्ति[७१] में भी कहा है।

अंग आगम परिचय

मानव के शरीर में भिन्न-भिन्न अंग उपांग होते हैं। उन सबके समवाय को जीवन कहा जाता है। प्रत्येक अंग का अपना अपना कार्य होता है। वैसे ही ज्ञानी पुरुषों ने आगम पुरुष की कल्पना की है।

जैन आगम साहित्य को अंग, उपांग, मूल, छेद आदि को भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार

किया गया है। उनके बारह अंग माने गये हैं। जिनमें जैन धारा दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक आदि विभिन्न रूपों में प्रवाहित होती है। आचार प्रभृति आगम में श्रुत पुरुष का अंगस्थान में होने से अंग इस प्रकार पहचाने जाते हैं।[७२] मूलाराधना[७३] में भी यही कहा है।

आगम पुरुष में आचारांग उसके शीर्ष (मस्तक) स्थानीय है। जिस प्रकार हाथ पैर आदि अंग मनुष्य के शरीर को संचालित करते हैं, वैसे ही आगम धार्मिक जीवन को संचालित करते हैं। उसी प्रकार से यहाँ आगम श्रुत ज्ञानरूपी पुरुष के विविध अंगों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१) आचारांग

आचारांग सूत्र का बारह अंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए विद्वानों ने इसको अंगों का सार कहा है।[७४] साधुओं और साध्वियों की आचार परंपरा का इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है।

यह दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है। पहले श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन हैं। वे ब्रह्मचर्य आचारचर्या कहलाते हैं। इसमें चवालीस उद्देशक हैं।

इसके प्रथम अध्ययन का नाम उपधानश्रुत है। इसमें भ. महावीर की कठोर साधना और तपश्चर्या का वर्णन है। जब भगवान लाढ देश में वज्रभूमि तथा शुभ्रभूमि नामक स्थानों में विचरण कर रहे थे, तब उन्हें अनेक प्रकार के उपसर्गों-कष्टों को सहन करना पडा। वहाँ के लोग उन्हें मारते, पीटते, दाँतों से काट लेते थे। उनको वहाँ लूखा-सूखा आहार प्राप्त होता था। वहाँ लोग उनके पीछे कुत्तों को छोडते थे। कभी कोई व्यक्ति कुत्ते से बचाता था।[७५] निषधकुमार चरित्र में भी यही बात है।[७६] स्थानांग सूत्र के नौंवे स्थान में भी उपसर्ग सहन का पाठ आता है।[७७]

जब भोजन या स्थान (वसति) के लिए भगवान महावीर किसी गाँव में पहुँचते तो, गाँव में रहनेवाले लोग मारते, पीटते और कहते यहाँ से दूर चले जाओ। वे उनको दंडों से, मुक्कों से, भालों की तीखी नोंक से, मिट्टी के ढेलों से या कंकरों से उन पर प्रहार करते तथा बहुत कोलाहल करते। कभी-कभी उनके शरीर का मांस नोंच लेते। उनके ऊपर धूल बरसाते। उन्हें ऊपर उठाकर नीचे पटक देते। आसन से गिरा देते किन्तु भगवान महावीर शरीर का ममत्व त्यागकर सब सहते हुए अपने लक्ष्य के प्रति अडिग रहते।[७८]

दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं। तीन चूलिकाओं में विभक्त है। पिंडैषणा नामक अध्ययन में साधु-साध्वियों के आहार विषयक नियमों का विस्तार से वर्णन है।

शैया अध्ययन में आवास स्थान के गुणदोषों का तथा गृहस्थ के साथ रहने में लगने वाले दोषों का वर्णन है।

इरिया अध्ययन में साधु के विहार या विचरण विषयक नियमों का विवेचन है। बताया गया है कि- देश की सीमा पर निवास करनेवाला अकालचारी- बिना समय घूमने वाला अकालभक्षी, बिना समय चाहे खानेवाला- दष्यु-डाकु, म्लेच्छ और अनार्य देशों में साधु-साध्वियों को विचरण नहीं करना चाहिए। ये सात अध्ययन प्रथम चूलिका के अन्तर्गत हैं। द्वितीय चूलिका में भी स्वाध्याय स्थान आदि के संबंध में साधु-साध्वियों के नियमों का विधान है। तीसरी चूलिका में भगवान महावीर का चरित्र तथा महाव्रतों की पाँच भावनाओं का तथा मोक्ष का वर्णन है।

इस सूत्र में कर्म सिद्दांत का वर्णन इस प्रकार है। आस्त्रव, संवर, बोध, संसार का मूल आसक्ति, बंध मोक्ष परिज्ञान कषायविजय, सम्यग्ज्ञान : आस्त्रव, सम्यक्तप : दुःख एवं कर्मक्षयविधि, सम्यक्चारित्र : साधना के संदर्भ में, आरंभ कषाय पद, कर्मबंध और मुक्ति, मोहाछन्न जीव की करुणदशा, कर्ममल की शुद्धि की प्रेरणा और कर्मअंत करने की प्रेरणा आदि विषयों का वर्णन इस शास्त्र में आया है।

इस सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति, जिनदासगणी महत्तर ने चूर्णि और आचार्य शीलांक ने टीका की रचना की। जिनहंस नामक आचार्य ने इस पर दीपिका लिखी। जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. हर्मन जेकोबी ने इसका अंग्रजी में अनुवाद किया और इसकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखी। सबसे पहले आचारांग सूत्र में प्रथम-श्रुतस्कंध सन् १९१० में प्रोफेसर वोल्टर ने सूब्रींग नामक जर्मन विद्वान द्वारा संपादन किया गया तथा जर्मनी में 'लिपजग' में प्रकाशन हुआ।

२) सूत्रकृतांगसूत्र

सूत्रकृतांग सूत्र में स्वसमय अपने तथा जैन धर्म के सिद्धांतों तथा परसमय अन्य मतवादियों के सिद्धांतों का वर्णन है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में पंचभूतवादी, अद्वैतवादी, जीव और शरीर को अभिन्न मानने वाले, जीव पुण्य और पाप का कर्ता नहीं है, ऐसा मानने वाले, पांच भूतों के साथ छट्ठा आत्मा है, ऐसा स्वीकार करने वाले, कोई भी क्रिया फल नहीं देती ऐसा मानने वालों के सिद्धांतों का विवेचन है।

इस शास्त्र में बंध मोक्ष स्वरूप, कर्म विपाक दर्शन कर्म विदारक वीरों को उपदेश, सम्यग्दर्शन में साधक बाधक तत्त्व, मोक्ष प्राप्ति किस को सुलभ और किसको दुर्लभ, मोक्ष प्राप्त पुरुषोत्तम और शाश्वत स्थान प्रत्याख्यान क्रियारहित सदैव पापकर्म बंधकर्ता क्यों और कैसे बंध और मोक्ष आस्त्रव, संवर, निर्जरा आदि का निरुपण किया है।

नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद एवं लोकवाद का इसमें खण्डन किया गया है। वैताढ्य अध्ययन में शरीर के अनित्यत्व, उपसर्ग, सहिष्णुता, काम परित्याग और

अशरणत्व आदि का प्रतिपादन है। उपसर्ग अध्ययन में संयम पालन में आने वाले उपसर्गों, विघ्नों या कष्टों का वर्णन है।

स्त्री परिज्ञा अध्ययन में साधुओं को स्त्रीजन्य उपसर्ग को आत्मबल के साथ सहन करना चाहिए और उनका निवारण करना चाहिए।

द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन हैं। पुंडरीक अध्ययन में इस लोक को पुष्करणी की उपमा दी गई है। तद् जीव, तज्जशरीर, पंच महाभूत, ईश्वर तथा नियतिवाद का खंडन किया गया है।

साधु को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि पदार्थों को मर्यादा, नियम और विरक्ति भाव के साथ ग्रहण करना चाहिए।

क्रियास्थान अध्ययन में क्रिया स्थानों का, आहार परिज्ञा अध्ययन में वनस्पतियाँ, जलचर तथा पक्षी आदि का और प्रत्याख्यान के अध्ययन में जीव हिंसा हो जाने पर प्रत्याख्यान की आवश्यकता का विवेचन है।

आचारश्रुत अध्ययन में साधुओं के आचार का वर्णन है।

सातवें अध्ययन का नाम नालंदीय अध्ययन है। गौतम गणधर नालंदा में लेप नामक गृहपति के हस्तीयाम नाम वनखंड में ठहरे थे। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य उदक पेढालपुत्र के साथ विचार विमर्श हुआ। परिणाम स्वरूप उदक पेढालपुत्र ने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पाँच महाव्रत स्वीकार किये।[७९] आचार्य भद्रबाहु ने सूत्रकृतांग सूत्र पर निर्युक्ति की रचना की। जिनदास महत्तर ने इस पर चूर्णि लिखी। आचार्य शीलांक ने संस्कृत में इस पर टीका की रचना की। मुनि हर्षकुल और साधुरंग ने दीपिकायें लिखी।

भाषा और विवेचन की दृष्टि से आचारांग सूत्र की तरह यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। डॉ. हर्मन जेकोबी ने इसका अग्रेजी में अनुवाद किया।

३) स्थानांगसूत्र

यह तीसरा अंग हैं। इसमें अन्य आगमों की तरह उपदेशों का संकलन नहीं है, किंतु यहाँ स्थान या संख्या के क्रम से लोक में प्रचलित एक से दस तक की विभिन्न वस्तुएँ गिनाई गई हैं। साधु-श्रावक के आचार गोचर का कथन है। यह शास्त्र विद्वानों के लिए बडा चमत्कार जनक है।

स्थानांग सूत्र में कर्मप्रकृतिसूत्र, कर्माशसूत्र, कर्मावस्थासूत्र, महत्तकर्म, अल्पकर्म, कर्मबंधसूत्र, संवर-असंवर सूत्र आदि का विस्तृत विवेचन है।

बौद्ध साहित्य में अंगुत्तरनिकाय इस प्रकार का ग्रंथ है।

स्थानांग सूत्र में दस अध्ययन हैं तथा ७८३ सूत्र हैं । आचार्य अभयदेवसूरि ने इस पर संस्कृत में टीका लिखी।

४) समवायांगसूत्र

यह चौथा अंग हैं। स्थानांग सूत्र की तरह इसमें भी संख्याओं के आधार पर वर्णन है। स्थानांग सूत्र में दस तक की संख्या ली गई है। इसमें एक से लेकर कोटानुकोटी संख्या तक की वस्तुओं का उल्लेख है। द्वादशांगी की संक्षिप्त हुण्डी भी इसमें उल्लेखित है। ज्योतिषचक्र दंडक शरीर, अवधिज्ञान, वेदना, आहार, आयुबंध, संहनन, संस्थान, तीनों कालों के कुलकर, वर्तमान चौबीसी, चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि नाम उनके मातापिता के पूर्व भव के नाम तीर्थंकरों के पूर्व भवों के नाम तथा ऐरावत क्षेत्र की चौबीसी आदि के नाम भी बतलाये गये हैं। यह गहन ज्ञान का खजाना है। अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी। इस सूत्र में धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, कषाय, कर्म प्रकृति वेदन दर्शनावरण की प्रकृतियाँ, मोहनीय कर्म की सत्ता, कर्मविपाक, मोहनीय कर्म प्रकृति की स्थिति आदि विषयों का निरुपण है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र)

व्याख्या का अर्थ विश्लेषण और प्रज्ञप्ति का अर्थ प्ररूपणा होता है। इस सूत्र में जीवादि व्याख्याओं की प्ररूपणा या विवेचन है। इसलिए इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है।

ये व्याख्यायें प्रश्नोत्तरों के रूप में हैं। इस पांचवे अंग में एक श्रुतस्कंध है, ४१ शतक और १००० उद्देशक हैं। इसमें छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर हैं। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम भगवान से जैन सिद्धांतों के बारे में प्रश्न करते हैं।

इस सूत्र में कुछ ऐसे भी संवाद हैं जिनमें अन्य मतवादियों के साथ भगवान महावीर का वाद-विवाद या वार्तालाप उद्धृत है। इस सूत्र में ऐसे प्रसंग भी हैं जिससे भगवान महावीर के विषय में ज्ञात होता है। इसमें भगवान के लिए वेसालिय सावय- वैशालिक श्रावक शब्द आया है। जिससे यह प्रकट होता है कि भगवान महावीर वैशाली के थे। अनेक स्थलों पर ऐसे वर्णन आते हैं जहाँ भगवान पार्श्वनाथ के शिष्यों ने चातुर्याम धर्म को छोडकर भगवान महावीर के पंच महाव्रत धर्म को अंगीकार किया।

इस सूत्र में गोशालक का विस्तार से वर्णन है। नौ मल्ली और नौ लिच्छवी गण राज्यों का इसमें उल्लेख है। उदायन, मृगावती, जयंती आदि भगवान महावीर के अनुयाइयों की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र प्रथम खंड के प्रथम उद्देशक में अपर्वन, संक्रमण, निघत्त, निकाचना आदि का वर्णन आया है। अष्ट कर्मों की बंध स्थिति, कर्म की

स्थिति दो प्रकार की, वेदनीय कर्म की स्थिति, आयुष्यबंध के संबंध में प्ररुपणा, पांच ज्ञान का स्वरूप, कर्म प्रकृति के संबंध में निर्देश, कर्म और आत्मा का संबंध एर्यापथिक और सांपरायिक क्रिया संबंधी चर्चा, कर्मफल वेदना, अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबंध के कारणों का निरुपण, अल्पायु और दीर्घायु के कारणों का रहस्य आदि कर्म संबंधी अनेक विषयों का निरुपण है।

अंग, बंग, माल्य, मालवय आदि सोलह जनपदों का इसमें उल्लेख मिलता है। इस सूत्र में जैन सिद्धांत, आचार और इतिहास संबंधी इतना विस्तार से वर्णन है कि इस एक आगम के अध्ययन से अध्येता को जैन धर्म का यथेष्ट ज्ञान हो सकता है। इस पर आचार्य अभयदेव सूरि ने टीका लिखी है।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र

यह छट्ठा अंग है। इसको 'नायधम्मकहा' ज्ञातधर्मकथा भी कहा जाता है। ज्ञात का अर्थ है उदाहरण, इसमें उदाहरण और धार्मिक कथायें हैं। धर्म के सिद्धांत आचार आदि का इसमें विवेचन है। विद्वानों ने भाषा, वर्णन, शैली आदि की दृष्टि से इसे प्राचीनतम आगमों में माना है।

इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं और दूसरे में दस वर्ग हैं। आचार्य अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी।

७) उपासकदशांगसूत्र

यह सातवां अंग है। अंग सूत्रों में यह एक ऐसा आगम है जिसमें श्रावकों के जीवन का, व्रतों का विस्तार से विवेचन है। इसमें दश अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन में एक एक श्रावक का जीवन वृत्तांत दिया गया है।

इसमें प्रथम अध्ययन में आनंद श्रावक का वृत्तांत है। जो भगवान महावीर का परम भक्त था। उसकी संपत्ति, परिवार, व्यापार, रहन, सहन आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिनमें हमें उस समय के लोक जीवन का परिचय प्राप्त होता है। यह भी ज्ञात होता कि विपुल संपत्ति के स्वामी होते हुए भी धर्म के प्रति बहुत आकृष्ट रहते थे। धर्माचरण और धर्मोपासना में रुचि लेते थे। उनके जीवन में धार्मिकता, पारिवारिकता, सामाजिकता का बडा सुंदर समन्वय था।

भगवान महावीर से आनंद श्रावक ने जिस प्रकार व्रत ग्रहण किये वह प्रसंग बडा ही उद्‌बोधप्रद है। वहाँ प्रत्येक व्रत का तथा उसके अतिचारों का विशद वर्णन किया है। आनंद श्रावक ने संपत्ति, भोगोपभोग आदि में जो अपवाद रखे, उनमें उसके जीवन की सरलता,

सादगी और बुद्धिमत्ता प्रगट होती है।

अन्य श्रावकों का जीवन भी बहुत उन्नत था। धर्म पालन में विध्न आने पर भी उन्होंने धर्म का परित्याग नहीं किया। आचार्य अभयदेवसूरि ने इस पर टीका की रचना की।

८) अन्तकृत्दशांगसूत्र

जैसे उपासकदशांग सूत्र में उपासकों की कथायें हैं। उसी प्रकार इसमें संसार का अंत करने वाले केवलियों की कथायें हैं, इसलिए इसका नाम अन्तकृत्दशांग सूत्र है।

इसमें जो कथायें आयी हैं, वे प्राय: एक जैसी शैली में लिखी गई हैं। वहाँ कथाओं के कुछ अंश का ही वर्णन किया गया है। बाकी के अंश व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र से या ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र से लेने का संकेत किया गया है। इसमें श्रेणिक की कालि आदि रानियों द्वारा की हुई तपस्या का वर्णन है।[८०] इसमें कुल नब्बे मोक्षगामी जीवों का वर्णन है।

९) अनुत्तरौपपातिकसूत्र

ये नववा अंग है। इसमें अपने पुण्यप्रभाव से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट महापुरुषों का वर्णन है। इसमें उपासकदशांग और अंतकृत्दशांग की तरह इसमें भी पहले भी दस अध्ययन थे, किन्तु अब कुल तीन वर्ग बाकी रह गये हैं। सर्वत्र एक सी शैली है।

इसमें कांकदी नगरी के धन्ना सेठ के दीक्षा ग्रहण कर अत्यंत कठिन तपस्या कर शरीर दमन किया, वे एकावतारी होकर मोक्ष जायेंगे यह सारा वर्णन इसमें है। आचार्य अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी।[८१]

१०) प्रश्नव्याकरणसूत्र

यह दशवा अंग है। प्रश्न तथा व्याकरण इन दो शब्दों से बना है। प्रश्न का अर्थ पूछना या जिज्ञासा करना है। व्याकरण का अर्थ व्याख्या करना या उत्तर देना है। वर्तमान काल में इस सूत्र का जो हमें रूप प्राप्त होता है उसमें कहीं भी प्रश्नोत्तर नहीं हैं। केवल आस्त्रवद्वार और संवरद्वार रूप में वर्णन प्राप्त होता है।[८२] आस्त्रवद्वार में प्राणातिपातविरमण आदि पांच संवरों का वर्णन है।

स्थानांग और नंदीसूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र में विषयों का जो उल्लेख हुआ है। वर्तमान में इस सूत्र का जो रूप उपलब्ध है, उसमें वे विषय प्राप्त नहीं होते, ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्राचीन रूप विच्छिन्न हो गया।

वर्तमान रूप में हिंसादि आस्त्रव द्वारों का तथा अहिंसादि संवर द्वारों का जो वर्णन इसमें प्राप्त होता है। वह हिंसा, अहिंसा आदि तत्त्वों को विषद रूप में समझने में बहुत उपयोगी है। आचार्य अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी है।

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि म. ने प्रश्नव्याकरण सूत्र की प्रस्तावना में लिखा है कि, वर्तमान प्रश्नव्याकरण भगवान महावीर के प्रश्नों के उत्तरों का आंशिक भाग है।[८३]

११) विपाकसूत्र

विपाक का अर्थ फल या परिपाक है। इसमें पापों और पुण्य के विपाक या फल का वर्णन है। इसलिए यह विपाक के नाम से प्रसिद्ध है। स्थानांग के अनुसार इसमें दस अध्ययन हैं। जो दो श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं। पहला श्रुतस्कंध दु:ख विपाक, और दूसरा सुख विपाक के नाम से प्रसिद्ध है। कर्म सिद्धांत जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत है। उसका दार्शनिक विश्लेषण उदाहरणों द्वारा इस आगम में दिया है। पहले विभाग में दुष्कर्म करनेवाले व्यक्ति के जीवन का वर्णन है। हिंसा, चोरी, अबह्मचर्य इत्यादि दुष्कर्मों से भयंकर अपराध करते हैं। अपने दुष्कर्म के कारण उनको कर्म फल भोगना पडता है। इसमें पाप के कटुफल दिखाकर विश्व को संदेश दिया कि बुरे कर्मों का फल बुरा मिलता है यह जानकर बुरे कर्मों को त्यागना चाहिए।

विपाकसूत्र के दूसरे विभाग में सत्कर्म करने वाले व्यक्तियों के जीवन का वर्णन है जिन्होंने अपने कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया है। यह वर्णन इस सूत्र में आया है। गणधर गौतम संसार के बहुत से दु:खित लोगों को देखकर भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं तथा भगवान महावीर उसके उत्तर देते हैं। पाप कर्मों के परिणाम स्वरूप प्राणी किस प्रकार कष्ट पाते हैं? तथा पुण्यों के परिणाम स्वरूप सुख भोगते हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ इस सूत्र में विषद् विवेचित हैं। आचार्य अभयदेवसूरि ने इस पर टीका की रचना की।

इस प्रकार आचार्य अभयदेवसूरि ने तृतीय अंग सूत्र समवायांग सूत्र से लेकर विपाक सूत्र तक नौ अंगों की टीकायें लिखी। इसलिए जैन जगत् में नवांगी टीकाकार के नाम से प्रसिद्ध हैं।

जैसे पहले सूचित किया गया है, बारहवाँ अंग दृष्टिवाद लुप्त हो गया, इसलिए उसका संकलन नहीं किया जा सका।

१२) दृष्टिवाद

यह बारहवा अंग हैं। दृष्टि का अर्थ दर्शन तथा वाद का अर्थ चर्चा या विचार विमर्श है। इसमें विभिन्न दर्शनों की चर्चा रही होगी। दृष्टिवाद इस समय लुप्त है।

उपांग परिचय

'उप' उपसर्ग समीप का द्योतक है। जो अंगों के समीप होते हैं अर्थात् उनके पूरक होते हैं वे उपांग कहलाते हैं। चार वेदों के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त तथा ज्योतिष

ये छह अंग माने गये हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र ये उपांग माने गये हैं।

जैन परंपरा में भी बारह उपांगों की तरह बारह अंगों की भी मान्यता है किन्तु प्राचीन आगम ग्रंथों में इस संबंध में उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अंगों की रचना या संग्रंथ गणधरों द्वारा की गई और उपांगों की रचना स्थविरों ने की। विषय आदि की दृष्टि से इनका कोई विशेष संबंध प्रतीत नहीं होता। जैसे अंगों में सामान्यत: तत्त्व और आचार का वर्णन है। उपांगों में भी उसी विषय पर भिन्न भिन्न रूपों में चर्चा की गई है।

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी ने बारहवीं शताब्दि के पूर्व हुए आचार्य श्रीचंद्र और तेरहवी शताब्दी के बाद के और चौदहवी शताब्दी के प्रथम चरण में हुए आचार्य जिनप्रभ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि- अंगबाह्य को उपांग के स्वरूप में स्वीकार किया है।[८४]

१) औपपातिकसूत्र

यह पहला उपांग है। उपपात का अर्थ जन्म या उत्पत्ति होता है। इससे औपपातिक शब्द बना है। इस आगम में देवों तथा नारकों में जन्म लेने का अथवा साधकों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का वर्णन है। इसलिए यह औपपातिक कहा जाता है।

गणधर गौतमस्वामी ने जीव, अजीव, कर्म आदि के संबंध में भगवान महावीर से प्रश्न किये। भगवान महावीर ने उत्तर दिये। इस प्रकार तत्त्वज्ञान संबंधी, अनेक विषय इसमें हैं। भगवान महावीर के समय में जो जैनेत्तर संप्रदाय प्रचलित थे। उन वानप्रस्थी तापसों, श्रमणों परिव्राजकों, आजीविकों तथा निन्हवों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

इसमें नगर, राजा आदि का जो वर्णन है वह सामान्य है। दूसरे आगमों में जहाँ भी ये विषय आते हैं वहाँ प्राय: औपपातिक सूत्र में आये हुए वर्णनों से लेने का संकेत है।

२) राजप्रश्नीयसूत्र

यह दूसरा उपांग है। इसमें परदेशी (प्रदेशी) राजा और भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के मुनि केशीकुमार श्रमण के प्रश्नोत्तर हैं। परदेशी राजा नास्तिक था। आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि में विश्वास नहीं करता था।

केशीकुमार श्रमण ने न्याय और युक्तिपूर्वक तत्त्व समझाये। परदेशी राजा के विचार में परिवर्तन आया और नास्तिक से आस्तिक बन गये।

इस सूत्र में कला, शिल्प आदि का वर्णन है। ७२ कलाओं का उल्लेख है। कंबोज देश के अश्व आदि का वर्णन है। आचार्य मलयगिरि ने बारहवीं शताब्दी में इस पर टीका की रचना की।

३) जीवाजीवाभिगमसूत्र

यह तीसरा उपांग है। इसमें गणधर गौतम और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तरों के रूप में जीव एवं अजीव तत्त्वों के भेद-प्रभेदों का अभिगम-विस्तृत विवेचन है। इस सूत्र में नौ प्रकरण या प्रतिपातियाँ हैं जिनमें २७२ सूत्र हैं।

तृतीय प्रकरण सबसे विस्तृत है। उसमें द्वीपों, सागरों का वर्णन है। रत्न, अस्त्र, धातु मध, पात्र, आभूषण, भवन, मिष्टान्न, दास, पर्व जन्य त्यौहार, उत्सव, यान आदि का वर्णन है।

आचार्य मलयगिरिने इस पर टीकाकी रचना की। आचार्य हरिभद्रसूरि और आचार्य देवसूरि ने इस पर लघुवृत्तियों की रचना की।

४) प्रज्ञापनासूत्र

यह चौथा उपांग है। प्रज्ञापना का अर्थ विशेष रूप में ज्ञापित करना, ज्ञान करना या समझाना है। इसमें ३४९ सूत्र हैं। जिनमें प्रज्ञापना, स्थान, लेश्या, समुद्घात आदि छत्तीस पदों का विवेचन है। गणधर गौतम ने प्रश्न किये हैं और भगवान महावीर ने उत्तर दिये हैं।

अंग सूत्रों में जिस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र सबसे विशाल है उसी प्रकार उपांग सूत्रों में प्रज्ञापना सूत्र सबसे बडा हैं। इसकी रचना वाचक वंशीय पूर्वधारी आर्य श्याम ने की। ऐसा माना जाता है कि वे सुधर्मा स्वामी की तेइसवीं पीढी में हुए। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस विषम- कडे पदों की व्याख्या करते हुए प्रदेश व्याख्या नामक लघु वृत्ति की रचना की। इसके आधार पर आचार्य मलयगिरि ने टीका लिखी। इसके पहले पद में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वृक्ष, बीज, गुच्छ, लता, तृण, कमल, कंद, मूल, मगर, मत्स्य, सर्प, पशु, पक्षी आदि का वर्णन है। इसमें आर्य देश, जाति, आर्य कुल तथा शिल्प आर्य आदि का उल्लेख है। ब्राह्मी, खरोष्टी आदि लिपियों की भी चर्चा है।

प्रज्ञापनासूत्र में कषाय और उसके प्रकार कषाय की उत्पत्ति के चार-चार कारण कषाय के भेद-प्रभेद १) कषायों से अष्ट कर्म प्रकृतियों की प्ररूपणा, २) मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद प्रभेदों की प्ररूपणा, ३) आठ कर्म प्रकृतियों का स्वरूप, ४) कति स्थान कर्मबंध द्वार।

५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

यह पाँचवाँ उपांग है। यह पूर्वार्ध उत्तरार्ध इन दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में चार तथा उत्तरार्ध में तीन वक्षष्कार हैं। वे १७६ सूत्रों में विभक्त हैं। पहले वक्षष्कार में जंबूद्वीप में

स्थित भरतक्षेत्र का वर्णन है। अनेक पर्वत, गुफायें, नदियाँ, दुर्गम स्थान, अटवी आदि का भी वर्णन है।

दूसरे वक्षष्कार में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के छह छह भेदों का विवेचन हैं। सुषम-दुषमा नामक तीसरे काल में पंद्रह कुलकर हुए। उनमें नाभि कुलकर की मरूदेवी नामक पत्नी से आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। वे कोशलदेश के निवासी थे। प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर तथा प्रथम धर्मवर चक्रवर्ती-धर्म पर चतुर्गत चक्रवर्ती कहे जाते थे।

उन्होंने कलाओं एवं शिल्पों का उपदेश दिया। तदनंतर अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर उन्होंने श्रमण धर्म में प्रव्रज्या स्वीकार की। उन्होंने अपने तपोमय जीवन में अनेक उपसर्ग कष्ट सहन किये। पुरिमताल नामक नगर के उद्यान में उन्हें केवलज्ञान हुआ। अष्टापद पर्वत पर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। तीसरे वक्षष्कार में भरतचक्रवर्ती और उनकी दिग्विजय का विस्तार से वर्णन है। अष्टापद पर्वत पर भरत चक्रवर्ती को निर्वाण प्राप्त हुआ।

आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीका लिखी, किंतु वह लुप्त हो गई। उसके बाद इस पर और टीकायें लिखी गईं। बादशाह अकबर ने जिनको गुरु रूप में आदर दिया। उन आचार्य हरिविजयसूरि के शिष्य शांतिचंद्र वाचक ने वि. स. १६५० में इस सूत्र पर प्रमेयरत्नमंजूषा नामक टीका लिखी।

७) सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति .

ये छट्ठे-सातवें उपांग हैं। यद्यपि ये दो ग्रंथ माने जाते हैं किन्तु इनमें सारी सामग्री एक जैसी है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्रों आदि का इसमें विस्तार से वर्णन है। सूर्य प्रज्ञप्ति के प्रारंभ में मंगलाचरण की चार गाथायें हैं चंद्रप्रज्ञप्ति में वे नहीं हैं। शेष सामग्री में कुछ भी अंतर नहीं है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से एक आगम लुप्त हो गया। उपांगों की संख्या पूर्ति की दृष्टि से दो आगमों की मान्यता प्रचलित हुई। आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीकाकी रचना की।

८) निरयावलिका-कल्पिका

इसमें १) निरयावलिका, २) कल्पिका, ३) कल्पावतंसिका, ३) पुष्पिका, ४) पुष्प-चूलिका तथा ५) वृष्णिदशा इन पाँच अंगों का समावेश है। ऐसा माना जाता है कि पहले ये पाँचों एक ही सूत्र के रूप में माने जाते थे। किंतु आगे चलकर बारह अंगों और उपांगों का संबंध जोडने के लिए इन्हें पृथक् पृथक् गिना जाने लगा।[८५] इनमें आर्य जंबू के प्रश्न और गणधर सुधर्मा के उत्तर हैं।

निरयावलिका सूत्र में दस अध्ययन हैं। पहले अध्ययन में कोणिक-अजातशत्रु का जन्म, बडे होने पर उसके द्वारा अपने पिता श्रेणिक को कारागृह में डालना, स्वयं राजसिंहासन पर बैठना, श्रेणिक द्वारा आत्महत्या, कोणिक और वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष, चेटक के संग्राम आदि का वर्णन है।

९) कल्पावतंसिका

यह अंतगडदशांग सूत्र का उपांग है। कल्पावतंसिका में दस अध्ययन हैं। इसमे राजा कोणिक के दस पुत्रों का वर्णन है। जिन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उग्र संयमाराधना द्वारा अंतिम समय में पंडितमरण द्वारा देवलोक में गये।

श्रेणिक कषाय के कारण नरक में जाते हैं, उनके पुत्र सत्कर्म से देवलोक में जाते हैं। उत्थान-पतन का आधार मानव के स्वयं के कर्मों पर ही निर्भर है। मानव साधना से भगवान बन सकता है और विराधना से नरक का कीडा भी बन सकता है।

१०) पुष्पिका

इसमें दस अध्ययन हैं। प्रथम और द्वितीय अध्ययन में चंद्र और सूर्य का वर्णन है। तृतीय अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण का कथानक है। इस ब्राह्मण ने वानप्रस्थ तापसों की दीक्षा अंगीकार की थी। वह दिशाओं की पूजा करता था। तथा अपनी भुजायें ऊपर उठाकर सूर्य की आतापना लेता था। चौथे अध्ययन में सुभद्रा नामक आर्यिका का वर्णन है।

११) पुष्पचूलिका

यह प्रश्न व्याकरण का उपांग है। इस उपांग में भी श्रीं, ह्रीं, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रस और गंध देवी आदि दस अध्ययन हैं। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा में दीक्षित श्रमणियों की चर्चा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें भगवान पार्श्वनाथ के युग की साध्वियों का वर्णन है।

१२) वृष्णिदशा

इसमें बारह अध्ययन हैं। पहले अध्ययन में द्वारिकानगरी तथा कृष्ण वासुदेव का वर्णन है। बावीसवे तीर्थंकर भगवान अरिष्ठनेमि संबंधी विवेचन भी इसमें है। जब भगवान अरिष्ठनेमि विचरण करते हुए रैवतक पर्वत पर आये। कृष्ण-वासुदेव गजारूढ होकर दलबल सहित दर्शन हेतु गये। वृष्णिवंश-यादववंश के बारह कुमारों ने भगवान अरिष्ठनेमि के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की।

चार मूलसूत्र : परिचय

उपांग, छेद, मूल आदि अंगों से संबंध है। मुख्य रूप से अंगों में जैन धर्म के सिद्धांत,

व्रत, विधान, आचार मर्यादा आदि का वर्णन है। उन्हीं विषयों का उपांग आदि में अपनी अपनी पद्धति से विवेचन किया गया है। आचार या महाव्रतों का सम्यक् परिपालन जैन धर्म का सबसे मुख्य आधार है। आचार ही पहला धर्म है। आचार धर्म के अभाव में चाहे कितना ही शास्त्रज्ञान हो, प्रवचन कौशल्य हो, उनका कोई महत्त्व नहीं माना जाता। सबसे पहले मूल की रक्षा आवश्यक है। मूल के नाम से प्रसिद्ध सूत्रों में जैन धर्म मूल रूप आचार पर प्रकाश डाला गया है। एक साधु का आचार अखंडित रहे, उसमें जरा भी स्खलना न आये, इस ओर इन सूत्रों में विशेष ध्यान दिया गया है। इनका अध्ययन प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए अत्यंत आवश्यक माना जाता है।

पहले आगमों का अध्ययन आचारांग से शुरु होता था, परंतु जब से आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र की रचना की तब से सर्व प्रथम दशवैकालिक के अध्ययन करने की परंपरा शुरु हुई और उसके बाद उत्तराध्ययन आदि सिखाया जाता है।[८६]

१) दशवैकालिकसूत्र

यह पहला मूलसूत्र है। ऐसी मान्यता है कि- काल से निवृत्त होकर अर्थात् दिन के अपने सभी कार्यों को भलीभांति संपन्न कर, विकाल में संध्याकाल में इसका अध्ययन किया जाता था, इसलिए यह दशवैकालिक कहा गया है। इसकी रचना के बारे में जैन समाज में एक कथानक प्रचलित है।

शय्यंभव नामक एक ब्राह्मण विद्वान थे। जिन्होंने कालांतर में जैन श्रमण दीक्षा स्वीकार की। उनका मनक नामक बालक पुत्र भी उनके पास दीक्षित हो गया। अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा शय्यंभव ने यह जाना कि- बालक मनक का आयुष्य छह महिने का है। उसे श्रुत का बोध कराने हेतु आगमों के सार रूप में दशवैकालिक सूत्र की रचना की। बालक ने उसका अध्ययन कर आत्मकल्याण किया।

इस सूत्र में दस अध्ययन हैं। अंत में दो चूलिकायें हैं। ऐसा माना जाता है कि- इन दोनों चूलिकाओं की रचना आचार्य शय्यंभव ने नहीं की ये बाद में मिलाई गई हैं। आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति की रचना की। अगस्त्यसिंह और जिनदासगणि महत्तर ने चूर्णि लिखी। आचार्य हरिभद्रसूरि ने टीका की रचना की। दशवैकालिकसूत्र में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से आत्मा के पूर्ण विकासक्रम का वर्णन है।

तिलकाचार्य, सुमतिसूरि तथा विनय हंसादि विद्वानों ने इस पर वृत्तियाँ लिखीं। यापनीय संघ के आचार्य अपराजितसूरि ने जो विजयाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे; इस पर उन्होंने विजयोदयानामक टीका लिखी।

जर्मन विद्वान वाल्टर सुब्रिंग ने भूमिका आदि सहित तथा प्रोफेसर लायमेन ने मूलसूत्र और निर्युक्ति के जर्मन अनुवाद सहित इसे प्रकाशित किया। प्राकृत के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. पिशेल ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक को भाषा विज्ञान की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण बताया है।

२) उत्तराध्ययनसूत्र

उत्तराध्ययनसूत्र यह दूसरा मूलसूत्र है। उत्तर+अध्ययन इन दो शब्दों के मिलने से उत्तराध्ययन शब्द बना है। ऐसा माना जाता है कि- श्रमण भगवान महावीर ने अपने अंतिम चातुर्मास में अपने अंतिम समय में उपस्थित जनों को छत्तीस विषयों का उपदेश दिया, वे उत्तराध्ययन सूत्र में संगृहीत हैं। इसकी रचना अधिकांशतः पद्यात्मक शैली में है। शब्द रचना इतनी सुंदर है कि इसे धार्मिक काव्य भी कहा जा सकता है। इसमें उपमा, रूपक, दृष्टांत आदि अलंकारों का सहज रूप में प्रयोग हुआ है। जिससे वर्णित विषय बडे सरस और प्रेरक रूप में प्रगट हुए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कर्म के भेद-प्रभेद तथा शुभ-अशुभ कर्मबंध का वर्णन है। कर्मों की व्याख्या उनके लक्षण आदि अनेक बातें हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. विंटरनित्झ ने इसकी गीता, धम्मपद और सुत्तनिपात के साथ तुलना की है। इसमें जैन धर्म और दर्शन के संक्षेप में सार तत्त्व संकलित हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति की रचना की, तथा जिनदासगणि महत्तर ने चूर्णि लिखी। आ. लक्ष्मीवल्लभ, जयकीर्ति, कमलसंयम, भावविजय, विनयहंस, हर्षकूल आदि अनेक विद्वानों ने इस पर टीकायें लिखी। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान डॉ. हर्मन जेकोबी ने अंग्रेजी अनुवाद सहित इसे प्रकाशित किया।

३) नंदीसूत्र

नंदीसूत्र अन्य आगमों के साथ अर्वाचीन है। ऐसी मान्यता है कि- इसके रचनाकार देववाचक थे। उनके गुरु का नाम दूष्य गणि था। नंदी सूत्र में ९० पद्यात्मक गाथायें हैं और ६९ सूत्र हैं। प्रारंभिक गाथाओं में भगवान महावीर, धर्मसंघ एवं श्रमण वृंद का संस्तवन किया गया है। जैन स्थविरावली या जैन आचार्य परंपरा का इसमें क्रमानुबद्ध वर्णन है।

प्रथम सूत्र में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का उल्लेख है। ज्ञान के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो शास्त्राध्याताओं और जिज्ञासुओं के लिए बहुत उपयोगी है।

सम्यक् श्रुत के अन्तर्गत बारह अंगों की चर्चा है। यह बतलाया गया है कि - वे सर्वज्ञों, सर्वदर्शियों द्वारा भाषित हैं । श्रुत के भेदों की भी कई अपेक्षाओं से चर्चा आयी है। अंग

प्रविष्ट और अंग बाह्य के रूप में उनके दो भेद बतलाये गये हैं। अंग प्रविष्ट भी आगम कहलाते हैं, जो गणधर द्वारा संकलित या प्रणीत हैं। अंग बाह्य उन शास्त्रों या ग्रंथों का नाम है जो स्थविर मुनिवृंद द्वारा रचित हैं। जिनदासगणि महत्तर ने इस पर चूर्णि तथा आचार्य हरिभद्र एवं मलयगिरि ने टीकाओं की रचना की है।

४) अनुयोगद्वार

यह सूत्र आचार्य आर्य रक्षित द्वारा रचा गया, ऐसी मान्यता है। भाषा का प्रयोग तथा विषयों के प्रतिपादन आदि की अपेक्षा से यह सूत्र काफी अर्वाचीन प्रतीत होता है। प्रश्नोत्तर की शैली में इसमें नय, निक्षेप, अनुगम, संख्यात, असंख्यात, पल्योपम, सागरोपम एवं अनंत आदि का वर्णन है। इसमें काव्यशास्त्र निरूपित नौ रस उनके उदाहरण, संगीत संबंधी स्वर, उनके लक्षण, ग्राम एवं मूर्च्छना आदि का विवेचन है। इसमें जैनेतर मतवादियों की भी चर्चा है। व्याकरण संबंधित धातु, समास, तद्धित तथा निर्युक्ति-व्युत्पत्ति आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है। विभिन्न प्रकार के कर्मकरों या व्यवसायों तथा शिल्पियों की भी चर्चा है।

इस सूत्र पर जिनदास महत्तर ने चूर्णिका की रचना की आचार्य हरिभद्र तथा मलधारी हेमचंद्र ने टीकाओं की रचना की।

चार छेदसूत्र : परिचय

सबसे पहले 'छेदसूत्र' इस शब्द का प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति इसमें मिलता है।[८७] इसमें पहले के कोई भी प्राचीन साहित्य में 'छेदसूत्र' नाम नहीं आया। इसके बाद आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाक्षमण इन्होंने विशेषावश्यक भाष्य में[८८] इसी प्रकार संघदासगणिने निशीथभाष्य[८९] इस ग्रंथ में ध्येय सूत्र का उल्लेख किया है।[९०]

छेदसूत्र जैन आगमों का प्राचीनतम भाग है। अतः अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन सूत्रों में साधु-साध्वियों के प्रायश्चित के विधि विधानों का प्रतिपादन है। यह सूत्र चारित्र की शुद्धि स्थिर रखने में हेतु भूत हैं। इसलिए इसे उत्तमश्रुत कहा जाता है।

इन सूत्रों में साधु-साध्वियों के आचार, विचार संबंधी नियमों का वर्णन है। जिनके नियमों का भगवान महावीर ने और उनके शिष्यों ने देश काल की स्थितियों के अनुसार साधु संघ के लिए निश्चित-निर्धारित किया था।

बौद्ध धर्म के तीन पिटकों में पहले विनय पिटक के साथ इनकी तुलना की जा सकती है, बौद्धधर्म में जैसा पहले संकेत किया गया है, विनय शब्द आचार या चारित्र के अर्थ में है। वहाँ भिक्षुओं के नियमोपनियम वर्णित हैं।

आचार्य के लिए छेदसूत्रों का गहन अध्ययन बताया गया है। इनका अध्ययन किये बिना आचार्य या उपाध्याय जैसे महत्त्वपूर्ण पदों का कोई अधिकारी नहीं हो सकता है। छेदसूत्र संक्षिप्त शैली में रचे गये हैं। १) व्यवहारसूत्र, २) बृहत्कल्पसूत्र, ३) निशीथ सूत्र, ४) दशाश्रुतस्कंध- ये चार छेद सूत्र माने जाते हैं। कतिपय विद्वानों ने निशीथसूत्र, महानिशीथ, व्यवहारसूत्र, दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र (बृहत्कल्प) तथा पंचकल्प-जीतकल्प, ये छह छेदसूत्र माने हैं।

१) व्यवहारसूत्र

व्यवहारसूत्र छेदसूत्रों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसे बारह अंगों का नवनीत कहा गया है। इसके रचनाकार आचार्य भद्रबाहु थे। उन्होंने इस पर निर्युक्ति की रचना की। व्यवहार सूत्र पर भाष्य भी प्राप्त होता है, किंतु उसके रचयिता का नाम अज्ञात है। मलयगिरि ने भाष्य पर विवरण लिखा है, इस पर चूर्णि भी प्राप्त होती है, जो अप्रकाशित है।

इसमें दस उद्देशक हैं। उनमें साधु द्वारा की गई भूलों के लिए प्रायश्चितों और त्रुटियों का विधान है। यदि कोई साधु गण को छोडकर चला जाये और फिर वापस चला आये तो उसे आचार्य, उपाध्याय आदि के समक्ष आलोचना, निंदा, गर्हा आदि से अपने को विशुद्ध करना चाहिए। यदि आचार्य, उपाध्याय आदि न मिले तो ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, आदि की पूर्व तथा उत्तर दिशा में अपने मस्तक पर दोनों हाथों की अंजलि रखे और मैंने ये अपराध किये हैं, इस तरह अपने अपराधों का कथन करता हुआ आलोचना करे।

आचार्य एवं उपाध्याय के लिए हेमंत तथा ग्रीष्म ऋतुओं में एकाकी विहार करने का निषेध किया गया है। वर्षाकाल में दो साधुओं के साथ विहार करने का विधान है। स्थविरों से बिना पूछे अपने पारिवारिकों, संबंधियों के यहाँ साधुओं के लिए भिक्षार्थ जाने का निषेध है। ग्राम आदि में जिस स्थल को एक दरवाजा हो, वहाँ अल्पश्रुतधारी बहुत से साधुओं के लिए रहने का निषेध है।

एक आचार्य की मर्यादा में रहनेवाले साधु साध्वियों को पीठ पीछे व्यवहार न करके प्रत्यक्ष में मिलकर भूल आदि बताकर आपस में भोजन आदि का व्यवहार करना चाहिए ऐसा विधान किया गया है। इस प्रकार और भी विधि विधानों का उल्लेख है- जो प्रायश्चित एवं आलोचना आदि से संबंधित हैं।

२) बृहत् कल्पसूत्र

यह कल्प अथवा बृहत्कल्प या कल्पाध्ययन भी कहलाता है। जो पर्युषण में पढे जाने वाले कल्पसूत्र से भिन्न है। यह जैन साधुओं का प्राचीनतम आचार शास्त्र है। निशीथसूत्र,

व्यवहारसूत्र और बृहत्कल्प की भाषा काफी प्राचीन है। इस सूत्र में कल्प-कल्प योग्य या कल्पनीय, अकल्प, अकल्पनीय स्थान, कपडे, पात्र उपकरण आदि का इसमें विवेचन है। इस कारण इसका नाम कल्प है। इसमें छह उद्देशक हैं।

आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत में प्रायश्चित का विधान किया गया है। कालक्रम से पूर्वों का पठन-पाठन बंद हो गया, जिससे प्रायश्चित्तों का उच्छेद हो गया, अतः आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने बृहत् कल्पसूत्र और व्यवहार सूत्र की रचना की। तथा इन दोनों छेदसूत्रों पर निर्युक्ति लिखी।

बृहत् कल्प पर संघदासगणि क्षमाश्रमण ने लघु भाष्य की रचना की। भाष्य पर मलयगिरि ने विवरण लिखा, जो अपूर्ण रहा। जिसे लगभग सव्वा दो सौ वर्ष पश्चात् संवत् १३३२ में क्षेम कीर्ती सूरि ने पूर्ण किया। इसमें कल्पनीय एवं अकल्पनीय वस्तुओं के ग्रहण करने का और न करने का उल्लेख किया गया है। साधु-साध्वियों को किस प्रकार बोलना चाहिए। भोजन, पान आदि के संबंधित क्रिया, मर्यादा, नियम आदि विषयों का समीचीन रूप में वर्णन किया गया है।[९१]

आगम गृह

सार्वजनिक स्थान, खुले हुए घर, घर के बाहर का चबूतरा, वृक्षमूल आदि के स्थानों में साध्वियों को रहने का निषेध है। इस प्रकार चारित्र पालन में उपयोगी नियमों का वर्णन है।

३) निशीथसूत्र

छेदसूत्रों में निशीथ सूत्र सबसे बडा है। जिसका स्थान सर्वोपरि माना गया है। इसे आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की पांचवी चूला मानकर आचारांग का ही एक भाग माना जाता है। इसे निशीथ चूला अध्ययन माना जाता है। इसका दूसरा नाम आचार कल्प है। निशीथ का अर्थ अर्धरात्रि या अप्रकाश कहा गया है, जैसे रहस्यमय विद्या, मंत्र एवं योग को प्रकट नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार निशीथ सूत्र को अर्धरात्रि के तुल्य अप्रकाश्य या गोपनीय रखना चाहिए, क्योंकि इसमें साधु-साध्वियों को उनके जीवन से संबंधित होनेवाली भूलों की जानकारी दी गई है, उन्हीं को जानना चाहिए तथा अपनी आत्मा का परिष्कार करना चाहिए।

यदि कोई साधु कदाचित् निशीथसूत्र को भूल जाये तो वह आचार्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। इस सूत्र में साधुओं के आचारसंबंधी उत्सर्गविधि और अपवाद विधि का तथा प्रायश्चित आदि का सूक्ष्म विवेचन है। ऐसा माना जाता है कि - नौवें प्रत्याख्यान नामक पूर्व के आधार पर इस सूत्र की रचना हुई।

इस सूत्र के २० उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में अनेक सूत्र हैं। सूत्रों पर निर्युक्ति है, सूत्रों और निर्युक्ति पर संघदासगणि का भाष्य है। सूत्र, निर्युक्ति और भाष्य पर जिनदासगणी महत्तर ने चूर्णि की रचना की।

४) दशाश्रुतस्कंधसूत्र

यह चौथा छेदसूत्र हैं। इसको आचारदशा भी कहा जाता है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। इस पर निर्युक्ति प्राप्त होती है। जैसे बतलाया गया है- जैन परंपरा में भद्रबाहु नामक एकाधिक अनेक आचार्य हुए हैं। विद्वानों का ऐसा मंतव्य है कि- जिन भद्रबाहु ने छेदसूत्रों की रचना की। निर्युक्तिकार भद्रबाहु इनसे भिन्न हैं।

दशाश्रुतस्कंध पर चूर्णि की भी रचना हुई। ब्रह्मर्षी पार्श्वचंद्रीय ने वृत्ति या टीका की रचना की। इस ग्रंथ में दस विभाग हैं। आठवें और दशवें विभाग को अध्ययन कहा गया है और बाकी के विभागों को दशा कहा गया है। इनमें असमाधि के स्थानों की चर्चा की गई है। अनाचरण, रात्रिभोजन, राजपिंडग्रहण आदि का वर्णन किया गया है। उनमें और दो सौ प्रायश्चितों का वर्णन है। आठ प्रकार की गणि संपदाओं या गणाधिपति आचार्य के व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। जैसे आचार संपदा, श्रुतसंपदा, शरीरसंपदा, वचनसंपदा, वाचना संपदा, मतिसंपदा, प्रयोग मतिसंपदा तथा संग्रह संपदा।[९२]

भगवान महावीर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान तथा मोक्ष का वर्णन विस्तार से है। एक प्रसंग में महामोहनीय कर्मबंध के तीस स्थानों का प्रतिपादन हैं।

इस प्रकार साधु जीवन में आशंकित दोष, उनका निराकरण, उनकी आलोचना प्रायश्चित इत्यादि के साथ साथ जैन आचार विद्याओं और मर्यादाओं का विभिन्न प्रसंगों में बडा विशद विवेचन हुआ है।

आवश्यकसूत्र

आवश्यक शब्द अवस्य से बना है। जहाँ किसी कार्य को किये बिना रहना उचित नहीं माना जाता। किसी भी स्थिति में टाला नहीं जाता। उसे अवश्य किया जाता है। आवश्यकसूत्र में साधुओं को करणीय छह आवश्यक क्रिया/अनुष्ठानों या नित्य कर्मों का विवेचन है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कार्योत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान ये छह आवश्यक, अवश्य करणीय अनुष्ठान हैं।

आचार्य हरिभद्र ने इस पर निर्युक्ति का प्रणयन (रचना) की है। इस पर आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण गणि ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना की, जो तत्त्व एवं आचार विषयक सिद्धांतों के निरूपण की दृष्टि से जैन साहित्य में बहुत ही प्रसिद्ध है।

जिनदासगणी महत्तर ने इस पर चूर्णि की रचना की। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अध्ययनशील जिज्ञासु मुनियों को उद्दिष्ट कर टीका का सर्जन किया। टीका का नाम शिष्यहिता है, अर्थात् वह पढनेवाले शिष्यों या विद्यार्थियों के लिए बहुत लाभप्रद है। इस टीका में रचनाकार ने छह आवश्यकों का पैंतीस अध्ययनों में विवेचन किया है।

वर्ण्य विषयों का हृदयंगम कराने हेतु टीकाकार ने प्राकृत एवं संस्कृत की अनेक प्राचीन कथाओं का समावेश किया है।

आचार्य मलयगिरि ने भी इस पर टीका की रचना की। आचार्य माणिक्यशेखर सूरि ने इसकी निर्युक्ति पर दीपिका लिखी। तिलकाचार्य ने भी इस पर लघुवृत्ति याने संक्षिप्त टीका की रचना की। इस पर इतने आचार्यों द्वारा टीकाओं की रचना से यह सिद्ध होता है कि इस सूत्र का साधकों के जीवन में अत्यंत महत्व माना जा रहा हैं। आगमों का यह संक्षेप में परिचय है।

प्रकीर्णक आगम साहित्य

श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदाय में पैंतालीस आगम स्वीकृत हैं। श्वेतांबर स्थानकवासी एवं तेरापंथी संप्रदाय द्वारा पूर्व में विवेचित ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार छेद, चार मूल और एक आवश्यक। ऐसे बत्तीस आगम प्रामाणिक रूप से स्वीकार किये जाते हैं। इन्हीं बत्तीस आगमों को मूर्तिपूजक संप्रदाय भी मानते हैं किंतु वे मूलसूत्र में पिंडनिर्युक्ति- जिसका दूसरा नाम ओघनिर्युक्ति, छेदसूत्र में महानिशीथ, पंचकल्प और दस प्रकीर्णक ऐसे तेरह आगम और अधिक मानते हैं।

नंदीसूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं। प्रकीर्णक का आशय इधर उधर बिखरी हुई सामग्री या विविध विषयों के संग्रह से है।

श्रमण भगवान महावीर के तीर्थ में १४००० प्रकीर्णक माने जाते थे किंतु वर्तमान में इसकी संख्या दस हैं। वे इस प्रकार है-

१) चतुःशरण, २) आतुर प्रत्याख्यान, ३) महा-प्रत्याख्यान,
४) भक्तपरिज्ञा, ५) तंदुलवैचारिक, ६) संस्तारक,
७) गच्छाचार, ८) गणिविद्या, ९) देवेन्द्रस्तव,
१०) मरणसमाधि अन्यत्र वीरत्थो नाम भी है।

किंतु इन नामों में भी एकरूपता दिखाई नहीं देती है। कहीं ग्रंथों में मरणसमाधि और गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिना है तो, किन्ही ग्रंथों में देवेन्द्र स्तव

और वीरस्तव को सम्मिलित कर लिया गया है किंतु सस्तारक की परिगणना न कर उसके स्थान पर कहीं गच्छाचार और कहीं मरणसमाधि का उल्लेख करते हैं।[९३]

जैन पारिभाषिक दृष्टि से प्रकीर्णक उन ग्रंथों को कहा जाता है जो तीर्थंकरों के शिष्य उद्बुद्धचेता श्रमणों द्वारा आध्यात्म संबंध विविध विषयों पर रचे गये हैं।

ऐसा कहा जाता है कि जिन-जिन तीर्थंकरों को औत्पातिकी, वैनेयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धि से युक्त जितने भी शिष्य होते हैं, उनके भी उतने भी प्रकीर्णक ग्रंथ होते हैं।

प्रत्येक बुद्ध प्रव्रज्या देनेवाले की दृष्टि से किसी के शिष्य नहीं होते पर तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्मशासन की प्ररूपणा करने की अपेक्षा से अथवा उनके शासन के अन्त:वर्ती होने से वे औपचारिकता से तीर्थंकरों के शिष्य कहे जाते हैं अत: प्रत्येक बुद्धों द्वारा प्रकीर्णक की रचना करना युक्ति संगत है।

वर्तमान के मान्य दस प्रकीर्णकों में से एक-एक का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर किया जा रहा है।

१) चउसरण (चतु:शरण) प्रकीर्णक

जैन परंपरा में अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म को शरणभूत माना जाता है। इन्हीं चार शरण के आधार पर इस प्रकीर्णक का नाम चतु:शरण रखा गया।[९४]

इस प्रकीर्णक के आरंभ में षडावश्यक पर प्रकाश डाला गया है उसमें लिखा है।

१) सामायिक आवश्यक से चारित्र की शुद्धि होती है।

२) चतुर्विंशति जिनस्तवन से दर्शन की विशुद्धि होती है।

३) वंदना से ज्ञान में निर्मलता आती है।

४) प्रतिक्रमण से ज्ञान आदि रत्नत्रय की विशुद्धि होती है।

५) कायोत्सर्ग से तप की शुद्धि होती है और प्रतिक्रमण से चारित्र की शुद्धि न हुई हो उसकी शुद्धि कायोत्सर्ग से होती है।

६) पच्चक्खाण से वीर्य की विशुद्धि होती है।

तदन्तर तीर्थंकर की माता स्वप्न देखती हैं उसका उल्लेख करके महावीरस्वामी को वंदन करके चार शरण स्थानों का विस्तृत विवेचन किया गया है जिसमें अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म की महत्ता बताकर, उसका गुण कीर्तन कर, पूर्व किये पापों की निंदा और सुकृत्य का अनुमोदन किया है।

२) आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान) प्रकीर्णक

यह प्रकीर्णक मरण से संबंधित है, इसके कारण इसे अन्तकाल प्रकीर्णक भी कहा गया है। इसमें बालमरण और पंडितमरण का विवेचन है, जिसकी स्थिति प्रायः आतुर अवस्था में बनती है। 'आतुर' शब्द सामान्यतः रोग ग्रस्त वाची है, संभव है इसी कारण इस प्रकीर्णक का नाम आतुरप्रत्याख्यान रखा है।[९५] आउरपच्चक्खाण पइण्णय में यही कहा है।[९६] इसमें लिखा है कि जो मृत्यु के समय धीर बनकर और आकुल व्याकुल न बनकर, प्रत्याख्यान करते हैं, वे मरकर उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं।[९७] उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही कहा है।[९८] इसमें प्रत्याख्यान को शाश्वत गति का साधन बताया गया है।

३) महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) प्रकीर्णक

इस प्रकीर्णक में पाप और दुष्चरित्र की निंदा करते हुए उनके प्रत्याख्यान पर बल दिया है। त्याग या प्रत्याख्यान को जीवन की यथार्थ सफलता का परिपोषक माना गया है। इस आधारशिला पर धर्माचरण टीका है। त्याग के महान आदर्श की उपादेयता का इसमें विशेष रूप से उल्लेख होने से इसका नाम महाप्रत्याख्यान रखा हो ऐसा प्रतीत होता है।

पौद्गलिक भोगों का मोह व्यक्ति को संयमित जीवन नहीं अपनाने देता। पौद्गलिक भोगों से प्राणी कभी तृप्त नहीं होता किंतु संसार वृद्धि होती है, इस विषय का विश्लेषण इसमें किया है तथा माया वर्जन, तितिक्षा एवं वैराग्य के हेतु पंच महाव्रत, आराधना आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

४) भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा) प्रकीर्णक

जैन धर्म में भत्तपरिज्ञा अनशनपूर्वक मरण के भेद में से एक है। आतुरप्रत्याख्यान में रुग्णावस्था में साधक आमरण अनशन स्वीकार कर पंडित मरण प्राप्त करता है। भक्त परिज्ञा की स्थिति उससे थोडी भिन्न है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें दैहिक अस्वस्थता की स्थितिका विशेष संबंध नहीं है। सद्सद् विवेकपूर्वक साधक आमरण अनशन द्वारा देह त्याग करता है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक में अन्यान्य विषयों के साथ साथ भक्तपरिज्ञा का विशेष रूप से वर्णन है, इसलिए इस प्रकीर्णक का नाम भत्त-परिज्ञा रखा गया है। इसमें इंगित और पादोपगमन मरण का भी विवेचन है, जो भक्तपरिज्ञा की तरह विवेकपूर्वक अशन-त्याग द्वारा प्राप्त किये जाने वाले मरण के भेद हैं। इस कोटि के पंडितमरण के ये तीन भेद माने गये हैं।

दर्शन विशुद्धि को भी इसमें बहुत महत्त्वपूर्ण बताया गया है। साधना की स्थिरता के लिए मनोनिग्रह की आवश्यकता का भी विवेचन है।

५) तंदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक) प्रकीर्णक

तंदुल का अर्थ चावल होता है, प्रस्तुत प्रकीर्णक में एक दिन में एक सौ वर्ष का पुरुष जितने तन्दुल खाता है, उनकी संख्या को उपलक्षित कर यह नाम करण हुआ है। इसमें जीवों का गर्भ में आहार, स्वरूप, श्वासोच्छ्वास का परिमाण, रोम-कफ, पित्त, रुधिर, शुक्र आदि का विवेचन है। साथ-साथ गर्भ का समय, माता-पिता के अंग, जीव की बालक्रीडा आदि दस दशाएँ तथा धर्म के अध्यवसाय आदि और भी अनेक संबंधित विषयों का वर्णन है। इस प्रकीर्णक में नारी का हीन रेखा चित्र भी अंकित किया है।

अनेक विचित्र व्युत्पत्तियों द्वारा नारी का कुत्सित और बीभत्स पदार्थों के रूप के चित्रित करने का अभिप्राय यही रहा हो कि- मानव, काम और कामिनी से भयाक्रांत हो जाये जिससे उसका उस ओर का आकर्षण ही मिट जाये।

इसमें जो उपमाएँ स्त्रियों के लिए दी गई हैं कि स्त्री के लिए पुरुष भी उसी प्रकार हेय हैं। अंत में कहा है जन्म, जरा, मरण एवं वेदनाओं से भरा हुआ यह शरीर है; अतः इसके द्वारा ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे संपूर्ण दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो।

६) संथारग (संस्तारक) प्रकीर्णक

जैन साधना पद्धति में संथारा-संस्तारक का अत्यधिक महत्त्व है। जीवन भर में जो भी श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ कृत्य किये हों उसका लेखा-जोखा होता है और अंतिम समय में समस्त दुष्ट प्रवृत्तियों का परित्याग करना, मन, वाणी और शरीर को संयम में रखना, ममता से मन को हटाकर समता में रमण करना, आत्मचिंतन करना, आहार आदि समस्त उपाधियों का परित्याग कर आत्मा को निर्द्वंद और निस्पृह बनाना, यही संस्तारक यानि संथारे का आदर्श है। मृत्यु से भयभीत होकर उससे बचने के लिए पापकारी प्रवृत्तियाँ करना, रोते और बिलखते रहना उचित नहीं है। जैन धर्म का यह पवित्र आदर्श है जब तक जीओ तब तक आनंद पूर्वक जीओ और जब मृत्यु आ जाये तो विवेकपूर्वक आनंद के साथ मरो। संयम साधना, तप की आराधना करते हुए अधिक से अधिक जीने का प्रयास करो और जब जीवन की लालसा में धर्म से च्युत होना पडे ऐसा हो तो धर्म व संयम साधना में दृढ रहकर समाधि मरण हेतु हँसते, मुस्कुराते हुए तैयार हो जाओ। मृत्यु को किसी भी तरह से टाला तो नहीं जा सकता, किंतु संथारे की साधना से मृत्यु को सफल बनाया जा सकता है। इस प्रकीर्णक में संस्तारक की प्रशस्तता का बडे सुंदर शब्दों में वर्णन किया गया है, जिन्होंने संस्तारक पर आसीन होकर पंडितमरण प्राप्त किया है, उनका कथन इसमें किया गया है।

जो देह त्याग करना चाहते हैं वे भूमि पर दर्भ आदि से संस्तारक अर्थात् बिछौना तैयार करके उसके पर लेटते हैं। उस बिछाने पर स्थित होते हुए साधक साधना द्वारा संसार सागर से

पार हो जाते हैं। संथारे में साधक सभी से क्षमा याचना कर कर्म क्षय करता है और तीन भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

७) गच्छायार (गच्छाचार) प्रकीर्णक

इसमें गच्छ अर्थात् समूह में रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के आचार का वर्णन है। यह प्रकीर्णक महानिशीथ, बृहत्कल्प व व्यवहार सूत्रों के आधार पर लिखा गया है। असदाचारी श्रमण गच्छ में रहता है तो वह संसार परिभ्रमण को बढाता है किंतु सदाचारी श्रमण गच्छ में रहता है तो धर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढाता है। जो आध्यात्मिक साधना में उत्कर्ष करना चाहते हैं, उन्हें जीवनपर्यंत गच्छ में ही रहना चाहिए क्योंकि गच्छ में रहने से साधना में बाधा नहीं हो सकती है।

इसमें गच्छ, गच्छ के साधु, साध्वी, आचार्य उन सबके पारस्पारिक व्यवहार, नियम आदि का विशद वर्णन है।

ब्रह्मचर्य पालन में सदा जागरुक रहने की ओर श्रमणवृंद को प्रेरित किया गया है। विषय को अधिक, स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया गया है कि दृढ चेता स्थविर के चित में स्थिरता दृढता होती है पर, जिस प्रकार धृत अग्नि के समीप रहने पर द्रवित हो जाता है उसी प्रकार स्थविर के संसर्ग से साध्वी का चित्त द्रवित हो जाये ऐसी आशंका बनी रहती है। चंदविजय (चंदविज्झय) यह गच्छाचार का दूसरा भाग है। जिसमें विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण आदि सात विषयों का विस्तार से विवेचन है।

८) गणिविज्जा (गणिविद्या) प्रकीर्णक

यह ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। गणि शब्द गण के अधिपति या आचार्य के अर्थ में है। संस्कृत में भी गणि शब्द इसी अर्थ में है किंतु इस प्रकीर्णक के नाम के पूर्वार्द्ध में जो गणि शब्द है, वह गण नायक के अर्थ में नहीं है। गणि शब्द की एक अन्य निष्पति भी है। गण् धातू के 'इन्' प्रत्यय लगाकर गणना के अर्थ में गणि शब्द बनाया जाता है। यहाँ उसी का अभिप्रेत है, क्योंकि प्रस्तुत प्रकीर्णक में गणना संबंधी विषय वर्णित हैं। इसमें दिन, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, दिवस, मुहूर्त, शकुन, बल, लग्नबल, निमित्तबल आदि ज्योतिष संबंधी विषयों का विवेचन है।

९) देविंदथओ (देवेन्द्रस्तव) प्रकीर्णक

इसमें बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ग्रंथ के प्रारंभ में कोई श्रावक भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक की स्तुति करते हुए कहता है कि तीर्थंकर बत्तीस इन्द्रों के द्वारा पूजित हैं। श्रावक की पत्नी यह सुनकर

जिज्ञासा प्रस्तुत करती है कि, 'बत्तीस इन्द्र कौन कौन से हैं? कैसे हैं? कहाँ रहते हैं? किसकी स्थिति कितनी है, भवन याने कि विमान और परिग्रह कितना है? नगर कितने हैं? वहाँ के पृथ्वी की लंबाई-चौडाई कितनी है? उन विमानों का रंग कैसा है? आहार का काल कितना है? श्वासोच्छ्वास कैसा है? अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है आदि मुझे बताओ'।

श्रावक उसका समाधान करते हुए देवताओं आदि का जो वर्णन करता है यही इस प्रकीर्णक का मुख्य विषय है। इसमें बत्तीस इन्द्रों पर प्रकाश डालने की बात कही है, किन्तु उससे अधिक इन्द्रों के संबंध में चर्चा की गई है।

१०) वीरत्थओ (वीरस्तुति) प्रकीर्णक

इस प्रकीर्णक के स्थान पर डॉ. मुनि नागराजजी तथा आचार्य देवेन्द्र मुनिजी महाराज ने मरणसमाधि प्रकीर्णक का उल्लेख किया है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। आगम दीप प्रकाशन द्वारा प्रकाशित ४५ आगम की गुर्जर छाया में वीरत्थओ प्रकीर्णक लिया गया है। उसमें ४३ गाथाएँ हैं। प्रारंभ में वीर जिनेन्द्र को नमस्कार कर, उनके प्रकट नामों से उनकी स्तुति की गई है। जिसमें अरु, अरहंत, देव, जिन, वीर आदि अनेक नाम दिये हैं और उन नामों की व्याख्या दी है।

अंत में लिखा है कि श्री वीर जिनेन्द्र की इस नामावली द्वारा मेरे जैसे मंदपुण्य ने स्तुति की है, हे जिनवर ! मुझपर कृपा करके मुझे पवित्र शिवपथ में स्थिर करो।

इस प्रकार दस प्रकीर्णकों के बाद छह छेद सूत्रों का विवेचन किया है, जिसमें से निशीथ सूत्र, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र और दशाश्रुतस्कंध का तो विवेचन पहले किया जा चुका है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय में जीयकप्पो और महानिसीह इन दो को भी छेदसूत्र में समाहित किया है। जिसका वर्णन आगे दिया जाएगा। पहले मरणसमाधि प्रकीर्णक का दिया जा रहा है।

मरणसमाही (मरणसमाधि)

इसका दूसरा नाम मरणविभक्ति है। यह सबसे बडा प्रकीर्णक है-

१) मरणविभक्ति, २) मरणविशोधि, ३) मरणसमाधि,
४) संलेखनाश्रुत, ५) भत्तपरिज्ञा, ६) आतुर-प्रत्याख्यान,
७) महाप्रत्याख्यान, ८) आराधना।

इन आठ प्राचीन श्रुत ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत प्रकीर्णक की रचना हुई है। शिष्य ने आचार्य से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवान समाधिमरण किस प्रकार प्राप्त होता है? आचार्य ने समाधान करने हेतु आलोचना, संलेखना, क्षमापना आदि चौदह द्वारों का विवेचन किया

है। परिषह सहन करके पादपोपगमन संथारा करके सिद्ध गति प्राप्त करने वालों के दृष्टांत भी दिये हैं, अंत में अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं पर भी प्रकाश डाला है और भी अनेक प्रकीर्णकों की रचनाएँ हुई हैं किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं।

महानिशीथ (छेदसूत्र)

महानिशीथ पूर्ण रूप से यथावत् नहीं रह सका है। इसमें छह अध्ययन तथा दो चूलाएँ हैं। प्रथम अध्ययन का नाम शल्योद्धरण है। इसमें पापरूपी शल्य की निंदा और आलोचना के संदर्भ में अठारह पाप स्थानकों की चर्चा है।

द्वितीय अध्ययन में कर्मों के विपाक तथा पाप कर्मों की आलोचना की विधेयता का वर्णन है। तृतीय और चतुर्थ अध्ययन में कुत्सित शील या आचरण वाले साधुओं का संसर्ग न किया जाने के संबंध में उपदेश है। पंचम अध्ययन में गुरु-शिष्य के पारस्पारिक संबंध का विवेचन है, उस प्रसंग में गच्छ का भी वर्णन है। षष्ठ अध्ययन में आलोचना के दस भेदों का तथा प्रायश्चित के चार भेदों का वर्णन है। इस सूत्र की भाषा तथा विषयवस्तु को देखते हुए यह रचना अर्वाचीन हो ऐसा लगता है।

जीयकप्पसुत्त (जीतकल्पसूत्र)

इसके रचयिता सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं। इस सूत्र में जैन श्रमणों के आचार के संबंध में प्रायश्चित का विधान है। प्रायश्चित का महत्त्व आत्म शुद्धि या अंत:परिष्कार की उपादेयता इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रायश्चित्त दो शब्दों के योग से बनता है। प्राय: का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना।

'प्राय: नाम तप: प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते,
तपो निश्चय संयोगात् प्रायश्चितमितीर्यते'[९९]

अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। इसमें प्रायश्चित्त के दस भेदों का विवेचन है-

१) आलोचना, २) प्रतिक्रमण, ३) मिश्र- आलोचना प्रतिक्रमण दोनों,
४) विवेक , ५) व्युत्सर्ग, ६) तप, ७) छेद, ८ मूल अनवस्थाप्य १० पारांचिक।

पिंडनिज्जुत्ति, ओहनिज्जुत्ति

पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति- पिण्ड शब्द जैन पारिभाषिक दृष्टि से भोजनवाची है। प्रस्तुत ग्रंथ में आहार, एषणीयता, अनेषणीयता आदि के संदर्भ में उद्गम आदि दोष तथा श्रमण जीवन के आहार, भिक्षा आदि पहलुओं पर विशद विवेचन किया है।

दशवैकालिक के पंचम अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। इस अध्ययन पर आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति बहुत विस्तृत हो गई है। यही कारण है कि इसे पिण्ड-निर्युक्ति के नाम से एक स्वतंत्र आगम के रूप में स्वीकार कर लिया है।

ओघनिर्युक्ति

ओघ का अर्थ है प्रवाह, सातत्य, परंपरा प्राप्त उपदेश है। जिस प्रकार पिण्डनिर्युक्ति में साधुओं के आहार विषयक पहलुओं का विवेचन है उसी प्रकार इसमें साधु जीवन से संबंध आचार व्यवहार के विषयों का संक्षेप में उल्लेख किया है। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का जिस प्रकार अंश माना जाता है। उसी प्रकार इसे आवश्यक निर्युक्ति का एक अंश स्वीकार किया जाता है। जिसके रचयिता आचार्य भद्राबाहु हैं।

ओघनिर्युक्ति प्रतिलेखना द्वार, आलोचना द्वार तथा विशुद्धि द्वार में विभक्त है। प्रकरणों के नामों से स्पष्ट है कि साधु जीवन चर्या का इसमें समावेश है।[१००] भगवती आराधना[१०१] में भी यही कहा है।

पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति

इन दोनों ही निर्युक्तियों को पैंतालीस आगमों में क्यों लिया हो यह प्रश्न है और दोनों अलग-अलग आगम अंशों की निर्युक्तियाँ होते हुए भी दोनों का नाम साथ में दिया है। इसका कारण भी विचारणीय है। वास्तव में दोनों के विषय साधु जीवन संबंधी हैं इसलिए नाम साथ में दिया हो ऐसा हो सकता है, किंतु निर्युक्तियाँ तो और भी हैं परंतु उनका आगम में समावेश नहीं किया जाता है, यदि इनको न लिया जाये तो पैंतालीस की संख्या नहीं होगी और दोनों को अलग-अलग लिया जाये तो छियालीस हो जायेगें इसलिए दोनों का साथ में विवेचन किया हो ऐसा अनुमान किया जा सकता है। यह विचारणीय है।

इस प्रकार श्वेतांबर, स्थानकवासी और तेरापंथी परंपरा द्वारा मान्य बत्तीस आगम और इन बत्तीस में श्वेतांबर मूर्तिपूजक द्वारा मान्य और तेरह आगम मिलाने से कुल पैंतालीस आगमों की विषयवस्तु यहाँ संक्षेप में प्रतिपादित किया है। आगमों के आधार पर जैन सिद्धांत की मंजिल खडी है। इसलिए यहाँ पर आगमों का विवेचन किया है।

आगमों पर व्याख्या साहित्य

आगमों की व्याख्या और विश्लेषण में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विधाओं में साहित्य की रचना की। इसका एक ही लक्ष्य था कि आगमगत तत्त्वों का विशद रूप में विवेचन किया जाये ताकि अध्ययन करने वाले, जिज्ञासु जन आगमों का सार आत्मसात करने में, सक्षम हो सके, क्योंकि आगमों पर ही जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन और संघ का प्रासाद अवस्थित है।

आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति, दीपिका, टब्बा आदि के नाम से विशाल साहित्य की रचना हुई है।

निर्युक्ति

व्याख्यामूलक साहित्य में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। सूत्र में जो अर्थ निश्चित किया हुआ है, जिसमें वह सन्निबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा गया है। आगमों पर आर्या छंद में जिसे गाथा कहा जाता है, वह प्राकृत भाषा में उपलब्ध है। विषय को भलिभाँति प्रतिपादित करने हेतु अनेक कथानकों, उदाहरणों तथा दृष्टांतों का प्रयोग किया जा रहा है, जिनका उल्लेखमात्र निर्युक्तियों में मिलता है। इसलिए यह साहित्य इतना सांकेतिक और संक्षेप में है कि बिना व्याख्या या विवेचन को भलिभाँति समझा नहीं जा सकता। यह कारण है कि- टीकाकारों ने मूल आगम के साथ-साथ निर्युक्तियों पर भी टीकायें रची हैं।

ऐसा जान पडता है कि- प्राचीन गुरु परंपरा से प्राप्त पूर्व साहित्य के आधार पर ही निर्युक्ति साहित्य की रचना की गई होगी। यह संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने से इसे सरलता से कंठस्थ किया जा सकता है तथा धर्मोपदेश के समय इसे कथा आदि के उद्धरण दिये जा सकते हैं।

आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार सूत्र, दशाश्रुतस्कंध, उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक सूत्र और आवश्यक सूत्र आदि पर निर्युक्तियों की रचना की गई। परंपरा से इनके रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। जो संभवतः छेदसूत्रों के रचयिता, अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से भिन्न हैं।

निर्युक्तियों में जैन सिद्धांत के तत्त्व, परंपरागत आचार, विचार, अनेक ऐतिहासिक तथा पौराणिक परंपरायें आदि का वर्णन है। निर्युक्तियों में प्रायः अर्धमागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

भाष्य

विद्वानों को निर्युक्तियों द्वारा की गई व्याख्या संभवतः पर्याप्त न लगी हो। अतः उन्होंने भाष्यों के रूप में नये व्याख्या-ग्रंथ लिखे।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु॥

सूत्र के पदों के अनुसार जहाँ सूत्र के पदों का अर्थ का विवेचन होता है और उसके साथ स्व-अनुकूल रचना करते हैं उसे भाष्य के जानकार भाष्य कहते हैं। शिशुपालवध में महाकवि माघ ने एक स्थान पर भाष्य का विवेचन करते हुए लिखा है- संक्षिप्त किंतु अर्थ गरिमा या

गंभीरता से युक्त वाक्य का सुविस्तृत शब्दों में विश्लेषण करना भाष्य है।[१०२]

विद्वानों ने भाष्य की एक अन्य प्रकार से भी व्याख्या की है- 'जहाँ सूत्र का अर्थ, उसका अनुसरण करने वाले शब्दों द्वारा किया जाता है, अथवा अपने शब्दों द्वारा उसका विशेषरूप में वर्णन किया जाता है, उसे भाष्य कहा जाता है।

निर्युक्ति की तरह भाष्यों की रचना भी प्राकृत गाथाओं में संक्षिप्त शैली में हुई है। उनमें भी मुख्य रूप से अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है। कुछ स्थानों पर मागधी और शौरसेनी का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। भाष्यों की रचना का समय सामान्यतः लगभग चौथी पाँचवी शताब्दी माना जाता है।

भाष्य साहित्य में विशेषतः निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्य का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। भाष्य में अनेक प्राचीन अनुस्तुतियाँ- सुनी हुई बातें, लौकिक कथायें तथा साधुओं के परंपरागत प्राचीन आचार, विचार आदि की विधियों का विवेचन है। जैन साधु संघ के प्राचीन इतिहास को भलिभाँति जानने के लिए भाष्यों का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

संघदासगणि क्षमाश्रमण ने कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्यों की रचना की, ऐसा प्रसिद्ध है। ये आचार्य हरिभद्रसूरि के समकालीन थे।

चूर्णि

निर्युक्तियों और भाष्यों के पश्चात् चूर्णियों की रचना की। केवल अंग आगमों पर ही नहीं किंतु उपांग, मूलादि अन्य आगमों पर भी टीकाओं की रचना होती रही, जिनमें से बहुत सी टीकाएँ आज हमें प्राप्त हैं। धन्य हैं वे आचार्य जिन्होंने ज्ञानाराधना का बहुत बडा कार्य किया तथा लोगों पर अत्यधिक उपकार किया।

टब्बा

संस्कृत टीकाओं के बाद व्याख्या का एक और रूप प्रकाश में आया, उसे टब्बा कहा जाता है। गुजराती एवं राजस्थानी भाषाओं में आगमों पर टब्बों की रचनायें हुई। गुजरात, राजस्थान में जैन धर्म बहुत फैला हुआ था। आज भी है।

टब्बा संभवतः संस्कृत के स्तब्ध शब्द से बना है। स्तब्ध का अर्थ घेरा हुआ, रोका हुआ, अवरुद्ध किया हुआ होता है। टब्बा मूल आगम के शब्दों को अर्थ द्वारा घेरे रहता है। अतः शाब्दिक दृष्टि से यह शब्द सार्थकता लिये हुए है।

टब्बा का तात्पर्य- आगम के शब्दों का बहुत ही सरल रूप में अर्थ देना है। जिन-जिन शब्दों का अर्थ किया जाता, उनके नीचे उसके टब्बे लिख दिये जाते हैं। साधारण लोग इन टब्बों की सहायता से आगमों का आशय या भाव बडी सुगमता से समझ लेते। आचार्य

हरिभद्रसूरिजी के बाद अपराजितसूरि, सोमचंद्रसूरि आदि के द्वारा भी टब्बा की रचना की। इसका गुजराती में अनुवाद भी मिलता है।

समीक्षा

इतना विशाल व्याख्या साहित्य लिखे जाने का अभिप्राय यह है कि जैन तत्त्वज्ञान और आचार विधाओं के अध्ययन में साधुओं के साथ-साथ गृहस्थों की भी अभिरुचि रही है। अतएव व्यापक लाभ की दृष्टि से यह विपुल साहित्य रचा गया।

इस व्याख्यामूलक साहित्य में तात्त्विक सिद्धांतों का, साधुओं की चर्या का तथा गृहस्थ उपासकों की व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक स्थितियों का विभिन्न वर्गों के लोगों के कार्य, शिल्प, व्यवसाय, शिक्षा, कलाकृतियाँ, स्थापत्य, भवन निर्माण कला इत्यादि की रचना हुई। जैसे बतलाया गया है। निर्युक्तियाँ और भाष्य प्राकृत गाथाओं में लिखे गये, चूर्णियों की रचना गद्य में हुई। निर्युक्ति और भाष्यों में जैन धर्म के सिद्धांत विस्तार से प्रतिपादित नहीं किये गये। संक्षिप्त एवं सांकेतिक रूप में वहाँ विवेचन हुआ। इसके अतिरिक्त निर्युक्तियों और भाष्यों की गाथायें कई कई आपस में मिश्रित होती गई। इसलिए उनके माध्यम से जैन दर्शन और आचार के सिद्धांतों को विशेष रूप से समझना साधारण पाठकों के लिए कठिन हो गया।

चूर्णियों की एक विशेषता यह रही कि वहाँ प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ। इसके कारण भाषा की रोचकता भी बढी ओर विषयों के निरूपण में अधिक अनुकूलतायें हुईं।

टीका

चूर्णियों के बाद भी व्याख्यामूलक साहित्य की रचना का क्रम आगे बढता रहा। विद्वानों, आचार्यों ने संस्कृत में आगमों पर बडे विस्तृत रूप में वृत्तियों या टीकाओं की संस्कृत में रचना की संस्कृत एक ऐसी भाषा है, जिसमें थोडे शब्दों में विस्तृत भाव प्रकट किया जा सकता है।

आचारांग और सूत्रकृतांग पर आचार्य शीलांक द्वारा रचित टीकायें प्राप्त हैं। इन दोनों अंग सूत्रों का आगमों में सर्वोपरि महत्त्व है। आचार्य शीलांक की टीका के साथ इन आगमों का अध्ययन करने से जैन दर्शन के गहन तत्त्वों को भलिभाँति समझा जा सकता है।

इन दो आगमों के अतिरिक्त बाकी के दो अंग आगमों पर आचार्य अभयदेव सूरि ने टीकाओं की रचना की। वे नवांगी टीकाकार कहे जाते हैं। उनके द्वारा रचित टीकाओं का जैन साहित्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनेक विद्वान आचार्यों ने आगमों पर और भी टीकाएँ लिखीं और अनेक विषयों का यथाप्रसंग वर्णन किया है।

जैन आगमों में जो द्रव्यानुयोगमूलक आगम है वे तात्त्विक दृष्टि से बहुत गंभीर हैं। टीकाकारों और व्याख्याकारों में उनमें वर्णित- आत्मा, कर्म, आस्रव, तप के विभिन्न भेद, उपभेद, पुद्गल का गहन विवेचन, परमाणुवाद की विषद चर्चा, अनेकविध परमाणुओं के सम्मिलन से निष्पन्न होनेवाली विभिन्न दशायें, कार्योत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय आदि का बहुत ही सूक्ष्म गहन विश्लेषण किया है। जो तात्त्विक ज्ञान में अभिरुचिशील श्रमणों और विद्वानजनों के लिए विशेषतः पठनीय है, क्योंकि जीवन में तत्त्वज्ञान का बहुत बडा महत्त्व है। यद्यपि सब लोग तत्त्वज्ञान में प्रगति नहीं कर सकते, क्योंकि - उसमें प्रज्ञा अभ्यास और श्रम की अत्यधिक आवश्यकता है, किन्तु जिनमें प्रतिभा, रुचि और कार्य शक्ति हो उन्हें तो अवश्य ही उच्चस्तरीय तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसे पुरुषों के लिए टीकाकारों द्वारा की गई व्याख्यायें बहुत ही लाभप्रद हैं।

व्याख्या साहित्य के अंतर्गत चूर्णियों की यह विशेषता रही है कि सैद्धान्तिक तत्त्वों को समझाने के लिए उनमें कथाओं का विशेष रूप से उपयोग किया गया है। कथानकों, दृष्टांतों और उदाहरणों द्वारा गहन एवं कठिन तत्त्वों को आसानी से समझा जा सकता है। चूर्णिकारों का यह प्रयत्न वास्तव में अत्यंत उपयोगी है। शताब्दियों से तत्त्व जिज्ञासु इनका अध्ययन करते हुए लाभान्वित हो रहे हैं।

दार्शनिकता के साथ-साथ लौकिक विषयों पर भी टीकाकारों ने बहुत ही विशद विश्लेषण किया है। जिससे पाठक अपने अतीत को भलिभाँति समझ सकते हैं। किसी भी समाज या राष्ट्र के संबंध में उसका गौरवमय अतीत बडा प्रेरणाप्रद होता है, इसलिए इसे जीवित रखना विद्वानों का कार्य है। इन टीकाकारों ने व्याख्याकारों के इस कार्यों को बडी सुंदरता से निष्पादित किया है। यह व्याख्यामूलक साहित्य ऐसा साहित्य है जो युग-युग तक जिज्ञासुओं और पाठकों को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

श्वेतांबर : दिगंबर परिचय

आगम

जैन धर्म श्वेतांबर और दिगंबर दो समुदायों में विभक्त है। मौलिक सिद्धांतों की दृष्टि से दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है किंतु आचार विषयक मान्यताओं में और तदनुसार कुछ सैद्धांतिक मान्यताओं में अंतर है।

'श्वेतानि अंबराणि येषां ते श्वेतांबरा'[१०४]

इस विग्रह के अनुसार जिनके वस्त्र सफेद होते हैं। वे श्वेतांबर कहे जाते हैं। इसका

आशय यह है कि- श्वेतांबर परंपरा के साधु-साध्वी आगम निरूपित परिमाण और मर्यादा के अनुसार सफेद वस्त्र धारण करते हैं।

'दिशा एव अंबराणि येषां ते दिगंबरा'

इस विग्रह के अनुसार दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं। वे दिगंबर कहलाते हैं। अर्थात् दिगंबर साधु वस्त्र धारण नहीं करते। वे वस्त्रों को परिग्रह मानते हैं। दिगंबर परंपरा में स्त्रियाँ मुनिधर्म स्वीकार करने के लिए अधिकृत नहीं हैं।

दिगंबर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष तक द्वादश अंगों के ज्ञान की प्रवृत्ति गतिशील रही। ज्ञान, गुरु शिष्य की परंपरा से मौखिक रूप में दिया जाता था। क्रमशः वह विलुप्त होता गया। बारह अंगों का कुछ आंशिक ज्ञान धरसेन नामक आचार्य को था। वे राष्ट्र के अंतर्गत गिरनार पर्वत पर चंद्र गुफा में ध्यान निरत थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्हें आचारांग पूर्णतया स्मरण था।

आचार्य धरसेन को यह चिंता हुई कि उन्हें जो श्रुतज्ञान स्मरण है, कहीं उन्हीं के साथ न चला जाय, इसलिए उन्होंने महिमा नगरी के मुनि संघ को पत्र लिखा कि वे कुछ ऐसी व्यवस्था करें कि यह महती परंपरा आगे भी चलती रहे।[१०५]

मुनिवृंद के चिंतन के अनुसार आंध्रप्रदेश से पुष्पदंत एवं भूतबली नाम के दो मुनियों को आचार्य धरसेन के पास ज्ञान प्राप्त करने हेतु भेजा गया। वे दोनों मुनि बडे मेधावी थे। धरसेन ने उनको दृष्टिवाद के अन्तर्गत कुछ पूर्वों और व्याख्याप्रज्ञप्ति की शिक्षा दी। ज्ञान प्राप्त कर दोनों मुनि वहाँ से वापस लौट आये।

दिगंबरों के सर्वमान्य शास्त्र

षट्खण्डागम

मुनि पुष्पदंत और भूतबली ने यह विचार किया कि उन्होंने आचार्य धरसेन से जो दुर्लभज्ञान प्राप्त किया है, उससे औरों को भी लाभ मिले, इसलिए उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की। ये शौरसेनी प्राकृत में है। पुष्पदंत ने १०७ सूत्रों में सत् प्ररूपणा का विवेचन किया तथा भूतबली ने ६०० सूत्रों में कर्म प्रकृतियाँ आदि के विषय में शेष सार ग्रंथ लिखा।

डॉ. जगदीश चंद्र जैन ने प्राकृत साहित्य का इतिहास नामक पुस्तक में षट्खण्डागम उसके छः खंड, उनमें वर्णित उनपर रचित धवला आदि टीकाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[१०६] षट्खण्डागम का आधार चतुर्दश पूर्वों के अंतर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्व का कर्म प्रकृति नामक अधिकार है।

यह छह खण्डों में विभक्त हैं। इसलिए इसे षट्खण्डागम कहा जाता है। दिगंबर परंपरा में यह आगमों के रूप में मान्य है।[१०७]

षट्खण्डागम पर व्याख्या साहित्य

षट्खण्डागम दिगंबर परंपरा में सर्वमान्य ग्रंथ है। समय समय पर अनेक विद्वानों ने इन पर टीकायें लिखी। लगभग दूसरी शताब्दी में आचार्य कुंदकुंद ने इस पर परिकर्म नामक टीका की रचना की।

तीसरी शताब्दी में आचार्य श्यामकुंड ने पद्धति नामक टीका लिखी। चौथी शताब्दी में आचार्य तुंबूलूर ने चूडामणि नामक टीका रची। पांचवी शताब्दी में श्रीसमंतभद्र स्वामी ने टीका की रचना की। यह क्रम आगे भी चलता रहा। छट्ठी शताब्दी में बप्पदेव गुरु ने व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक टीका लिखी। ये बडे दु:ख का विषय है कि ये सभी टीकायें लुप्त हो गई हैं। इनमें से इस समय कोई भी टीका प्राप्त नहीं है । केवल उनका उल्लेख हुआ है।

धवला की रचना

षट्खण्डागम पर आचार्य वीरसेन द्वारा रचित धवला टीका बहुत प्रसिद्ध है। वह इस समय उपलब्ध है। वीरसेन के गुरु का नाम आचार्य नंदी था। इनके शिष्य जिनसेन थे जिन्होंने आदिपुराण की रचना की।

धवला टीका चूर्णियों की तरह संस्कृत-प्राकृत मिश्रित है। यह 'बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण है। इसकी प्रशस्ति में टीकाकार ने लिखा है कि- यह सन् ८१६ में इस टीका का लेखन संपन्न हुआ। धवलाकार आचार्य वीरसेन बहुश्रुत विद्वान थे। टीका के अध्ययन से पता चलता है कि, उन्होंने दिगंबर तथा श्वेतांबर के आचार्य द्वारा लिखे गये साहित्य का गहन अध्ययन किया था। षट्खण्डागम में निरूपित कर्म सिद्धांत आदि विविध विषयों का अत्यंत सूक्ष्म गंभीर और विस्तृत विश्लेषण है।

कषायपाहुड (कषायप्राभृत)

गिरनार पर्वत की चंद्रगुफा में ध्यान करने वाले आचार्य धरसेन के समय के आसपास गुणधर नामक एक और आचार्य हुए। उनको भी द्वादशांगी श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कषायपाहुड के नाम से दूसरे सिद्धांत ग्रंथ की रचना की।

आचार्य वीरसेन ने इस पर भी टीका लिखना शुरु किया। किंतु २०,००० (बीस हजार) श्लोक प्रमाण टीका ही लिख पाये थे कि- इसी बीच में दिवंगत हो गये। उनके

शिष्य आचार्य जिनसेन ने बाकी की टीका पूर्ण की। यह टीका जयधवला के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण है।

कषायपाहुड भी षट्खण्डागम की तरह दिगंबर परंपरा में सर्वमान्य है। यह पाँचवें ज्ञान प्रवाद पूर्व की दशवी वस्तु के तृतीय पाहुड 'पेज्जदोसः' से लिया गया है, इसलिए इसको पेज्जदोष पाहुड भी कहा जाता है। पेज्ज का अर्थ प्रेय या राग है तथा दोष का अर्थ द्वेष है। इस ग्रंथ में क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय, राग, द्वेष उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग प्रदेश आदि का निरूपण किया गया है।

तिलोयपण्णत्ति (तिलोयप्रज्ञप्ति)

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति की रचना की। यह प्राकृत भाषा में लिखा गया प्राचीन ग्रंथ है। जो आठ हजार (८०००) श्लोक प्रमाण है। इसमें तीनों लोकों से संबंधित विषयों का विवेचन है। दिगंबर परंपरा में प्राचीनतम श्रुतांग के अन्तर्गत माना जाता है।

धवला टीका में इस ग्रंथ के अनेक उद्धरण आये हैं। इसमें भूगोल, खगोल, जैन सिद्धांत पुराण एवं इतिहास आदि पर प्रकाश डाला गया है। समाज, राज्य शासन, लोक व्यवहार आदि विषयों की यथा प्रसंग चर्चा हुई है।

आचार्य कुंदकुंद के प्रमुख ग्रंथ

आचार्य कुंदकुंद का दिगंबर परंपरा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। गौतम गणधर के पश्चात् इनका नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। पद्मनंदी, वक्रग्रीव, एलाचार्य तथा गृद्धपिच्छ के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं, किंतु इनका वास्तविक नाम पद्मनंदी था। ये आंध्रप्रदेश के अंतर्गत कोंडकुंड के निवासी थे। जिससे इनका नाम कुंदकुंद पडा ऐसा माना जाता है।

आचार्य कुंदकुंद के समय के विषय में कोई निश्चित प्रमाण मालूम नहीं होता। कोई विद्वान उनका समय प्रथम शताब्दी के आसपास मानते हैं। कईओं के मतानुसार उनकी तीसरी चौथी शताब्दी मानी जाती है।

आचार्य कुंदकुंद ने प्राकृत में अनेक ग्रंथ रचे। जिनमें पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार बहुत प्रसिद्ध हैं। ये द्रव्यार्थिक नय प्रधान ग्रंथ हैं। इनमें सूत्र निश्चय नय से पदार्थों का प्रतिपादन किया है।

पंचास्तिकाय

पंचास्तिकाय में धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल इन पांच अस्तिकायों का वर्णन है। यह दो श्रुत स्कंधों में विभाजित है। इसमें १७३ गाथायें हैं।

प्रथम श्रुतस्कंध में छह द्रव्यों और पांच अस्तिकायों का विवेचन हैं। इसमें द्रव्य का लक्षण, सिद्धों का स्वरूप, जीव एवं पुद्गल का बंध, स्याद्वाद के सात भंग, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल के लक्षण आदि का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष का विवेचन है। आचार्य अमृतचंद्र सूरि तथा आचार्य जयसेन ने संस्कृत में टीकाओं की रचना की।

प्रवचनसार

आचार्य कुंदकुंद का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें तीन श्रुतस्कंध (अधिकार) हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञान का, द्वितीय श्रुतस्कंध में ज्ञेय का और तृतीय श्रुतस्कंध में चारित्र का प्रतिपादन है। इसमें कुल दो सौ पंचहत्तर गाथायें हैं।

इसके प्रथम श्रुतस्कंध के ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व एवं अन्यत्व, सर्वसत्त्व की सिद्धि, इंद्रिय सुख और अतिंद्रिय सुख, शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग, मोहक्षय आदि का निरूपण है।

दूसरे श्रुतस्कंध में ज्ञेय अधिकार में द्रव्य गुण एवं पर्याय का स्वरूप, ज्ञान, कर्म, कर्म का फल, मूर्त-अमूर्त द्रव्यों के गुण, जीव और पुद्गल का संबंध, निश्चय और व्यवहार नय का विरोधाभाव, शुद्धात्मा का स्वरूप आदि का विश्लेषण है।

तृतीय श्रुतस्कंध चारित्राधिकार में श्रामण्य के चिन्ह, लक्षण, उत्सर्गमार्ग, अपवादमार्ग, आगमज्ञान का महत्त्व, श्रमण का लक्षण, मोक्षतत्त्व आदि विषयों का प्ररूपण है। इस ग्रंथ पर भी आचार्य अमृतचंद्र सूरि तथा आचार्य जयसेन सूरि द्वारा रचित टीकायें हैं।

समयसार

समय का अर्थ सिद्धांत या दर्शन है। समयसार में जैन सिद्धांत या तत्त्वों का विवेचन है। इसमें दस अधिकार हैं और (४३७) गाथायें हैं। प्रथम अधिकार में स्वसमय, परसमय, शुद्धनय, आत्मभावना एवं सम्यक्त्व का निरूपण है। दूसरे अधिकार में जीव अजीवका, तीसरे में कर्म-कर्ता का, चौथे में पुण्य-पाप का, पाँचवे में आस्त्रव का, छट्ठे में संवर का, सातवे में निर्जरा का, आठवे में बंध का, नौवें में मोक्ष का और दसवें में शुद्ध पूर्ण ज्ञान का वर्णन है। शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव को कर्मों से अस्पृष्ट और आबद्ध-बिना छूआ हुआ माना गया है।

व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव कर्मों से स्पृष्ट एवं बद्ध माना गया है। इस पर आचार्य अमृतचंद्र सूरि और आचार्य जयसेन ने टीकायें लिखी। ये तीनों ग्रंथ नाटकत्रय, प्राभृतत्रय या रत्नत्रय कहलाते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त आचार्य कुंदकुंद के कतिपय और भी ग्रंथ हैं। जिनमें कुछ का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

नियमसार

इस ग्रंथ में १८६ गाथायें हैं। इसमें सम्यक्त्व, आप्त, आगम, सप्त पदार्थ, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत द्वादशव्रत, द्वादशप्रतिमायें, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, परमसमाधि, परमभक्ति, शुद्धोपयोग आदि का वर्णन है।

इस ग्रंथ पर पद्मप्रभ मलधारी देव ने सन् १००० के आसपास टीका की रचना की। उन्होंने प्राभृतत्रय के टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र सूरि की टीका के श्लोकों को अपनी नियमसार की टीका में भी उद्धृत किया है।

रयणसार

इसमें १६७ गाथायें हैं। यहाँ सम्यक्त्व को रत्नसार कहा गया है। इसमें भक्ति, विनय, वैराग्य, त्याग आदि का विवेचन है। निश्चय नय के आधार पर जिन संतों और विद्वानों का चिंतन रहा। उन्होंने आचार्य कुंदकुंद के विचारों का विशेष रूप से अनुसरण किया।

वर्तमान शताब्दी में कानजीस्वामी नामक साधक हुए हैं, जिन्होंने आचार्य कुंदकुंद के समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथों को ही अपनी साधना का प्रमुखतम अंग स्वीकार किया तथा जीवनभर उन ग्रंथों पर प्रवचन दिया।

दिगंबर परंपरा में संस्कृतरचनायें

दिगंबर परंपरा के अन्तर्गत संस्कृत में जैन सिद्धांत, आचार, न्याय आदि विषयों पर अनेक आचार्यों ने बडे-बडे ग्रंथ लिखे। जिनका जैन विद्या के क्षेत्र में ही नहीं, भारतीय विद्या के क्षेत्र में भी बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनमें आचार्य समंतभद्र, अकलंक, विद्यानंदी, माणिक्यनंदी, अनंतवीर्य तथा प्रभाचंद्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

१) आप्तमीमांसा, २) रत्नकरंडश्रावकाचार, ३) अष्टसती, ४) अष्टसहस्त्री, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, परीक्षामुख, न्यायकुमुदचंद्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, सप्त भंगी तरंगिणी, न्यायदीपिका आदि अनेक महत्त्वपूर्ण संस्कृतग्रंथ हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकरण में जैन संस्कृति, धर्म, आगम तथा श्वेतांबर, दिगंबर साहित्य का संक्षेप में विवेचन किया गया है। साहित्य की विशदरूप में चर्चा करने का एक विशेष प्रयोजन है इस साहित्य में तत्वज्ञान, आचारव्रत परंपरा, साधना की विविध पद्धतियाँ, तपश्चरण स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि अनेक विषयों पर अनेक दृष्टियों से व्याख्या हुई है। किसी भी विषय पर गहन अध्ययन, अनुशीलन और अनुसंधान के लिए तत्संबधी संस्कृतदर्शन और साहित्य का आधार बहुत आवश्यक है।

जैनधर्म में कर्म सिद्धांत आध्यात्मिक जगत का मूलाधार है। आगम ग्रंथों में कर्म विषयक वर्णन स्थान-स्थान पर दिया गया है। साधक जीवन हो या गृहस्थ जीवन हो कर्म के मर्म को समझना नितान्त आवश्यक है।

मेरे द्वारा शोध हेतु स्वीकृत **'जैन धर्म में कर्म सिद्धांत'** इस विषय पर अनुसंधेय सामग्री की दृष्टि से इन सबका उपयोग अवश्य होगा। अतः इन सब पर सामान्य रूप में प्रकाश डालना अपेक्षित मानते हुए इस प्रकरण में इन सबका संक्षेप में निरुपण किया गया है। जो आगे के प्रकरण में विवेचनीय, गवेषणीय और परीक्षणीय विषयों की दृष्टि से अनुकूल पृष्ठभूमि सिद्ध होगी।

* * *

संदर्भ

१. उत्तराध्ययनसूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अध्ययन ९, गा. ४८

२. उत्तराध्ययनसूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अध्ययन १४, गा. १३ पृ. २२७

३. अमृत महोत्सव गौरव ग्रंथ : परिच्छेद - ३, पृ. ८-१२

४. सम्मेलन पत्रिका : लोक संस्कृति के अंचल विशेषांक, पृ. १८ मनुस्मृति

५. अमृत महोत्सव ग्रंथ, पृ. १३

६. भारतीय दर्शन, (डॉ. राधाकृष्णन्), भाग- २ पृ. १७

७. दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. १५६ (आचार्य भद्रबाहु)

८. उत्तराध्ययनसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), २५, गा. २९, ३०

९. सूत्रकृतांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), १/२/२/१

१०. सूत्रकृतांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), १/२/२/२

११. सूत्रकृतांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), १/२/२/६

१२. धम्मपद, धम्मट्ठ वग्ग, ९, १० पृ. ११८

१३. बौद्ध धर्म क्या कहता है ?, पृ. ३५

१४. बौद्ध धर्मदर्शन, (नगीनजी शाह), पृ. ६२

१५. गृहस्थ धर्म: प्रथम भाग, पृ. ४३

१६. आवश्यकसूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ४ पृ. ७०

१७. आवश्यकसूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ४ पृ. ७३

१८. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थानी गणहरा,
निउणं, सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥
आवश्यक निर्युक्ति - १९२

१९. समवायांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), १२/५११, पृ. १७१

२०. जैन तत्त्व प्रकाश, (अमोलक ऋषिजी महाराज), पृ. २९

२१. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग १), (जगदीशचंद्र जैन), पृ. ५४

२२. उत्तराध्ययनसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), अ. २५, गा. ३३ पृ. ४३०

२३. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो न दीसइ जाइ विसेस कोइ।
सेवागपुत्ते हरिएस साहु जस्से रिस्सा शड्ढि महाणुभागा॥
उत्तराध्ययन सूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), अ. १२, गाथा ३७.

२४. महाभारत की सुक्तियाँ (सूक्ति त्रिवेणी), उपाध्याय अमरमुनि, अ. ११ श्लोक १३

२५. भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार, पृ. २६, २७

२६. तीर्थंकर मासिक, (वर्ष-१०) अंक- ७.८, १९८०, पृ. ७४

२७. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), २/२४ पृ. २७

२८. स्थानांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), ६/२३/२४ पृ. ५४०

२९. जैन तत्त्व प्रकाश, (पूज्यपाद अमोलक ऋषीजी म.), पृ. ८४-१०३
३०. जैनागम स्तोक संग्रह, (धींगडमलजी गिडिया), पृ. १४५
३१. जैन थोक संग्रह, भाग - २ (धींगडमलजी गिडिया), पृ. २२५
३२. यंत्र मंत्र तंत्र विज्ञान, भाग - २ पृ. ३४
३३. आगम के अनमोल रत्न, पृ. २५२
३४. श्री जैन सिद्धांत बोल संग्रह, भाग ६, (भैरोदानजी सेठीया), पृ. १७७-१७८
३५. बडी साधु वंदना, (पू. जयमलजी म.) पद - १
३६. आवश्यक निर्युक्ति, (संपा. आचार्य भद्रबाहु), गा. ९२
३७. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा,
(संपा. युवाचार्य देवेंद्रमुनिजी म. शास्त्री), पृ. ३-१०
३८. भाषा विज्ञान, (संपा. भोलानाथ तिवारी)
३९. समवायांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), ३४ सूत्र-२२
४०. भगवई (लाडनूं), (संपा. आचार्य तुलसी, मुनि नथमल), श. ५, उ. ४, सूत्र- ९३
४१. आचारांग चूर्णि, (जिनदासगणि), पृ. २५५
४२. नवकार प्रभावना, पृ. ७
४३. दशवैकालिकवृत्ति, पृ. २२३
४४. नवकार प्रभावना, पृ. ५.७
४५. 'आगमेत्ता आणवेज्जा' । आचारांग सूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनि), १/५/४
४६. साहित्य और संस्कृति (आचार्य देवेंद्र मुनि शास्त्री) पृ. २
४७. भगवती सूत्र (संपा. आचार्य तुलसी, मुनि नथमल), ५/३/१९२
४८. अनुयोगद्वार (टीका- मलधारी हेमचन्द्र), सू. ४२
४९. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), सू. ३३८
५०. स्याद्वाद मंजरी टीका, श्लोक - ३८
५१. विशेषावश्यक भाष्य, (दलसुखभाई मालवणीया), गा. ५५९
५२. श्री उत्तराध्ययन सूत्र (गुजराती अनु दुर्लभजी खेताणी प्रस्तावना)
५३. आगम युग जैन दर्शन, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), पृ. १५, १६
५४. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २९
५५. उपासकदशांग सूत्र, प्रस्तावना, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), पृ. ४
५६. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, (संपा. युवाचार्य देवेंद्रमुनिजी), पृ. ३५
५७. जैन तत्त्व प्रकाश, (पूज्यपाद श्रीअमोलक ऋषीजी म.), पृ. २०१, २०२
५८. नमस्कार महिमा, (गणिवर्य भद्रंकर विजयजी म.), पृ. ५
५९. आगम युग जैन दर्शन, (दलसुखभाई मालवणिया), पृ. २०
६०. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, (दलसुखभाई मालवणीया), पृ. २९, ३०
६१. आगम युग जैन दर्शन, (संपा. युवाचार्य देवेंद्रमुनिजी), पृ. १८-२०

६२. जैन दर्शन : मनन मीमांसा, (संपा. युवाचार्य देवेंद्रमुनिजी), पृ. २४
६३. नमस्कार चिंतामणी, (गणिवर्य भद्रंकर विजयजी म.), पृ. ६४
६४. दशवैकालिक निर्युक्ति, (संपा. आचार्य भद्रबाहु स्वामी), ३ टीका
६५. आवश्यक निर्युक्ति, (संपा. आचार्य भद्रबाहु स्वामी), पृ. ३३६-३७७
६६. विशेषावश्यक भाष्य, (पं. दलसुखभाई मालवणीया), पृ. २८४/२९५
६७. जैन लक्षणावली, भा. १, (संपा. क्षु. जिनेंद्रवर्णी), पृ. ७९
६८. विश्व प्रहेलिका, (संपा. मुनिश्री पृ.महेंद्रकुमारजी), ९३/१२३
६९. आवश्यक निर्युक्ति, (संपा. आचार्य भद्रबाहु स्वामी), पृ. ३६३-३७७
७०. विशेषावश्यकभाष्य, (दलसुखभाई मालवणीया), पृ. २२८४/२२९५
७१. दशवैकालिक निर्युक्ति, (संपा. आचार्य भद्रबाहु स्वामी), ३ टीका
७२. नंदीसूत्र चूर्णि, (जिनदासगणी महत्तर), पृ. १०
७३. मूलाराधना ४/५९९ (विजयोदया टीका)
७४. आचारांग नियुक्ति (जिनहंस पार्श्वचन्द्राचार्य), गा. ९
७५. आचारांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), मूल पाठ, सारिपण्ण
७६. निषधकुमार चरित्र, पृ. २६१
७७. स्थानांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), स्थान. ९
७८. आचारांग चूर्णि मूल पाठ, (जिनदासगणी महत्तर), पृ. २७४
७९. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २१
८०. अन्तकृतदशांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. १ वर्ग ८, पृ. १४६/१५३
८१. अनुत्तरोपपातिक सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि)
८२. प्रश्न व्याकरणसूत्र (टीका- आचार्य अभयदेव सूरि), वृत्ति के प्रारंभ में
८३. प्रश्न व्याकरणसूत्र (संपा. देवेंद्रमुनिजी म.सा.), प्रस्तावना पृ. १९.२०
८४. औपपातिकसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), प्रस्तावना पृ.
८५. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा (देवेंद्रमुनि शास्त्री जी म.सा.), पृ. २७१
८६. व्यवहार भाष्य (उद्देशक- ३), गा. १७३-१७६
८७. आवश्यक निर्युक्ति, (संपा. आचार्य भद्रबाहु स्वामी), ७७७
८८. विशेषावश्यक भाष्य, (पं. दलसुखभाई मालवणीया), २२९५
८९. निशीथ भाष्य, (संघदासगणि), ५९४७
९०. केनोनीकल लिटरेचर, पृ. ३६
९१. दशवैकालिक सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ.- ४, गा. ७, ८
९२. दशाश्रुत स्कंध, चौथी दशा, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), १/८ पृ. २०, २१
९३. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा
(आचार्य देवेंद्रमुनिजी शास्त्री म.सा.), पृ. ३८८
९४. जैन आगम दिग्दर्शन, (डॉ. मुनि नगराज) पृ. १७०, १७१

९५. अभिधानराजेंद्र कोश, भा.-१, (क्षु. जिनेन्द्रवर्णी), पृ. ३८७
९६. आउरपच्चक्खाण पइण्णयं, गा. ७०, पृ. २३ (आगमदीप)
९७. आउरपच्चक्खाण पइण्णयं, गा. ७०, पृ. २३,२४ (आगमदीप)
९८. उत्तराध्ययन सूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २९/२३. पृ. ४९९
९९. सस्कृत हिन्दी कोश, (वामन शिवराम आप्टे), पृ. ६९१
१००. जैनागम दिग्दर्शन, (डॉ. नगराज) पृ. १४५, १४८
१०१. *भगवती आराधना, गा. १७१०, १८६९ (शिवार्य), पृ. ७३, ८३*
१०२. शिशुपाल वध, (महाकाव्य), सर्ग- २ / श्लोक - २४ (महाकवि माघ)
१०३. संस्कृत हिन्दी कोश, (वामन शिवराम आप्टे) पृ. ७३९
१०४. तत्त्वार्थसूत्र (श्रुतसागरी वृत्ति) १/२०
१०५. जैनधर्म, पृ. २६२
१०६. प्राकृत साहित्य का इतिहास, (डॉ. जगदीशचंद्र जैन), पृ. २७४, २९०
१०७. प्राकृत साहित्य का इतिहास (डॉ. जगदीश चंद्र जैन), पृ. २७८

* * *

द्वितीय प्रकरण

कर्म का अस्तित्व

द्वितीय प्रकरण

कर्म का अस्तित्व

आत्मा का अस्तित्व : कर्म अस्तित्व का परिचायक

इन्द्रभूति गौतम की आत्मा विषयक शंका और निराकरण ७८

ज्ञानगुण के द्वारा आत्मा का अस्तित्व ७८

जहाँ आत्मा वहाँ ज्ञानगुण ७८

शरीरादि भोक्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ७९

परलोक के रूप में आत्मा की सिद्धि ७९

शरीरस्थ सारथीं के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ७९

उपादान कारण के रूप में आत्मा की सिद्धि ७९

आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ८०

आत्मा का असाधरण गुण : चैतन्य ८०

जहाँ कर्म वहाँ संसार ८०

आत्मा की दो अवस्थाएँ ८१

संसारी (अशुद्ध) दशा का मुख्य कारण : कर्म ८२

कर्म अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ८३

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म क्यों माने? ८४

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के समय शरीर नष्ट होता है आत्मा नहीं ८५

प्रत्यक्ष-ज्ञानियों द्वारा कथित पूर्वजन्म-पुनर्जन्म वृत्तान्त ८६

प्रत्यक्ष-ज्ञानियों और भारतीय मनीषियों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि ८८

ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत ८८

उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख ८९

भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत ८९

बौद्ध दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९०

न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९१

अदृष्ट (कर्म के साथ ही) पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का संबंध ९१

सांख्य दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ९२

मीमांसा दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म	९२
योगदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म	९२
महाभारत में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म	९२
मनुस्मृति में पुनर्जन्म के अस्तित्व की सिद्धि	९३
पूर्वजन्म के वैर विरोध की स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि	९३
आत्मा की नित्यता से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि	९३
पाश्चात्य दार्शनिक ग्रंथों में पुनर्जन्म	९४
पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानव जाति के लिए आध्यात्मिक उपहार	९५
परामनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से पुनर्जन्म और कर्म	९६
पुनर्जन्म आत्मा और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि	९७
जीते जी पुनर्जन्मों का ज्ञान एवं स्मरण	९८
प्रेमात्माओं का साक्षात् संपर्क : पुनर्जन्म की साक्षी	९९
जैन दर्शन की दृष्टि से प्रेतात्मा के लक्षण एवं स्वरूप	१००
प्रेतात्मा द्वारा प्रिय पात्र की अदृश्य सहायता	१०१
फोटो द्वारा सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व	१०१
पुनर्जन्म सिद्धांत की उपयोगिता	१०२
कर्म अस्तित्व का मुख्य कारण जगत वैचित्र्य	१०२
बौद्ध दर्शन की दृष्टि से विसदृशता कारण कर्म	१०८
कर्म अस्तित्व कब से कब तक ?	१०९
तात्विक दृष्टि से कर्म और जीव का सादि और अनादि संबंध	११०
आत्मा अनादि है तो क्या कर्म भी अनादि हैं ?	१११
कर्म और आत्मा में पहले कौन ?	१११
दोनों के अनादि संबंध का अंत कैसे ?	११३
भव्य और अभव्य जीव का लक्षण ,	११४
अभव्यजीव का कर्म के साथ अनादि अनंत संबंध	११४
भव्यजीव का कर्म के साथ संबंध अनादि सान्त	११४
संदर्भ-सूची	११६

द्वितीय प्रकरण

आत्मा का अस्तित्व : कर्म अस्तित्व का परिचायक

समग्र आस्तिक दर्शनों का केंद्र बिंदु आत्मा है। आत्मा को केंद्र मानकर ही यहाँ पर समस्त प्राणियों के सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति, हित-अहित, आदि के कारणों पर विचार किया गया है। आत्मा की दृष्टि से ही कर्म, पुण्य-पाप, आस्त्रव, संवर, बंध, मोक्ष, हेय, ज्ञेय, उपादेय, शुद्धि, गुण, अवगुण तथा सम्यक्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, सुदर्शन,कुदर्शन, सम्यक्चारित्र, कुचारित्र, सम्यक, असम्यक्, तप, त्याग, प्रत्याख्यान आदि, विषयों के संबंध में गहन चिंतन मनन किया गया है। यद्यपि इन सबका मूल कर्ता-धर्ता स्वयं आत्मा है और कर्म के कारण ही आत्मा इन सब में प्रवृत्त होता है।

आत्मा और कर्म का संबंध अनादिकाल से है। यही आत्मा की विभाव दशा है। आत्मा के राग-द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भाव इन विभाव भावों की उत्पत्ति में निमित्त हैं। आत्मा के रागादि भावों के योग के निमित्त से कार्मणवर्गणा (परमाणु) आकर्षित होकर आत्मा के साथ प्रतिपल प्रतिक्षण संबंधित होती हैं। उन्हें कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है जो स्थिति और रस को लेकर होती है।[१]

आत्मा एक चेतनावान पदार्थ है, चेतना उसका धर्म है।[२] फिर भी वह अपने स्वरूप के प्रति अनभिज्ञ है, अनजान है। इसका कारण है कर्मों का सघन आवरण। कर्म पौदगलिक हैं, वह जड़ स्वरूप हैं। आत्मा प्रति समय अज्ञान एवं मोह के कारण रागद्वेष आदि भाव स्वयं कर रहा है, जिसमें कर्म का उदय निमित्त है और इन रागादि भावों के होने में कर्म के उदय के फल-स्वरूप बाह्य में शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वचन, स्वजन, परिजन, भवन, वस्तुएँ एवं परिस्थितियाँ आदि निमित्त भूत होती हैं। यही आत्मा की विभाव दशा है।

उत्तराध्ययन[३] सूत्र में और समयसार[४] में भी कहा है कि, आत्मा ही कर्मों का कर्ता है- वही निरोध कर्ता और क्षय करता है।

इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि, अपने ही अभिन्न ज्ञानादि गुणों का वह कर्ता है जिसमें किसी भी विजातीय द्रव्य का बाह्य निमित्त अपेक्षित नहीं है। यही निश्चय नय से कर्तापन है। यदि जीव परलक्ष्य का परित्याग कर पराधीनता से पराङ्मुख होकर अपने ही स्वभाव का परिचय करे, तो वह स्वभाव भाव उत्पन्न कर सकता है। जो शाश्वत और ध्रुव है।

आत्मा स्वयं कर्म बांधती है और उनका फल भी स्वयं भोगती है। फिर सम्यक्ज्ञान एवं जागरण होने पर वह स्वयं ही कर्मों का निरोध एवं क्षय करने का पुरुषार्थ करती है। अतः आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही कर्म के अस्तित्व का परिचायक सिद्ध होता है। वास्तव में गणधरवाद में जितनी भी चर्चाएँ हैं, वे सब आत्मा और कर्म के अस्तित्व से संबंधित हैं।[५]

इन्द्रभूति गौतम की आत्मा विषयक शंका और निराकरण

विशेषावश्यकभाष्य के अन्तर्गत गणधरवाद में प्रथम गणधर इन्द्रभूति की शंका यही थी कि (आत्मा) किसी भी लौकिक प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती।[६] तब श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने शंका का समाधान करते हुए इन्द्रभूति गौतम को कहा कि तुम्हें भी आत्मा प्रत्यक्ष है, किन्तु तुम्हारा यह प्रत्यक्ष आंशिक है, आत्मा का सर्व प्रकार से पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु मुझे सर्वथा आत्मा का साक्षात्कार है।[७]

ज्ञानगुण के द्वारा आत्मा का अस्तित्व

आत्मा का असाधारण लक्षण ज्ञान है। वह आत्मा के अतिरिक्त किसी भी शरीर, मन, बुद्धि या इन्द्रिय का लक्षण नहीं हो सकती। आत्मा और ज्ञान ये दोनों अभिन्न हैं। आचारांग सूत्र में कहा गया है- जो विज्ञान है वही आत्मा है, जो आत्मा है वही विज्ञान है। पंचास्तिकाय एवं नियमसार में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि ज्ञान से भिन्न आत्मा और आत्मा से भिन्न ज्ञान कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता।[८] पंचास्तिकाय[८अ] और नियमसार[८ब] में भी ऐसा वर्णन उपलब्ध है।

जहाँ आत्मा वहाँ ज्ञानगुण

नंदीसूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि, संसार के समस्त जीवों में निगोदस्थ (अनन्त-कायिक) जीव ऐसे हैं, जिनके उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता रहता है। फिर भी जैसे घनघोर घटाओं से सूर्य के पूर्णतः आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अंश अनावृत रहता है, जिससे दिन और रात का विभाग होता है, उसी प्रकार उन जीवों में भी ज्ञान (अक्षरश्रुत) का अनंतवा भाग नित्य अनावृत (उदघाटित) रहता है। यदि ज्ञान पूर्णरूप से आवृत हो जाये तो जीव (आत्मा) भी अजीवत्व (अनात्मत्व) को प्राप्त हो जाए।[९]

इस तथ्य को स्पष्ट रूप से एक रूपक द्वारा समझा जा सकता है, जैसे- घनघोर घटाओं को विदीर्णकर दिवाकर की प्रभा भूमंडल पर आती है, किन्तु सभी मकानों पर उसकी प्रभा एक सरीखी नहीं पडती। मकानों की बनावट के अनुसार कहीं मंद, कहीं मंदतर और कहीं मंदतम रूप में पडती है, वैसे ही जीवों को अपनी-अपनी बनावट तथा मतिज्ञानावरणीय आदि के उदय की न्यूनाधिकता के अनुसार ज्ञान की प्रभा किसी किसी में मंद, किसी में मन्दतर और किसी में मंदतम होती है, परंतु उनमें ज्ञान पूर्ण रूप से कभी तिरोहित नहीं होता।

जैन धर्म में यह भी कहा है कि सुषुप्त अवस्था में आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व मानना पडेगा क्योंकि ज्ञान का अस्तित्व न माना जाये तो चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। फिर सुप्त अवस्था में चैतन्य का प्रमाण यह भी है कि, जिस प्रकार जागृत अवस्था में चैतन्य होने पर श्वासोच्छ्वास चलना आदि क्रियाएँ होती हैं वैसी सुषुप्त अवस्था में भी होती हैं। अतः सुषुप्त अवस्था में भी चैतन्य और ज्ञान दोनों आत्मा में रहते हैं। इस प्रकार चैतन्य और ज्ञानगुण का अस्तित्व सिद्ध होने से गुणी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।[१०] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[११] न्यायकुमुदचंद्र[१२] में भी इस बात का उल्लेख है।

शरीरादि के भोक्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

विशेषावश्यकभाष्य में बताया गया है कि, जैसे भोजन वस्त्रादि पदार्थ भोग्य होते हैं, पुरुष उनका भोक्ता होता है, उसी प्रकार देह आदि भी भोग्य होने से इनका भी कोई भोक्ता होना चाहिए, क्योंकि भोग्य पदार्थ स्वयं अपने आप भोक्ता नहीं होता, अतः शरीरादि का भी भोक्ता है वह आत्मा है। ईश्वर आदि अन्य कोई शरीरादि का कर्ता, भोक्ता अथवा स्वामी नहीं हो सकता क्योंकि यह युक्ति विरुद्ध है। अतः आत्मा ही उसका कर्ता भोक्ता या स्वामी है।[१३] षड्दर्शन में भी यही बात बताई गई है।[१४]

परलोक के रूप में आत्मा की सिद्धि

मृत्यु के पश्चात् शरीर को जला दिया जाता है। शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से परलोक में जाने वाला कोई दूसरा तत्त्व अवश्य है और वह है आत्मा जीव ही अपने पुण्य पाप कर्मानुसार परलोक में जाता है। अगर ऐसा माना न जाये तो संसार, बंध, मोक्ष की व्यवस्था समाप्त हो जायेगी।[१५]

शरीरस्थ सारथी के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

जैसे रथ को चलाने वाली विशिष्ट क्रिया सारथी से प्रयत्नपूर्वक होती है, उसी प्रकार शरीर की विशिष्ट क्रिया भी किसी के प्रयत्नपूर्वक होती है। जिसके प्रयत्न से यह क्रिया होती है, वही आत्मा है। इस प्रकार शरीररूपी रथ के सारथी के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।[१६]

उपादान कारण के रूप में आत्मा की सिद्धि

ज्ञान, सुख, शक्ति आदि कार्यों का कोई न कोई उपादान कारण अवश्य है, क्योंकि ये कार्य है, जो कार्य होता है उसका उपादान कारण अवश्य होता है। जैसे घट रूप कार्य का उपादान कारण मिट्टी है। उसी प्रकार ज्ञान, सुख आदि कार्य का जो उपादान कारण है वह आत्मा है।[१७] षड्दर्शन समुच्चय में भी यही बता दोहराई गई है।[१८]

आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

नियत कार्यों की ओर मन की प्रवृत्ति को देखते हुए सिद्ध होता है, कोई उसका प्रेरक तत्त्व अवश्य है मन को जो प्रेरित करता है वही आत्मा है।[१९] सर्वज्ञ, आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत या उपदिष्ट आप्त पुरुष सर्वज्ञ एवं सर्वसंशयोच्छेदक तथा सत्यवादी होते हैं।

आचारांग सूत्र में कहा गया है सभी दिशाओं और अनुदिशाओं से जो अनुसंचरण करता है, वह मैं (आत्मा) हूँ।[२०]

इस प्रकार जैन धर्म में आत्मा को परिणामी नित्य माना गया है। व्यवहार दृष्टि से द्रव्यसंग्रह में आत्मा का स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार बताया गया है- जीव (आत्मा) उपयोगमय है, अमूर्त (अरूपी) है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण, प्रत्येक व्यक्ति भिन्न है, भोक्ता है, स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है तथा संसारी एवं सिद्ध, जीव दो प्रकार का है।[२१]

आत्मा अमूर्त होने से उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चार पुद्गल (जड) के धर्म नहीं पाये जाते हैं। फिर भी शरीर से इसका संयोग संबंध होने से वह जीव के अपने-अपने छोटे बडे शरीर के परिमाण के अनुसार छोटा बडा संकोच विस्तारवाला हो जाता है।

आत्मा का असाधरण गुण : चैतन्य

जीव (आत्मा) का सामान्य लक्षण चैतन्य या उपयोग है। यही जीव (आत्मा) का असाधरण गुण है, जिसमें वह तमाम जड (अजीव) द्रव्य से अपना पृथक अस्तित्व रखता है।[२२] तत्त्वार्थसूत्र[२३] उत्तराध्ययनसूत्र[२४] भगवती सूत्र[२५] में भी इसी बात का उल्लेख है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है, कि आत्मा नामक एक स्वतंत्र तत्त्व है, जिसका अस्तित्व अनादि अनंत है। शरीरादि के नष्ट होने पर भी वह परलोक में जाता है। अमूर्त आत्मा कथंचित् मूर्त माना गया है। इसलिए स्व-स्व कर्म के वश विभिन्न गतियों और योनियों में जाता है। इस प्रकार संसारी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर उसके साथ प्रवाह रूप से कर्म का अस्तित्व भी मोक्ष प्राप्ति के पूर्व तक अवश्यंभावी मानना पडेगा।

जहाँ कर्म वहाँ संसार

आत्मा की शुद्ध दशा प्राप्त कराना ही जैन दर्शन का लक्ष्य है जैन दर्शन का समग्र चिंतन, मनन एवं विश्लेषण आत्मा को केंद्र में रखकर हुआ है, क्योंकि जैन दर्शन का मुख्य और अंतिम लक्ष्य आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा देता है। इसी कारण 'अप्पा सो परमप्पा' जो आत्मा है वही परमात्मा है।

जैन दर्शन के आध्यात्मिक उत्क्रान्तिकारी आचार्य श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं- निश्चय

ही मैं (आत्मा) सदैव शुद्ध शाश्वत और अमूर्त (अरूपी) तत्त्व हूँ, सदा ज्ञान दर्शनमय हूँ। मेरी (आत्मा) से भिन्न जो पर पदार्थ हैं उनका यत्किंचित् परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जितने भी पर पदार्थ हैं वे शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं[२६]।

आत्मा की दो अवस्थाएँ

आत्मा (जीव) की मुख्यतः दो अवस्थाएँ जैन-दर्शन में बताई हैं- एक संसारी अवस्था और दूसरी सिद्ध (मुक्त) अवस्था। इनमें से पहली अवस्था अशुद्ध है, जबकि दूसरी अवस्था शुद्ध है। इन्हीं दोनों को भगवती सूत्र[२७] और प्रज्ञापना सूत्र[२८] में क्रमशः **संसारसमापन्न** और **असंसारसमापन्न** कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र[२९] तत्त्वार्थसूत्र[३०] और जीवाभिगम[३१] में भी यही बात है। जो आत्माएँ कर्म संयुक्त होती हैं, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव परिवर्तन से युक्त होकर अनेक योनियों और गतियों में परिभ्रमण करती रहती हैं, वे सशरीरी आत्माएँ संसारी कहलाती हैं।[३२] ये संसारी आत्माएँ नित्य नये कर्म बाँधकर विभिन्न पर्यायों में उनके फल भोगती हैं।

जैन आगमों में आत्मा के बदले जीव शब्द का ही विशेषतः प्रयोग किया गया है। यों तो संसारी दशा और मुक्त दशा, इन दोनों दशाओं का कर्ता और भोक्ता स्वयं जीव (आत्मा) ही है। जीव ही अपने राग-द्वेष कषाय आदि शुभाशुभ परिणामों से स्वयं ही संसारी होता है और जब वह साधना और स्वपुरुषार्थ द्वारा संसार का अंत कर देता है तब वह मुक्त हो जाता है। सिद्ध बुद्ध मुक्त होने के पश्चात् वह पुनः संसार में नहीं आता।

पंचाध्यायी में आत्मा और कर्म के परस्पर संबंध को स्वर्ण और मिट्टी के संबंध के समान अनादि बताया गया है। योगीश्वर महात्मा आनंदघनजी ने भी अपनी चौबीसी में एक महत्त्वपूर्ण पंक्ति लिखी है - **'कनकोपलवत् पयडी पुरुष तणी रे जोडी अनादि स्वभाव'**।

इस पंक्ति का सार भी इस तथ्य का समर्थन करता है, कर्म प्रकृति और पुरुष (आत्मा) की जोडी स्वर्ण और उपल के समान अनादि है। सोना खान से निकलता है तब अशुद्ध होता है, उसमें मिट्टी और कंकड-पत्थर एक जैसे दिखते हैं किन्तु स्वर्णकार द्वारा जब वह मिट्टी मिश्रित स्वर्ण आग में तपाकर गलाया जाता है, तब स्वर्ण में से मिट्टी आदि मैल कट छट कर अलग हो होता है। परिणामतः स्वर्ण और मिट्टी का जो अनादि संबंध था वह टूट जाता है और अशुद्ध स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार आत्मा और कर्म का संबंध भी अनादि काल से चला आ रहा है। आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों का परिभोग करता है और नये कर्मों का बंध भी करता है। कर्मबंधन की

यह प्रक्रिया अनादि कालीन होते हुए भी आत्मा अपने धर्म पुरुषार्थ द्वारा कर्मों को विलग करके अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सकती है।

'जिस प्रकार कावडिया के द्वारा बोझा ढोया जाता है, उसी प्रकार शरीररूपी कावडिया के द्वारा संसारी (अशुद्ध) आत्मा जन्म मरणादि रूप संसार के अनेक कष्टों को सहती हुई कर्म रूपी भार को विभिन्न गतियों में ढोती हुई भ्रमण करती है। जब आत्मा के समस्त कर्मों का समूल विनाश हो जाता है, तब उस मुक्त आत्मा का स्वाभाविक शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है[३३]। गोम्मटसार[३४] उत्तराध्ययन सूत्र[३५] में भी यही बात दर्शायी है।

एक ही जीव के ये दो अवस्थाकृत भेद हैं। जीव (आत्मा) की संसार अवस्था को बद्ध अवस्था भी कहते हैं। कर्म रहित अवस्था को मुक्त अवस्था भी कहते हैं, या शुद्ध अवस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी, जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, पीडा, हानि, लाभ, सांसारिक सुख, दुःख तथा शुभाशुभ अष्टविध कर्म आदि नहीं होते। उस समय आत्मा निरंजन, निराकार, अशरीरी, अकर्म (कर्मरहित), आवागमन से रहित अमूर्त पूर्ण शुद्ध होती है।

संसार तथा संसारी (अशुद्ध) दशा का मुख्य कारण : कर्म

शुद्ध या अशुद्ध जितनी भी अवस्थाएँ हैं वे धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल आदि षड्द्रव्यों में से जीव तथा पुद्गल द्रव्य में ही पाई जाती हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं। इसी प्रकार जीवों में शुद्ध और अशुद्ध दशा का जो अंतर किया जाता है, वह कर्म रूप निमित्त की अपेक्षा से किया जाता है।

दर्शनशास्त्रों में दो प्रकार के निमित्त माने गये हैं। एक साधारण निमित्त यानी तटस्थ निमित्त होते हैं। जैसे जीवों की गति-अगति में सहायक धर्म-अधर्म द्रव्य तटस्थ निमित्त है। आकाश द्रव्य उसे अवकाश देने में तटस्थ सहायक है, तथा काल द्रव्य समय आदि के ज्ञान वस्तुओं के परिवर्तन को समझने में तटस्थ निमित्त बनता है। दूसरे सहकारी निमित्त होते हैं, जो किसी कार्य में प्रत्यक्ष सहकारी बनते हैं। जैसे घडे की उत्पत्ति में कुंभकार और कपडे की उत्पत्ति में बुनकर जुलाहा प्रत्यक्ष सहकारी निमित्त हैं।

प्रश्न होता है जीव की इस अशुद्ध दशा या संसार दशा अथवा बद्ध दशा (अवस्था) का मुख्य कारण असाधारण निमित्त कौनसा है ? कौनसा ऐसा कारण या तत्त्व है, जिसके कारण जीव को नाना गतियों में परिभ्रमण करना पडता है। विभिन्न सुख-दुःखादि रूप फल भोगने पडते हैं? भगवान महावीर ने कहा- जीव की इस संसार दशा का मुख्य कारण कर्म है। वेदांत दर्शन का मूर्धन्य ग्रंथ ब्रह्मसूत्र में[३६] संसार को अनादि मानकर कर्म का उसके साथ कार्य

कारण भाव स्वीकार किया है। बीज और अंकुर की तरह कर्म और संसार को शांकर भाष्य में[३७] बताया गया है।

इस पर से भी संसार का मुख्य कारण कर्म ही सिद्ध होता है। संसार और कर्म का अन्वय-व्यतिरेक संबंध है। जहाँ-जहाँ कर्म है वहाँ-वहाँ संसार है, और जहाँ कर्म नहीं है वहाँ संसार नहीं है। जब तक इन दोनों का संबंध बना रहेगा तब तक संसार का चक्र और कर्म का चक्र दोनों साथ-साथ अविरत रूप से घूमते रहेंगे।

संसार समुद्र से पार होने के लिए रत्नत्रय की साधना रूपी नौका द्वारा पार किया जाता है।[३८] संसार चक्र और कर्म चक्र के अविनाभावी संबंध को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय में भी इसी बात का उल्लेख है। साथ-साथ यह भी बताया है कि कर्मों का यह प्रवाह अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि अनंत है और भव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि सान्त है।[३९]

वैराग्यशतक में भी भतृर्हरि ने संसार के सुख दुःख की द्वंदात्मक स्थिति को देखकर लिखा है। न जाने इस संसार में क्या अमृतमय है और क्या विषमय है।[४०] अध्यात्मसार में भी संसार को दुःखमय बताया है।[४१] इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन सूत्र में यही बात बताई है कि इस संसार में जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे अपने लिए स्वयं दुःख उत्पन्न करते हैं, और मूढ बनकर अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।[४२]

भगवद्गीता में भी यही कहा गया है कि 'जो व्यक्ति सद्धर्म में श्रद्धारहित हैं वे मुझे प्राप्त न होकर जन्म मृत्यु रूप संसार चक्र में कर्मवशात् भ्रमण करते हैं'।[४३]

अतः जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित यही सिद्धांत सत्य है कि जीव ही अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा अपने-अपने संसार का कर्ता-भोक्ता है, और कर्म क्षय एवं कर्म निरोध के द्वारा स्वयं ही वह कर्मों से मुक्त होता है। उसकी संसारावस्था का मूल कारण कर्म ही है। अतएव जहाँ संसार है, वहाँ कर्म अवश्यंभावी है।[४४] महाभारत में भी यही बात बताई है।[४५]

कर्म अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म को माने बिना वर्तमान जीवन की यथार्थ व्याख्या संभव नहीं है। जीवन का स्वरूप जो वर्तमान में दिखता है वह वहाँ तक सीमित नहीं है; अपितु उसका संबंध अनंत भूतकाल और अनंत भविष्य के साथ जुडा हुआ है। वर्तमान जीवन तो उस अनंत श्रृंखला की कडी है। भारत में जितने भी आस्तिक दर्शन हैं वे सब पुनर्जन्म और पूर्वजन्म की विशद चर्चा करते हैं। पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को माने बिना वर्तमान जीवन की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती। पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को न माना जाये तो इस जन्म और पिछले जन्मों में किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल की व्याख्या भी नहीं हो सकती।[४६]

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म क्यों माने?

अगर पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ये दोनों न हों तब तो यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म जन्म-जन्मांतर तक फल देते हैं और जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वे अविच्छिन्न रूप से उसके साथ संलग्न रहते हैं, किन्तु भारतीय दर्शनों के इतिहास का अध्ययन करने से यह तथ्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाता है कि केवल चार्वाक दर्शन को छोडकर शेष सभी दर्शनों ने कर्म की सिद्धि के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों को एक मत से माना है। सभी भारतीय आस्तिक दर्शन इस तथ्य से पूर्णतया सहमत हैं कि 'अपने किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना करोडों कल्पों तक संसार में परिभ्रमण करना पडता हैं'।[४७] कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं, जिनका फल इसी जन्म में और कभी-कभी तत्काल मिल जाता है, किन्तु कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं, जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता, अगले जन्म में या फिर कई जन्मों के बाद मिलता है।

प्रत्येक प्राणी की जीवन यात्रा - अनेक जन्मों तक

कई बार हम देखते हैं कि एक अतीव सज्जन नीतिमान एवं धर्मिष्ठ व्यक्ति सत्कार्य करने पर भी इस जन्म में उनके फल स्वरूप सुख नहीं पाता, जब कि एक दुर्जन, अधर्मी और पापी व्यक्ति कुकृत्य करने पर भी इस जन्म में लोक व्यवहार की दृष्टि से सुख और संपन्नता प्राप्त कर लेता है। ऐसी परिस्थिति को देखकर वर्तमान युग के नास्तिक अथवा कर्म सिद्धांत के रहस्य से अनभिज्ञ कई व्यक्ति यह कह बैठते हैं- 'कर्म विज्ञान में बडा अंधेर है। अन्यथा धर्मिष्ठ दु:खी और पापी सुखी क्यों होता?' इसके समाधान के लिए कर्म विज्ञान के मर्मज्ञ कहते हैं किसी भी प्राणी की जीवन यात्रा केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है। उसकी जीवन यात्रा आगे भी, कर्म मुक्त होने से पहले कई जन्मों तक चल सकती है। यह जन्म उसकी जीवन यात्रा का अंतिम पडाव नहीं है। इसलिए सुकर्मों या दुष्कर्मों का फल तो अवश्यमेव मिलता है। इस जन्म में नहीं तो, अगले जन्म में। कतिपय कृतकर्मों का फल इस जन्म में मिलता है और कई कर्मों का फल अगले जन्म में प्राप्त होता है।

जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता उनके फल भोग के लिए कर्म संयुक्त प्राणी कर्मवशात पूर्ववर्ती स्थूल शरीर को छोडकर उत्तरवर्ती नया शरीर धारण करता है। 'भगवद्गीता' में इस तथ्य को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है-

''जैसे वस्त्र फट जाने या जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर देहधारी जीव उनका त्याग करके नये वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर व्यक्ति उसे छोडकर नये-नये शरीर धारण करता है''।[४८]

आत्मा के द्वारा पूर्ववर्ती शरीर को छोडकर उत्तरवर्ती नूतन शरीर धारण करना पूर्वजन्म कहलाता है और इस जन्म का शरीर का आयुष्य पूर्ण होने पर कर्मानुसार अगले जन्म का शरीर का आयुष्य धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है और पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को भारतीय दार्शनिकों ने पुनर्भव, पूर्वभव, जन्मांतर, प्रेत्यभाव, परलोक पर्याय परिवर्तन तथा भवांतर भी कहा है।[४९]

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के समय शरीर नष्ट होता है आत्मा नहीं

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के साथ-साथ यह सिद्धांत अवश्य ध्यान में रखना है कि, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के समय उक्त प्राणी की आत्मा नहीं बदलती केवल शरीर और उससे संबंधित सजीव निर्जीव पदार्थ का संयोग कर्मानुसार बदलता है। आत्मा का कदापि विनाश नहीं होता, उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता है। पूर्व पर्याय में जो आत्मा थी, वही उत्तर पर्याय में भी रहती है। मृत्यु का अर्थ स्थूल शरीर का विनष्ट होना है, आत्मा का नष्ट होना नहीं। जैसा कि - पंचास्तिकाय में बताया गया है शरीर-धारी मनुष्य रूप से नष्ट होकर देव होता है अथवा नारक आदि अन्य कोई होता है, परंतु उभयत्र उसका जीवभाव (आत्मत्व) नष्ट नहीं होता और न ही वह (आत्मा) अन्यरूप में उत्पन्न होता है।[५०]

अल्पज्ञों को जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के बाद की अवस्था का पता नहीं

बहुधा हम देखते हैं कि जीव दो अवस्थाओं से गुजरता है, वह जन्म लेता है, यह प्रथम अवस्था है और एक दिन मर जाता है, यह द्वितीय अवस्था है। जन्म और मरण की दोनों अवस्थाएँ परोक्ष नहीं हैं, हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान और विचारशील मानव हजारों लाखों वर्षों से यह चिंतन करता आ रहा है कि जन्म से पूर्व वह क्या था? और मृत्यु के पश्चात् वह क्या बनेगा? वैदिक काल के ऋषियों में प्रारंभिक युगों में इसकी जिज्ञासा तीव्र रही है कि[५१] ''मैं कौन हूँ ? अथवा कैसा हूँ ? मैं जान नहीं पाता।'' आत्मा के संबंध में ही नहीं, विश्व के विषय में भी ऋग्वेद के ऋषियों की शंका थी।[५२] 'विश्व का यह मूल तत्त्व तब असत् नहीं था या सत् नहीं था, कौन जाने!' जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात्' मैं कौन था, क्या बनूँगा? कहाँ जाऊँगा?[५३] इन प्रश्नों को इसी संदर्भ से समाहित करने का प्रयत्न किया गया। इन प्रश्नों का समाधान उन महापुरुषों ने किया, जो वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी एवं प्रत्यक्षज्ञानी थे। जिन्होंने स्वयं अनुभव और साक्षात्कार कर लिया था जीवन और मृत्यु का। आचारांग सूत्र में इसी संदर्भ में इस युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के उद्गार हैं- संसार में कई लोगों को यह संज्ञा (सम्यक्ज्ञान) नहीं होता कि 'मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ, अधोदिशा से आया हूँ अथवा अन्य दिशा से आया हूँ या अनुदिशा से आया हूँ।'

इसी प्रकार कई लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करनेवाली है, अथवा पूर्व जन्म से आई) है अथवा मैं कौन था अथवा मैं यहाँ से च्युत होकर आयुष्य समाप्त होते ही (मरकर) आगामी लोक (परलोक) में क्या होऊँगा।[५४]

प्रत्यक्ष ज्ञानियों द्वारा कथित पूर्वजन्म-पुनर्जन्म वृत्तान्त

प्रत्यक्षज्ञानी तीर्थंकरों तथा उनके गणधरों विशेषतः श्री गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी आदि ने एवं पश्चाद्वर्ती ज्ञानी आचार्य एवं मुनिवरों ने अनेक शास्त्रों एवं ग्रंथों में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले घटनाचक्रों का यत्र तत्र उल्लेख किया है।

भगवान महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णी, आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, चउपन्नमहापुरिसचरियं में मिलता है। कल्पसूत्र (आ. भद्रबाहु स्वामी) रचित टीकाओं में वर्णित भगवान महावीर स्वामी के तीर्थंकर भव से पूर्व २७ भवों का वर्णन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की मुँह बोलती कहानी है।[५५]

भगवान पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन भी कल्पसूत्र टीका, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि शास्त्रों एवं ग्रंथों में मिलता है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ के साथ कई जन्मों तक जन्म मरण के रूप में कमठ की वैर परंपरा चालु रही। यह घटना चक्र भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को असंदिग्ध रूप में उजागर करती है।[५६] पार्श्वनाथ चरित्र में भी यही बात आयी है।[५७]

इसी प्रकार सती राजीमती के साथ अरिष्टनेमि तीर्थंकर का पिछले नौ जन्मों का स्नेह था। तीर्थंकर जन्म में उन्हें नौ जन्मों की स्मृति हुई। यह चरित्र भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि की अभिव्यक्ति करता है[५८] और भी ऋषभदेव, शांतिनाथ, मल्लिनाथ आदि तीर्थंकरों के पूर्व भवों का वर्णन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को स्वीकार करने को बाध्य करता है। त्रिषष्टि-शलाकापुरुष में भी यही बात है।[५९] ज्ञाताधर्म कथा में भी यही बात आयी है।[६०]

श्रमण भगवान महावीर स्वामी की अन्तिम देशना उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित कई अध्ययनों में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की स्मृति का उल्लेख स्पष्ट किया है। उत्तराध्ययन सूत्र का ९वाँ अध्ययन भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का साक्षी है इसमें देवलोक से मनुष्य लोक में आये हुए नमिराजा का मोह उपशांत होने पर पूर्वजन्म के स्मरण का तथा अनुत्तर धर्म में स्वयं संबुद्ध होकर प्रव्रजित होने का स्पष्ट उल्लेख है।[६१]

उत्तराध्ययन सूत्र का १४ वाँ अध्ययन इक्षुकार राजा का है यह अध्ययन पूर्वजन्म की सिद्धि के लिए पर्याप्त है। इस अध्ययन में भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र को अपने पूर्वजन्म का

तथा उस जन्म में आचरित तप, संयम का स्मरण करके विरक्त होने का स्पष्ट वर्णन है।[६२]

उत्तराध्ययन सूत्र के १८ अध्ययन संजीय अध्ययन में तो स्पष्टतः पुनर्जन्म और शुभाशुभ कर्मों का अन्योन्याश्रय संबंध रूप गठबंधन बताते हुए कहा गया है- 'जो सुखद या दुःखद कर्म जिस व्यक्ति ने किये हैं वह अपने कृतकर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।'[६३]

इसके पश्चात् १९वाँ अध्ययन मृगापुत्रीय में भी पूर्वजन्म के अस्तित्व को स्पष्टतः सिद्ध करता है। इसमें मृगापुत्र पूर्वजन्म का तथा देवलोक के भव में पूर्वजन्म में आचरित श्रमण धर्म का स्मरण करता है, साथ ही नरक और तिर्यंचगति में प्राप्त हुई भयंकर वेदनाओं और यातनाओं को सहन करने का भी वर्णन करता है।[६४]

इसके अतिरिक्त सुखविपाकसूत्र और दुःखविपाक सूत्र में तो पूर्वकृत शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए सुखद दुःखद जन्म का तथा उसके पश्चात् उस जन्म में अर्जित शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अगले जन्म में स्वर्ग नरक प्राप्ति रूप फल विपाक का निरूपण सुबाहुकुमार आदि की विशद कथाओं द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है।[६५]

इसके अतिरिक्त समरादित्य केवली की कथा भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म संबंधी अनेक घटनाओं से परिपूर्ण है। समरादित्य के साथ-साथ द्वेषवश उनका विरोधी लगातार कई जन्मों तक विभिन्न योनियों में जन्म लेकर वैर का बदला वसूल करता है। उधर समरादित्य भी पूर्वकृत शुभ कर्मवश सात्विक एवं पवित्र कुलों में जन्म लेकर, साधनाशील बन जाने पर भी अशुभ कर्मवश बार-बार वैरी द्वारा कष्ट पाते हैं। प्रत्येक भव में कुछ मंद कषाय एव मंद रागद्वेष से तथा शुभभाव से कष्ट सहकर पूर्वकृत कर्मों का फल भोगकर धीरे-धीरे कर्म क्षय करते जाते हैं। कई जन्मों तक यह सिलसिला चलता है।

इस प्रकार चार घाति कर्मों को क्षय कर के वीतराग केवली बन जाते हैं। और अंत में शेष रहे शरीर से संबंध चार अघाति कर्मों को भी क्षय करके शुद्ध बुद्ध मुक्त हो जाते हैं।[६६] जैनाचार्यों द्वारा रचित जैन कथाओं में प्रायः प्रत्यक्षज्ञानी (अवधिज्ञानी या मनःपर्यायज्ञानी) से अपने द्वारा कृतकर्मों के फलस्वरूप दुःख पाने के कारणों की पृच्छा करने पर वे उसके पूर्वजन्मों की घटना प्रस्तुत करते हैं। जैसे सती अंजना, चंदनबाला, द्रौपदी, सुभद्रा, कुंती दमयंती, प्रभावती, कलावती आदि सतियों को जो भयंकर कष्ट सहने पडे, उनके पीछे भी पूर्वजन्म कृतकर्मों का फल है यह प्रत्येक सती की जीवनगाथा से स्पष्ट प्रतीत होता है।[६७]

प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा जो भी कथन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म संबंधी होता था। उसमें किसी भी प्रकार का राग-द्वेष ईर्षावश या कषायवश कोई भी बात नहीं कहते थे। उनके लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का अपलाप करने या असत्य कहने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

आप्त का लक्षण भी यही है- जो वीतराग हो, अठारह दोषों से रहित हो, सर्वज्ञ हो, सर्व हितैषी हो।[६८]

सर्वज्ञ वीतराग प्रभु वचनों से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म और कर्म का अविनाभावी संबंध-

इसके अतिरिक्त आचारांग, उत्तराध्ययन, विपाकसूत्र, निरियावलिकादि शास्त्रों में भी प्रत्यक्षज्ञानी आप्त पुरुषों ने, सर्वज्ञने यही प्रतिध्वनित किया है- कि जो आत्मवादी होता है, वह लोकवादी अवश्य होता है अर्थात् वह इहलोक-परलोक या स्वर्ग-नरक, मनुष्य-लोक-तिर्यंच लोक को अवश्य मानता है। दूसरे शब्दों में पुनर्जन्म को असंदिग्ध रूप से मानता है।

कर्मों के कारण ही कार्मण शरीर युक्त आत्मा का इहलोक और परलोक में आवागमन होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानियों के वचनों से पूर्वजन्म और पुर्नजन्म का अस्तित्व सिद्ध होने से कर्म का अस्तित्व भी निःसंदेह रूप से सिद्ध हो जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञानियों और भारतीय मनिषियों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि

प्रत्यक्षज्ञानियों ने तो पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के विषय में स्पष्ट उद्घोषणा की है। उनको माने बिना न तो आत्मा का अविनाशित्व सिद्ध होता है और न ही संसारी जीवों के साथ कर्म का अनादित्व। भारतीय मनीषियों ने तो हजारों वर्ष पूर्व अपनी अर्न्तदृष्टि से इस तथ्य को जान लिया था और आगमों, वेदों, धर्मग्रंथों, पुराणों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि में इसका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है।

कुछ लोग भौतिक शरीर की मृत्यु के साथ ही जीवन की समाप्ति समझ लेते हैं किन्तु डॉ. पी. व्ही. काणे के मतानुसार इस प्रकार लिखा है - 'ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म सिद्धांत कहीं नहीं मिलता है।'[६९] फिर भी ऋग्वेद में कर्म का उल्लेख अनेक बार हुआ है। अन्यस्थानों में इसका संबंध यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों से है।

ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत

ऋग्वेद वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन धर्मशास्त्र माना जाता है। उसकी एक ऋचा में बताया गया है कि 'मृत मनुष्य की आँख सूर्य के पास और आत्मा वायु के पास जाती है, तथा यह आत्मा अपने धर्म के अनुसार पृथ्वी में जल में और वनस्पति में जाती है'।[७०] इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म के संबंध का सर्वाधिक प्राचीन संकेत प्राप्त होता है। अथर्ववेद में सुकृत का उल्लेख आया है।[७१] सत्पथ ब्राह्मण प्रतिदान का उल्लेख करता हुआ प्रतीत होता है। वे पुनर्मृत्यु में विश्वास का भी उल्लेख करते हैं।[७२]

उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख

कठोपनिषद् में नचिकेता के उद्गार हैं- 'जैसे अन्नकण पकते हैं और विनष्ट हो जाते हैं, फिर वे पुनः उत्पन्न होते हैं, वैसे ही मनुष्य भी जीता है, मरता है और पुनः जन्म लेता है।[७३]

कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को कर्म और ज्ञान के अनुसार पुनर्जन्म होता है, इस सिद्धांत की शिक्षा दी।[७४] कठोपनिषद् में भी बताया गया है कि, 'आत्माएँ अपने-अपने कर्म और श्रुत के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेती हैं।'[७५]

बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट कहा है, मृत्यु काल में आत्मा नेत्र, मस्तिष्क अथवा अन्य शरीर के प्रवेश में से उत्क्रमण करती है, उस समय विद्या (ज्ञान) कर्म और पूर्व प्रज्ञा उस आत्मा का अनुसरण करती है। इसी उपनिषद् में कर्म का सरल और सारभूत उपदेश दिया गया है कि, जो आत्मा जैसा कर्म करता है, जैसा आचरण करता है वैसा ही वह बनता है। जो सत्कर्म करता है तो अच्छा बनता है, पाप कर्म करने से पापी बनता है, जैसा कर्म करता है तदनुसार वह इस जन्म में या अगले जन्म में बनता है।[७६]

छान्दोग्य-उपनिषद् में भी कहा है कि जिसका आचरण रमणीय है, वह मरकर शुभयोनि में जन्म लेता है और जिसका आचरण दुष्ट होता है, वह चाण्डाल आदि अशुभ योनियों में जन्म लेता है।[७७]

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया है कि, व्यक्ति जो शुभ कर्म करता है, अच्छा जन्म पाता है, स्वास्थ्य पाता है, और आरामदायक जीवन पाता है और जो असत् कर्म करता है उसे निश्चित ही बुरा जन्म मिलता है, बुरा स्वास्थ्य मिलता है और कष्टदायक जीवन मिलता है। कार्य के अनुसार आत्मा को पुर्नजन्म में विविध अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत

भगवद्गीता में कर्मानुसार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण मिलते हैं। गीता में बताया है कि 'आत्मा की इस देह में कौमार्य, युवा एवं वृद्धावस्था होती है, वैसे ही मरने के बाद अन्य देह की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' आगे कहा गया है कि, जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र जीर्ण हो जाने पर नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही जीवात्मा का यह शरीर जीर्ण हो जाने पर पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को पाता है।[७८] यही बात कर्मसिद्धांत आणि पुनर्जन्म में भी यही कहा है।[७९] 'जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है, जो मर गया है, उसका पुनः जन्म होना भी निश्चित है। अतः इस अपरिहार्य विषय में शोक करना उचित नहीं है।' इसी प्रकार श्रीकृष्ण

ने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा है, 'हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं, परंतु हे परंतप! मैं उन सब (जन्मों) को जानता हूँ, तुम नहीं जानते।'[८०]

एक जगह गीता में कहा गया है- 'जो ज्ञानवान होता है, वही बहुत से जन्मों के बाद मुझे प्राप्त करता है।[८१] हे अर्जुन! जिस काल में शरीर त्याग कर गये हुए योगिजन वापस न आने वाली गति को, तथा वापस आनेवाली गति को प्राप्त होते हैं उस काल को मैं कहूँगा।[८२] पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को सिद्ध करते हुए गीता में कहा है 'वह उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में प्रवेश पाता है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत स्पष्ट करते हुए डॉ. पी. व्ही. काणे ने लिखा है कि बहुत व्यक्ति दुःखी क्यों हैं और बहुतों को अनपेक्षित सुख और आनंद क्यों मिल रहा है? यह असमानता देखकर हृदय कंपित हो जाता है, लेकिन कर्म सिद्धांत इन सभी तथ्यों को स्पष्ट करता है।[८३]

बौद्ध दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

अनात्मवादी दर्शन होते हुए भी बौद्ध दर्शन ने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थन किया है। पालि त्रिपिटक में बताया गया है- कर्म से विपाक (कर्मफल) प्राप्त होता है, इस प्रकार यह संसार (लोक) चलता है।[८४]

मज्झिमनिकाय में कहा गया है - कुशल (शुभ) कर्म सुगति का और अकुशल (अशुभ) कर्म दुर्गति का कारण होता है।[८५]

बोधि प्राप्त करने के पश्चात् तथागत बुद्ध को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हुआ था। एक बार उनके पैर में काटा चुभ जाने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा 'भिक्षुओ! इस जन्म से इकानवें जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र विशेष) से एक पुरुष की हत्या हो गई थी। उसी कर्म के कारण मेरा पैर कांटे से बिंधा गया है।[८६] इस प्रकार बोधि के पश्चात् उन्होंने अपने-अपने कर्म से प्रेरित प्राणियों को विविध योनियों में गमनागमन (गति-अगति) करते हुए प्रत्यक्ष देखा था। उन्हें यह ज्ञान हो गया था कि अमुक प्राणी उसके अपने कर्मानुसार किस योनि में जन्मेगा? इस प्रकार का ज्ञान उनके लिए संवेध अनुभव था।[८७]

थेरीगाथा में यह बताया गया है कि तथागत बुद्ध के कई शिष्य-शिष्याओं को अपने-अपने पूर्वजन्मों और पुनर्जन्म का ज्ञान था। ऋषिदासी भिक्षुणी ने थेरीगाथा में अपने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का मार्मिक वर्णन किया है।[८८]

दीघनिकाय में तथागत बुद्ध अपने शिष्यों से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का रहस्योद्घाटन्

करते हुए कहते हैं- भिक्षुओ! इस प्रकार दीर्घकाल मेरा और तुम्हारा यह आवागमन-संसरण चार आर्य सत्यों के प्रतिवेध न होने से हो रहा है।[८९] बौद्ध दर्शन के अनुसार इसका फलितार्थ यह है कि, पुनर्जन्म का मूल कारण अविद्या (जैनदृष्टि से भावकर्म) है। अविद्या के कारण संस्कार, संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान चित की यह भावधारा है जो पूर्व जन्म में कृत कुशल-अकुशल कर्मों के कारण होती है, जिसके कारण मनुष्य को आँख, कान आदि से संबंधित अनुभूति होती है।[९०] इस प्रकार बौद्ध धर्म दर्शन में भी कर्म और पुनर्जन्म का अटूट संबंध बताया है।

पुनर्जन्म का तात्पर्य बौद्ध धर्म में है। मात्र मनोकायिक प्रक्रिया जो मृत्यु के समय अस्तंगत हो जाती है और तुरंत फिर जारी हो जाती है- दर्पण में एक प्रतिकृति के समान अथवा किसी की आवाज की प्रतिध्वनि के समान वह चेतनता का पुनर्जन्म है, जिस तरह मुद्रा और दर्पण के संस्पर्श के माध्यम से मूर्ति दिखाई देती है। वह वर्तमान चेतनता का मात्र दूरगमन है जो आवान्तर जन्म से प्रवाहित रहता है।[९१]

न्याय वैशेषिक दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

नैयायिक और वैशेषिक दोनों आत्मा को नित्य मानते हैं। मिथ्याज्ञान से रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेष आदि से धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप कर्म की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सुख दुःख को उत्पन्न करती है। न्यायसूत्र में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि, प्रवृत्ति और रागद्वेषादि प्रवृत्ति के कारण जन्म और जन्म से दुःख होता है।[९२] न्यायदर्शन में भी यह बात बताई है।[९३] जब तक धर्माधर्म प्रवृत्तिजन्य संस्कार बने रहेंगे, तब तक शुभाशुभ कर्मफल भोगने के लिए जन्ममरण का चक्र चलता रहेगा, जीव नये नये शरीर ग्रहण करता रहेगा। शरीर ग्रहण करने में प्रतिकूल वेदना होने के कारण दुःख का होना अनिवार्य है। इस प्रकार उत्तरोत्तर निरंतर अनुवर्तन होता रहता है। षड्दर्शन रहस्य में बताया है कि 'घडी की तरह सतत इनका अनुवर्तन होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुनः आवृत्ति का कारण होती है'।[९४]

अदृष्ट (कर्म) के साथ ही पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का संबंध

वैशेषिक दर्शन में शुभ प्रवृत्ति जन्य अदृष्ट को धर्म और अशुभप्रवृत्ति जन्य अदृष्ट को अधर्म कहा गया है। धर्मरूप अदृष्ट आत्मा में सुख पैदा करता है और अधर्मरूप अदृष्ट, दुःख। वस्तुतः अदृष्ट का कारण क्रिया (प्रवृत्ति) को नहीं, इच्छा द्वेष को माना गया है। इच्छा द्वेष सापेक्ष क्रिया ही अदृष्ट की उत्पादिका है।

इन सब युक्तियों से नित्य आत्मा के साथ कर्म और पुनर्जन्म-पूर्वजन्म का अविच्छिन्न प्रवाह सिद्ध होता है।[९५]

सांख्य दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

सांख्यदर्शन का भी यह मत है कि पुरुष (आत्मा) अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप नाना योनियों में परिभ्रमण करता है। सांख्यदर्शन की मान्यता है कि यद्यपि शुभाशुभ कर्म स्थूल शरीर के द्वारा किये जाते हैं, किन्तु वह (स्थूल शरीर) कर्मों के संस्कारों का अधिष्ठाता नहीं है उनका अधिष्ठाता है स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर का निर्माण पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्राओं, महतत्त्व (बुद्धि) और अहंकार से होता है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है। प्रत्येक संसारी आत्मा (पुरुष) के साथ यह सूक्ष्म शरीर रहता है, इसे आत्मा का लिंग भी कहते हैं। यही पुनर्जन्म का आधार है।[९६]

इस प्रकार सांख्य दर्शन में भी पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। सांख्यकारिका में इस बात का उल्लेख हैं।[९७]

मीमांसा दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

मीमांसादर्शन आत्मा को नित्य मानता है, इसलिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानता है। मीमांसादर्शन में चार प्रकार के वेद प्रतिपाद्य कर्म बताये गये हैं। काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, नित्य कर्म और नैमित्तिक कर्म।[९८] तंत्र वार्तिक[९९] और ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य[१००] में भी यही बात बताई गई है।

योगदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

योगदर्शन व्यासभाष्य में पुनर्जन्म की सिद्धि करते हुए कहा गया है कि पूर्वजन्म के कर्मरूप संस्कारों का मानना आवश्यक है। इससे पूर्वजन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।[१०१]

पातंजल योगदर्शन में कहा गया है, जीव जो कुछ प्रवृत्ति करता है। उसके संस्कार चित्त पर पडते हैं। इन संस्कारों को कर्म संस्कार या कर्माशय या केवल कर्म कहा जाता है। संस्कारों में संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। ऐसे पूर्वजन्म सिद्ध होने से पुनर्जन्म तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। योगदर्शन का अभिमत है कि जो कर्म अदृष्टजन्य वेदनीय होते हैं, वे अपनाफल इस जन्म में नहीं देते, उनका फल आगामी जन्म में मिलता है। नारक और देव के कर्म अदृष्टजन्य वेदनीय होते हैं। इस पर से भी पुनर्जन्म फलित होता है।[१०२] योगदर्शन व्यासभाष्य में इसी बात का उल्लेख है।[१०३]

महाभारत में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

महाभारत में बताया गया है कि 'किसी भी आत्मा द्वारा किया हुआ पूर्वकृत कर्म निष्फल नहीं जाता, न ही वह उसी जन्म में समाप्त हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार हजारों गायों में से बछडा अपनी माँ को जान लेता है, उसके पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार पूर्वकृत

कर्म भी अपने कर्ता का अनुगमन करके आगामी जन्म में उसके पास पहुँच जाता है। वर्तमान जन्म में किये हुए कर्म अपना फल देने के रूप में आगामी जन्म (पुनर्जन्म) में उसी आत्मा का अनुगमन करते हैं।

इस प्रकार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिलसिला तब तक चलता है, जब तक वह आत्मा (जीव) कर्मों का सर्वथा क्षय न कर डाले।[१०४]

मनुस्मृति में पुनर्जन्म के अस्तित्व की सिद्धि

मनुस्मृति में बताया गया है कि नवजात शिशु में जो भय, हर्ष, शोक, रुदन आदि क्रियाएँ होती हैं उनका इस जन्म में तो उसने बिल्कुल ही अनुभव नहीं किया। अतः मानना होगा कि ये सब क्रियाएँ उस शिशु के पूर्वजन्म कृत अभ्यास या अनुभव से ही संभव हैं। अतः उक्त पूर्वजन्मकृत अभ्यास की स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।[१०५]

पूर्वजन्म के वैर विरोध की स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि

जैन सिद्धांतानुसार नारक जीवों को अवधिज्ञान (मिथ्या हो या सम्यक्) जन्म से ही होता है। उसके प्रभाव से उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति होती है। नारकीय जीव पूर्वभव के वैर विरोध आदि का स्मरण करके एक-दूसरे नारक को देखते ही कुत्तों की तरह परस्पर लडते हैं, एक-दूसरे पर झपटते और प्रहार करते हैं। एक दूसरे को काटते और नोचते हैं। इस प्रकार वे एक दूसरे को दुःखित करते हैं, और पूर्वभव में किए हुए वैर आदि का स्मरण करने से उनका वैर दृढतर हो जाता है।

नारकीय जीवों की पूर्वजन्म की स्मृति से पुनर्जन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।[१०६] सर्वार्थसिद्धि[१०७] टीका में भी यही बात बताई है।

रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से पूर्वजन्म सिद्धि

प्रायः जीवों में पहले किसी के सिखाये बिना ही सांसारिक पदार्थों के प्रति स्वतः राग-द्वेष, मोह, द्रोह, आसक्ति, घृणा आदि प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ पूर्वजन्म में अभ्यस्त या प्रशिक्षित होगी, तभी इस जन्म में उनके संस्कार या स्मरण। इस जन्म में छोटे बच्चे में भी परिलक्षित होते हैं।[१०८] वात्स्यायन में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है।

आत्मा की नित्यता से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सिद्धि

शरीर की उत्पत्ति और विनाश के साथ आत्मा उत्पन्न और विनाश नहीं होता। आत्मा तो (कर्मवशात्) एक शरीर को छोडकर दूसरे नये शरीर को धारण करती है। यही पुनर्जन्म

है। पूर्व शरीर का त्याग मृत्यु है और नये शरीर को धारण करना जन्म है। अगर वर्तमान शरीर के नाश एवं नये शरीर की उत्पत्ति के साथ-साथ नित्य आत्मा का नाश और उत्पत्ति मानी जाये तो कृतहान (किये हुए कर्मों की फल प्राप्ति का नाश) और अकृताभ्युपगम (नहीं किये हुए कर्मों का फल भोग) दोष आएगा। साथ ही उस आत्मा के द्वारा की गई अहिंसादि की साधना व्यर्थ जाएगी। आत्मा की नित्यता के इस सिद्धांत पर से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सिद्ध हो ही जाता है। जैन दर्शन तो आत्मा को ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अविनाशी, अक्षय, अव्यय एवं त्रिकाल स्थाई मानता है।[१०९]

पाश्चात्य दार्शनिक ग्रंथों में पुनर्जन्म

पश्चिम जर्मन वैज्ञानिक डॉ. लोयर विद्जल ने लिखा है कि मृत्यु से पूर्व मनुष्य की अन्तश्चेतना इतनी संवेदनशील हो जाती है कि वह तरह-तरह के चित्र विचित्र दृश्य देखने लगता है। ये दृश्य उसकी धार्मिक आस्थाओं के अनुरूप होते हैं, अर्थात् जिस व्यक्ति का जिस धर्म में लगाव होता है, उसे उस धर्म, मत या पंथ की मान्यतानुसार मरणोत्तर जीवन में या मृत्यु से पूर्व वैसी ही आकृति एवं ज्योर्तिमय प्रकाश दिखाई देता है। उदा. हिन्दुओं को यमदूत या देवदूत दिखाई देते हैं। मुसलमानों को अपने धर्मशास्त्रों में उल्लेखित अनेक प्रकार की झाकियाँ दिखती हैं। ईसाइओं को भी उसी प्रकार बाइबिल में वर्णित पवित्र आत्माओं या दिव्यलोकों के दर्शन या अनुभव होते हैं।[११०]

पाश्चात्य देशों के कई लोग, जिन्हें व्यक्तिगत रूप से किसी धर्म या मत विशेष के प्रति आकर्षण या लगाव नहीं था, ऐसे अनुभवों से गुजरे मानो एक दिव्य ज्योतिर्मय आकृति उनके समक्ष प्रकट हुई हो।

पाश्चात्य दार्शनिक गेहे फिश, शोलिंग, लेसिंग आदि ने अपने ग्रंथों में पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया है। प्लेटो ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है- 'जीवात्माओं की संख्या निश्चित है (उनमें घट बढ नहीं होती) मृत्यु के बाद नये जन्म के समय किसी नये जीवात्मा का सृजन नहीं होता, वरन् एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रत्यावर्तन होता रहता है।' लिवनीज ने अपनी पुस्तक 'दी आयडियल फिलोसॉफी ऑफ लिबर्टीज' में लिखा है, 'मेरा विश्वास है कि मनुष्य इस जीवन से पहले भी रहा है।' प्रसिद्ध विचारक लेस्सिंग अपनी प्रख्यात पुस्तक 'दी डिवाइन एज्युकेशन ऑफ दी ह्युमन रेस' में लिखते हैं, 'विकास का उच्चतम लक्ष्य एक ही जीवन में पूरा नहीं हो जाता, वरन् कई जन्मों के क्रम से पूर्ण होता है। मनुष्य ने अनेक बार जन्म लिया है और अनेक बार लेगा।[१११]

ईसा मसीह ने एक बार अपने शिष्यों से कहा था- 'मैं जीवन हूँ और पुनर्जीवन भी है, जो मेरा विश्वास करता है, सदा जीवित रहेगा, भले ही वह शरीर से मर चुका ही क्यों न हो।' यह कथन पुनर्जन्म के अस्तित्व को ध्वनित करता है।

बाइबिल की एक कथा में भी जीवन की शाश्वतता को प्रकट किया गया है- 'मृत्यु देखने के लिए ही जीवन का अन्त है। वस्तुतः कोई मरता नहीं, जीवन शाश्वत है।'[११२] यहूदी विद्वान सोलमन ने लिखा है 'इस जीवन के बाद भी एक जीवन है। देह मिट्टी में मिलकर एक दिन समाप्त हो जायेगी, फिर भी जीवन अंतकाल तक यथावत् बना रहेगा।'

एक बार प्लेटो ने सुकरात से पूछा- 'आप सभी विद्यार्थियों को एक सरीखा पाठ देते हैं, परंतु कोई विद्यार्थी उसे एक बार में कोई दो बार में और कोई तीन बार में सीख पाता है, इसका क्या कारण है?' सुकरात ने समाधान किया- 'जिन विद्यार्थियों ने पहले (पूर्वजन्म में) अभ्यास किया है, वे उस पाठ को शीघ्र समझ लेते हैं, जिन्होंने कम अभ्यास किया है, वे थोडा कम सीख पाते हैं, और जिन्होंने अभी (इस जन्म में) सीखना प्रारंभ किया है वे बहुत अधिक समय के बाद सीख समझ पाते हैं।' इस संवाद में पूर्व का न्यूनाधिक अभ्यास पूर्वजन्म को सिद्ध करता है।[११३]

डॉ. लिट्जर, डॉ. मूडी और डॉ. श्मिट आदि जिन-जिन पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जितनी भी मृत्यु पूर्व तथा मरणोत्तर घटनाओं के देश-विदेश के विवरण संकलित किये हैं उन सबका सार यह था कि मृत्यु जीवन का अंत नही है। मृत्यु के समय केवल आत्मचेतना ही शरीर से पृथक होती है।' इससे भारतीय मनीषियों की इस विचारधारा की पुष्टि होती है कि मृत्यु का अर्थ जीवन के अस्तित्व का अंत नहीं है। जीवन तो एक शाश्वत सत्य है उसके अस्तित्व का न तो आदि है न अंत।[११४]

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानव जाति के लिए आध्यात्मिक उपहार

पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का स्वीकार करना मानव जाति की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना परिवार समाज एवं राष्ट्र में नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः इस तथ्य को जानकर आत्मा का अस्तित्व शरीर त्याग के बाद भी बना रहेगा, वह जन्म जन्मांतर में संचित शुभाशुभ कर्मों को साथ लेकर अगले जन्म में धारावाहिक रूप से चलते रहते हैं। अतः इस जन्म में आध्यात्मिक विकास में पलभर भी प्रमाद न करके श्रेष्ठता की दिशा में कदम बढाना चाहिए। पुनर्जन्मवादी माननेवाला यदि इस जीवन का उत्तम ढंग से निर्माण करे तो अगला जीवन भी उत्तम बन सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के नमिप्रवज्या अध्ययन में इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। पुनर्जन्म में दृढ विश्वासी नमिराजर्षि ने जब उत्तम जीवन निर्माण में बाधक राग-द्वेष काम-क्रोधादि

को जानकर उन पर विजय प्राप्त कर ली, तब इन्द्र ने उनकी विभिन्न प्रकार से परीक्षा की, उसमें उत्तीर्ण होने पर प्रशंसात्मक स्वर में इन्द्र ने कहा- 'भगवान! आप इस लोक में भी उत्तम है, आगामी (परलोक) में भी उत्तम होंगे, अंत में कर्ममल से रहित होकर आप लोक के सर्वोत्तम स्थान सिद्धि (मुक्ति-मोक्ष) को प्राप्त करेंगे।[११५]

परामनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से पुनर्जन्म और कर्म

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व के संबंध में विभिन्न दार्शनिकों, पाश्चात्य विद्वानों धर्मग्रंथों में बताये हुए प्रमाणों से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास किया है तथा जैन दर्शन के अनुसार आप्त पुरुषों (प्रत्यक्षज्ञानियों) के वचन भी प्रस्तुत किये हैं। फिर भी अल्पज्ञानियों के समक्ष जो भी प्रमाण, युक्तियाँ, तर्क, आप्त वचन आदि रखे हैं उनकी दृष्टि में ये सभी बातें हृदय ग्राही नहीं हैं क्योंकि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म में बुद्धि और तर्क के द्वारा अन्तिम निर्णय नहीं होता, इस हेतु परामनोवैज्ञानिकों ने इस शाश्वत् प्रश्न को समाहित करने का बीडा उठाया। पाश्चात्य जगत में मरणोत्तर जीवन के विषय में चर्चा-विचारणा कई वर्षों पूर्व माइथोलोजी, मजहब, मेटाफिजिक्स और फिलोसॉफी का विषय था, किन्तु पिछले ६० वर्षों से पाश्चात्य देशों में तथा भारत में इस दिशा में परामनोवैज्ञानिकों ने पर्याप्त अनुसंधान और प्रयोग किये हैं और उनके प्रयोग सफल भी हुए हैं।

परामनोवैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म की स्मृति जिन जिन बालकों में होती थी उनका साक्षात्कार किया, उनके पूर्व जन्म के नाम, स्थान, संबंधो तथा वृत्तांतों की स्वयं जाँच की। पूर्णतया उस घटना की प्रमाणिकता की जाँच करने के बाद उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किये। इनमें ऐसे बच्चों की भी घटनाएँ हैं, जिन बच्चों के माता-पिता या वंश परंपरा में पुनर्जन्म को सामान्यतया नहीं माना जाता था। उन बच्चों ने जो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की बातें बताई, वे सचमुच आश्चर्यचकित करने वाली हैं।[११६] जैनदर्शन में आत्मविचार[११७] अखंड ज्योति[११८] में भी इसका उल्लेख है।

आत्मा और कर्म को अस्वीकार करने वाले तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को नहीं मानने वाले जिन जिन लोगों ने उन घटनाओं की गहरी जाँच की, परीक्षा की उन बच्चों का भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया, और अंत में उन्हें स्वीकार करना पडा कि आत्मा है, कर्म है और पूर्वजन्म-पुनर्जन्म भी है। उन सत्य घटनाओं को वे असत्य कैसे सिद्ध कर पाते? उन बालकों के मुँह से कही हुई पूर्वजन्म की बातें सही निकली।

इन परामनोवैज्ञानिकों ने समस्त परोक्ष ज्ञानियों के तर्कों, युक्तियों प्रमाण एवं आप्त वचनों को बहुत पीछे छोड दिया, पूर्वजन्म की घटनाओं के अनुसंधान से उन्होंने प्रत्यक्षवत् सब कुछ सिद्ध कर बताया। इससे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के विषय में जो भी तर्क तथा

अनुभव आदि प्रस्तुत किये गये थे वे निरर्थक नहीं हुए। बल्कि उनकी सार्थकता और पुष्टि में चार चाँद लग गये।

परामनोविज्ञान विज्ञान की ही एक शाखा है। सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु मनोवैज्ञानिक ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को जानने का प्रयत्न किया, उनके इस कार्य को आगे बढाने के लिए परामनोवैज्ञानिक आगे आये।

परामनोवैज्ञानिक द्वारा प्रस्तुत चार तथ्य

उन्होंने प्रत्यक्ष प्रयोग करके पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के साथ-साथ आत्मा के अनादित्व को और प्रवाहरूप से कर्म के अनादित्व को भी सिद्ध कर दिया है। इतना ही नहीं, परामनोविज्ञान ने विविध घटनाओं की जाँच करके चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं-

१) किसी किसी को मृत्यु होने से पूर्व अथवा किसी को अकस्मात ही भविष्य में घटित होने वाली घटना का पहले से ही आभास (पूर्वाभास) हो जाता है।

२) भविष्य के ज्ञान की तरह अतीत (पूर्वजन्म) का भी ज्ञान हो सकता है।

३) कुछ लोगों को किसी भी प्रकार का माध्यम बिना प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है अर्थात् किसी भी वस्तु या व्यक्ति के विषय में वह साक्षात् जान लेता है।

४) बिना किसी माध्यम के एक व्यक्ति हजारों कोसों दूर बैठे हुए व्यक्ति को अपने विचार प्रेषित कर सकता है।[११९]

पुनर्जन्म, आत्मा और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि

परामनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रयोग सिद्ध इन चार तथ्यों के आधार पर उन लोगों को भी यह सोचने के लिए बाध्य होना पडा जो यह मानते थे कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है। आत्मा और कर्म का अस्तित्व नहीं है या आत्मा और कर्म इस जन्म तक ही है, उनका चिरकाल स्थायित्व नहीं है। कुछ धर्मवाले पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं, इसलिए यदि कोई बालक उस तरह की बातें करें तो उसे शैतान का प्रकोप समझकर उसे डरा धमकाकर उसका मुँह बंद कर देते, परंतु मिथ्या कल्पना अंधविश्वास और किंवदन्तियों की सीमाओं को तोडकर प्रामाणिक व्यक्तियों के द्वारा किये गये अन्वेषणों से ऐसी घटनाएँ सामने आती रहती हैं, जिनसे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों तथ्य भलीभाँति सिद्ध हो जाते हैं। परामनोवैज्ञानिकों ने उनकी आँखे खोल दी हैं, और उन्हें यह मानने को बाध्य होना पडता है कि पूर्वजन्म भी है और पुनर्जन्म भी है। आत्मा और कर्म का अस्तित्व चिरस्थायी है।[१२०]

सभी धर्मों में पूर्वजन्म की सिद्धि

ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, हिंदु आदि सभी धर्म परंपरा के बच्चों की पूर्वजन्म और पुर्नजन्म की स्मृति की घटनाएँ परामनोवैज्ञानिकों ने एकत्र की हैं और उन पर पर्याप्त जाँच पडताल करने के पश्चात् वे सभी घटनाएँ सत्य सिद्ध हुई। इस पर से परामनोवैज्ञानिकों का कथन है कि 'पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत उपहासास्पद, भ्रान्तियुक्त या अंधविश्वास पूर्ण नहीं है अपितु यह सत्य और प्रत्यक्ष अनुभव के धरातल पर स्थित अकाट्य सिद्धांत है।' कुछ वर्षों पूर्व गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित कल्याण (मासिकपत्र) के पुनर्जन्म विशेषांक में देश विदेश के सभी धर्मपरंपरा के बालकों की पूर्वजन्म स्मृति से संबंधित आश्चर्यजनक एवं रोचक सच्ची घटनाएँ छपी हैं। इन सभी घटनाओं पर पाश्चात्य विचारकों को भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत के अध्ययन की ओर आकर्षित किया है।[१२१] कल्याण मासिक पत्र में भी इस बात का उल्लेख है।[१२२]

पूर्वजन्म की स्मृति कैसे कैसे लोगों को होती है?

पूर्वजन्म का स्मरण किस प्रकार के लोगों को रहता है, इस संबंध में डॉ. स्टीवेसन आदि परामनोवैज्ञानिकों ने बताया कि जिनकी मृत्यु प्रचण्ड भयंकर आवाज सुनकर या अग्निशस्त्र देखकर अथवा बिजली गिरने आदि के भय, आशंका, अभिरुचि, बुद्धिमत्ता, उत्तेजनात्मक आवेशग्रस्त मनःस्थिति में हुई हो, उन्हें पिछले जन्म की स्मृति अधिक स्पष्ट होती है, अथवा दुर्घटना, हत्या, आत्महत्या, अतृप्ति, कातरता, उद्विग्नता अथवा मोहग्रस्तता से युकत चित्तविक्षोभकारी पिछले जन्म के घटनाक्रम भी स्मृति पटल पर उभरते रहते हैं। पिछले जन्म के कला कौशल विशिष्ट स्वभाव या आदत अथवा शौक की भी छाप किसी किसी बालक में वर्तमान जन्म में बनी रहती है। जिनसे अधिक प्यार या अधिक द्वेष रहा है वे लोग भी इस जन्म में विशेष रूप से याद आते हैं।[१२३]

जीते जी पुनर्जन्मों का ज्ञान एवं स्मरण

प्रसिद्ध योगी श्यामचरण लाहिडी ने जीते जी अपने पिछले अनेक जन्मों के दृश्य प्रत्यक्षवत् देखे थे। उस समय सन् १८६१ में वे दानापुर केट (पटना) में एकांउटेंट थे। अचानक उन्हें तार मिला, रानीखेत में ट्रान्सफर के आदेश का, वे वहाँ से रानीखेत पहुँचें। वहाँ ऑफिस का काम करते समय उनके कानों में बार-बार आवाज आयी, निकटवर्ती द्रोण पर्वत पर पहुँच ने की। वे तीसरे दिन द्रोण पर्वत पर पहुँचे। वहाँ एक अदृश्य अजनबी के अपने पास आने के लिए आवाज आयी। वे प्रकाश पूंज के पास पहुँचे। एक योगीराज एक गुफा के द्वार पर खडे मुस्कुराए। उन्होंने श्यामचरण को संबोधित करके अपने पास बुलाने का कारण बताया। फिर श्रद्धाभिभूत योगिराज ने लाहिडी के मस्तक पर अपना

दाहिना हाथ रखा। शीघ्र ही लाहिडी के शरीर में विद्युत की सी शक्ति और प्रकाश भरने लगा, तन्द्राएँ जागृत हो उठीं, मन का अंधकार दूर होने लगा, ऋतम्भरा प्रज्ञा जाग उठी, अलौकिक अनुभूतियाँ होने लगीं। लाहिडी ने देखा 'मैं पूर्वजन्म में योगी था। ये साधु मेरे गुरु हैं, जो हजारों वर्षों की आयु हो जाने पर भी शरीर को अपनी योग क्रियाओं द्वारा धारण किये हुए हैं।' लाहिडी को याद आया कि 'पिछले जन्म में उन्होंने योगाभ्यास तो किया, मगर सुखोपभोग की वासनाएँ नष्ट नहीं हुई, फिर अव्यक्त दृश्य भी व्यक्तवत् और गहरे होते चले गये, जिनमें उनके अनेक जन्मों की स्मृतियाँ साकार होती चली जा रही थी।' इस प्रकार श्री लाहिडी ने अपने पिछले अनेक जन्मों के दृश्यों से लेकर वहाँ पहुँचने तक का सारा वर्णन चलचित्र की भाँति देख लिया।'

इस प्रकार लाहिडी द्वारा अनेक पूर्वजन्मों का प्रत्यक्षवत् दर्शन, आत्मा और कर्म के चिरकालीन अस्तित्व को सिद्ध करता है। आत्मा के साथ प्रवाह रूप से कर्म का अनादित्व माने बिना पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत घटित हो ही नहीं सकता।[१२४] विनोबाभावे ने अपने बारे में कहा था मुझे यह प्रतीत होता है कि मैं पूर्वजन्म में बंगाली योगी था।' साथ ही जिन वस्तुओं के प्रति जन सामान्य में प्रबल आकर्षण होता है, उनके प्रति विनोबा में कदापि आकर्षण नहीं हुआ। इसे वे अपने पिछले जन्म की कमाई मानते थे।[१२५]

निष्कर्ष यह है कि परामनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत पूर्वजन्म और पुनर्जन्मों की स्मृति की अनेक घटनाएँ हैं जो सिद्ध करती हैं कि मरने के साथ ही जीवन का अंत नहीं हो जाता। अनेक जन्मों के कर्मफल, एक जन्म या अनेकों जन्मों के बाद मिलने की बात भी प्रमाणित हो जाती है, आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व मानने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि सभी पुनर्जन्मों का मूलाधार व्यक्ति के पूर्वकृत कर्म ही हैं।

प्रेतात्माओं का साक्षात् संपर्क : पुनर्जन्म की साक्षी

मरणोत्तर जीवन के दो प्रमाण ऐसे हैं, जिन्हें प्रत्यक्षरूप में देखा समझा और परखा जा सकता है। १) पूर्वजन्म की स्मृतियाँ, २) प्रेत जीवन का अस्तित्व

परामनोवैज्ञानिकों ने इस विषय में भी पर्याप्त अनुसंधान किये हैं। खास तौर पर पाश्चात्य देशों में प्रेतविशारदों ने पूर्वजन्म की आसक्ति, मोह, घृणा, द्वेष आदि से बद्धकर्म संस्कारों से अगले जन्म में प्राप्त प्रेतयोनि की स्थिति के विषय शोध और प्रयोग किये हैं। सर ऑलिवर-लॉज, सर विलियम वारेट, रिचर्ड हडसन आदि परामनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रेतों से स्नेहपूर्वक संपर्क स्थापित करके गंभीर खोजे की हैं। इस प्रकार उन्होंने भारतीय धर्मों और दर्शनों द्वारा मान्य परलोक वाद की सत्यता को परिपुष्ट किया है। इतना ही नहीं, आत्मा तथा कर्म और कर्मफल के प्रवाह रूप से अनादि अस्तित्व को भी प्रमाणित किया है।[१२६]

जैन दर्शन की दृष्टि से प्रेतात्मा का लक्षण एवं स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस आदि व्यंतर जाति के देव माने जाते हैं। मनुष्य के रूप में रहते हुए इनका किसी स्थान विशेष से प्रबल मोह, ममत्व, आसक्ति, मूर्च्छा, लालसा, आकांक्षा अथवा प्रबल ईर्षा, घृणा, द्वेष, वैर-विरोध आदि होते हैं। ऐसे व्यक्ति व्यंतर जाति के देवों में से भूत, प्रेत, पितर, यक्ष, राक्षस, आदि किसी भी योनि में अपने पूर्वकृत कर्मानुसार मरकर जन्म लेते हैं। जन्म लेने के पश्चात् भी पूर्वोक्त जीव अपनी अतृप्त आकांक्षा के कारण वस्तु, व्यक्ति या स्थान विशेष के आसपास चक्कर लगाते रहते हैं या वही अड्डा जमाकर बैठते हैं। ये वैक्रिय शरीरधारी होने से मनचाहा रूप बना सकते हैं, अथवा वे अदृश्य रहकर अपनी इच्छापूर्ति के लिए किसी दूसरे के माध्यम से बोलकर अथवा दूसरे के शरीर में प्रवेश करके अपनी उपस्थिति और इच्छा व्यक्त करते रहते हैं। कुछ लोगों के अकालमृत्यु प्राप्त पारिवारिक जन पितर बन जाते हैं। या प्रेत योनि में जन्म लेते हैं। ऐसे पितर या प्रेत दो प्रकार के होते हैं। जिनके प्रति श्रद्धा या प्रतीति हो अथवा मन में आदरभाव होता है, या जिनके साथ पूर्वजन्म में मित्रता, अनुराग, या प्रीति होती है ऐसे पितर तो हितैषी एवं सहायक होते हैं, दूसरे ऐसे पितर होते हैं, जिन्हें पारिवारिक जनों या अमुक परिवार या व्यक्ति से कष्ट पहुँचा है, अथवा उनकी अवज्ञा, अनादर या उपेक्षा हुई है, उनसे बदला लेते हैं, उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं, उनके कार्यों में विघ्न डालते हैं, उनको हानि पहुँचाते हैं। कई लोगों को प्रेतात्मा या मृतात्मा प्रत्यक्ष भी दिखाई देते हैं और कई अदृश्य रहकर किसी दूसरे के मुँह से बोलते हैं।[१२७] तत्त्वार्थसूत्र[१२८] में भी यही बात है।

जो सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के पूर्णतः या अंशतः आराधक होते हैं, वे मरकर उच्चगति में सम्यक्दृष्टि देव बनते हैं, या फिर अच्छी भावना वाले भवनपति या व्यंतर जाति के सम्यक्दृष्टि देव बनते हैं। वे धर्मनिष्ठ लोगों की सहायता करते हैं उनकी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वे उन धर्मात्माओं के चरणों में नतमस्तक होते हैं। ऐसे देवों के बारे में किसी को प्रतिबोध देने, धर्मकार्य में सहायक होने आदि के रूप में मर्त्यलोक में आने के कई शास्त्रीय ऐतिहासिक एवं आधुनिक प्रमाण भी मिलते हैं।[१२९] उपासकदशांग में[१३०] भी यही बात है।

प्रेतात्मा (यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत आदि) बनकर पूर्वजन्म में स्वयं को दुःखी करने वाले से उक्त वैर का प्रतिशोध लेने की घटनाएँ विविध जैन कथाओं में आती हैं। द्वारिका नगरी के यादवकुमारों द्वारा द्वैपायन ऋषि को छेडने, उन्हें पत्थर मारकर निष्प्राण करने से अगले जन्म में अग्निकुमार (भवनपति) देव बनकर द्वारिका नगरी को भस्म करने के रूप में वैर का बदला लेने की घटना प्रसिद्ध है।[१३१]

ये सभी घटनाएँ आत्मा और कर्म के अस्तित्व तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सत्ता को सिद्ध करती हैं।

प्रेतात्मा द्वारा प्रिय पात्र को अदृश्य सहायता

कभी-कभी यह आसक्ति इतनी गहरी होती है कि प्रेतात्मा अपने प्रियपात्र को अदृश्य रूप से सहायता भी करते हैं।

सन् १९६१ के जून मास की घटना है। स्ट्रामबर्ग का जेम केलघन शराब के नशे में रात्रि में घूम रहा था अचानक पीछे से आवाज आयी, 'रुको केलघन।' उसने पीछे मुडकर देखा तो कोई दिखाई नहीं दिया अब भी आवाज गुंज रही थी फिर उसे आवाज सुनाई दी। बेटा! सहसा इस आवाज को सुनकर उसे अपनी माँ का ध्यान आया जो २७ वर्ष पूर्व मर चुकी थी। सोचने लगा क्या यह उसकी माँ की प्रेतात्मा है ? इस पर पुनः अदृश्य आवाज आयी बेटा तू मद्यपान करता है इसे छोडना चाहिए। तुम नहीं जानते कि मुझे कितना कष्ट हो रहा है। जब तक तुम इस दुष्कृत्य को नहीं छोडोगे तब तक मुझे शांति नहीं मिलेगी। माँ की इस बात को सुनकर केलघन का दिल दहल गया। उसने तत्काल मन में संकल्प किया आज से मैं शराब नहीं पीऊँगा तथा श्रेष्ठ बनूँगा। फिर केलघन ने कहा 'यदि तुम मेरी माँ हो तो अपने हाथों से छूकर प्रतीति कराओ' इतना कहते ही माँ की प्रेतात्मा ने अपना हाथ केलघन की कमीज की बाह पर रख दिया। माँ के हाथ का चिह्न कमीज की बाह पर उभर आया, जो आज भी लंदन के 'परगेटरी म्युजियम' (हाऊस ऑफ शैडोज) में सुरक्षित है।

महारानी विक्टोरिया के पति प्रिंस अलबर्ट मृत्यु के पश्चात् भी प्रिय पत्नी को समय-समय पर अच्छे सुझाव देते रहे।

नेपोलियन जब सेंट हेलेना में निर्वासित जीवन बीता रहा था। उनकी मृत पत्नी जोसेफाइन की आत्मा ने नेपोलियन के मृत्यु की सूचना दी थी।[१३२]

फोटो द्वारा सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व

वर्तमान युग में सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने के प्रयोग भी प्रारंभ हुए है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'किरलियॉन' दंपत्ति ने एक विशिष्ट प्रकार की फोटो पद्धति आविष्कृत की है, उसके द्वारा वे सूक्ष्म शरीर के फोटो ले लेते हैं। इस प्रकार के फोटो में मरते हुए व्यक्ति के शरीर की कोई आकृति शरीर से निकलती है और बाहर जाती दिखाई देती है। इस प्रयोग ने आध्यात्मिक क्षेत्र में और विशेषतया पूर्वजन्म को प्रत्यक्ष सिद्ध करने में अभूतपूर्व क्रान्ति लाई है। यह सूक्ष्मतर शरीर जैन कर्म विज्ञान के अनुसार तैजस युक्त कार्मण शरीर ही कर्मों के अस्तित्व का प्रमाण है। फलतः कार्मण शरीर द्वारा यानी कृतकर्मों के विपाक के रूप में अगले जन्म में प्रवेश की बात स्वतःसिद्ध हो जाती है।[१३३]

सूक्ष्म शरीर के फोटो से कर्म के अस्तित्व का समाधान

सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने की सफलता ने युक्ति, अनुमान और आगम प्रमाण की परोक्ष जगत् की सीमा को बहुत पीछे छोड दिया।

अब तो प्रेतविद्या विशारदों, परामनोवैज्ञानिकों एवं सूक्ष्म शरीर चित्रांकन कलाकारों ने प्रत्यक्ष जगत् की सीमा में पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, आत्मा और कर्म के अस्तित्व का प्रत्यक्षवत् समाधान कर दिया है। सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने में सफलता के कारण पुनर्जन्म और कर्म का अविनाभाव संबंध मानने में किसी को कोई हिचक (दिक्कत) नहीं होनी चाहिए।

पुनर्जन्म सिद्धांत की उपयोगिता

पुनर्जन्म के सिद्धांत की उपयोगिता और अनिवार्यता तथा जन्म जन्मांतर से चले आने वाले कर्मप्रवाह को तथा कर्मफल के अटूट क्रम को समझने की आवश्यकता है। इस सिद्धांत को अच्छी तरह से समझने तथा हृदयंगम करने पर जीवन की दिशा निर्धारित करने और मोडने में सफलता मिल सकती है। अपनी आंतरिक दुर्बलताओं और विकृतियों को अपनी ही भूल से चुभे काँटे समझकर धैर्यपूर्वक निकालना और धावों को भरना चाहिए।

अपने जीवन में तप, त्याग, संयम तथा क्षमादि दस धर्मों को अपनी अमूल्य उपलब्धि मानकर उन्हें सुरक्षित ही नहीं परिवर्तित करने का अभ्यास सतत् जारी रखना चाहिए।

साधना के पथ पर बढते रहने से उसका सुपरिणाम इस जन्म में तो मिलेगा ही साथ-साथ अगले जन्म में भी निश्चित मिलता है। श्रेष्ठता की दिशा में उठाया गया कदम कभी निराशोत्पादक नहीं होगा। इस प्रकार पुनर्जन्म सिद्धांत की दार्शनिक पृष्ठभूमि को नैतिक, आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है।

कर्म अस्तित्व का मुख्य कारण जगत वैचित्र्य

जैन संस्कृति का उज्ज्वल धवल प्रासाद लाखों करोडों वर्षों से कर्म-विज्ञान की सुदृढ भित्ति पर खडा है। जैन संस्कृति की प्रेरक प्रवृत्तियों उसके मौलिक भावों एवं उनके अंतस्तल को हृदयंगम करने के लिए कर्मविज्ञान को समझना परम आवश्यक है।

जगत् का वैचित्र्य : कर्मों का अस्तित्व

कर्म के अस्तित्व का सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है जगत् का वैचित्र्य अर्थात् जगत् के प्राणियों की विविधरूपता, उनके सुख-दुःख की विभिन्नता, उनकी आकृति, प्रकृति-संस्कृति में पृथकता उनके विकारों व संस्कारों का चयापचय, उनके विभाव, स्वभाव, प्रभाव की दूरता, निकटता और एक ही जाति के प्राणियों में असंख्य आकार प्रकार कर्म के अस्तित्व को स्पष्ट घोषित करते हैं। अभिधर्मकोष, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में भी इस लोक की विचित्रता

तथा जीवों की विभिन्नताओं का कारण कर्म को ही माना गया है।[१३४] ऐसी ही बात ब्रह्मसूत्र[१३५] (शांकरभाष्य) में बताई गई है।

अभिधर्मकोष में भी लिखा है 'कर्मजंलोकवैचित्रम्' अर्थात् लोक विचित्रता का कारण कर्म है। संसार का विश्लेषण करने में यत्रतत्र सर्वत्र विभिन्नता, विचित्रता और विषमता दृष्टि-गोचर होती है। निश्चयदृष्टि से सभी जीव स्वभाव और स्वरूप की अपेक्षा से समान हैं। जैसे सर्व कर्म मुक्त सिद्ध परमात्मा स्वरूप है। वैसा ही निकृष्टतम निगोद के जीव का स्वरूप है, उसमें निश्चयदृष्टि से कोई भेद या अंतर नहीं है फिर क्या कारण है कि एक जीव तो जन्म मरणादि के महादुःख से समस्त सांसारिक सुख-दुःख से सर्वथा रहित है और दूसरा अभी कषायादि विकारों से लिपटा हुआ है। सांसारिक सुख-दुःख से ग्रस्त है, इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग अथवा इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग में संवेदनशील बनकर राग-द्वेष के आसक्ति वियोग में संवेदनशील बनकर राग-द्वेष के आसक्ति और घृणा के या मोह और द्रोह के झूले में झूल रहा है ?

बृहदालोयणा में सुश्रावक रणजीत सिंहजी ने इस अंतर का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है -

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म मैल का आन्तरा, बुझे बिरला होय॥

वस्तुतः सिद्ध जीव और संसारी जीव के स्वभाव (आत्मभाव) आत्मगुण एवं स्वरूप में निश्चय दृष्टि से सदृशता होने पर भी व्यवहार में जो इतना गहन अंतर है वह कर्मों के कारण सिद्धों की आत्मा परम विशुद्ध और समस्त कर्मों से रहित है, जबकि संसारी जीवों की आत्माएँ कर्ममल से लिप्त हैं इन दोनों में अंतर का कारण कर्म के सिवाय और कोई नहीं है।

जैन दर्शन का यह सिद्धांत है कि स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ एक समान हैं।[१३६] इस प्रकार संसारी आत्मा में कषायादि विजातीय तत्त्व की जो कमी मिली हुई है वही शुद्ध और संसारी आत्माओं में भेद कराती है। यह कषायादि की मलिनता कर्म के कारण है। निष्कर्ष यह है कि कर्म नामक विजातीय पदार्थ ही ऐसा है जो आत्मा की शुद्ध स्थिति को भंग करके उनमें भेद डालता है तथा विभिन्नता, विसदृशता और विरूपता पैदा करता है।

कर्मों के कारण जीवों को कैसी कैसी उपाधियाँ विषमताएँ प्राप्त होती हैं, जैन कर्म मर्मज्ञों ने १४ द्वार बताये हैं।

गति, इन्द्रिय और काया को लेकर कर्म कारण विषमताएँ

१) **गति** - हम देखते हैं कि सांसारिक जीवों में मनुष्य, देव, नारक, तिर्यंच आदि अनेक प्रकार की विषमता एवं विविधता प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होती है इसका भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। एक जीव नरक में पडा विविध यातनाएँ भोग रहा है, एक जीव देवगति में विविध वैषयिक सुखों का उपभोग कर रहा है, एक मनुष्य गति में सुख और दुःख, उन्नति और अवनति, प्रेय और श्रेय के हिंडोले में झूल रहा है, और एक जीव तिर्यंच गति में[१३७] उत्पन्न होकर परवशता और पराधीनता के कारण नाना दुःख भोग रहा है। इस प्रकार जीवों की इस गति को लेकर जो विभिन्नता है। जैन दार्शनिकों ने उन उन जीवों के द्वारा भिन्न प्रकार से बाँधे हुए कर्मों को ही इसका कारण माना है।

२) **इन्द्रिय** - सांसारिक जीवों में इन्द्रियों की विभिन्नता है। कोई जीवों को एक इन्द्रिय (स्पर्श) होती है, तो कई जीव दो इन्द्रिय वाले हैं, कोई जीव तीन इन्द्रियवाले होते हैं, कोई चार इन्द्रियवाले और कोई पाँच इन्द्रिय वाले हैं। जीवों को इन्द्रियों की प्राप्ति का यह अंतर भी कर्म के अस्तित्व को स्पष्ट कर रहा है। इसके उपरांत अंगोपांग से विकलांग है। इन इन्द्रियों की विरूपता का कारण भी कर्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

३) **काया** - इसी प्रकार काया में भी कितना अंतर है।[१३८] कुछ जीव त्रस (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव) हैं, जब कि दूसरे स्थावरकाय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वाउकाय, वनस्पतिकायिक है) फिर षट्काय जीवों में भी अनंत प्रकार हैं। उसका कारण भी कर्म के सिवाय और कोई नहीं हो सकता।

मन वचन काया के योग को लेकर जीवों में विभिन्नता का कारण : कर्म

४) **योग**- जैनाचार्यों ने योग की परिभाषा बताते हुए कहा है कि मन, वचन, काया का व्यापार या प्रवृत्ति और दूसरी परिभाषा है, कि - पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काया से युक्त जीव की कर्मों को ग्रहण करने में कारण भूत शक्ति को भी योग कहते हैं।[१३९] कर्मग्रंथ[१४०] में भी यही बात समस्त प्रकार के सांसारिक जीवों के मन, वचन, काया के योगों को लेकर भी विभिन्नताएँ दृष्टि गोचर होती हैं। यह विभिन्नता भी कर्मजन्य है।

क) मनोयोग - मनोयोग की अपेक्षा से कोई प्राणी मननशील है, मनस्वी है, विचारशील है तो कोई कोई मनन चिंतन ही नहीं कर पाता। कोई विवेकी और तार्किक है तो कोई विचारमूढ है। कोई मंदबुद्धि और मूर्ख है तो कोई प्रखर बुद्धि प्राज्ञ, विद्वान और सुशिक्षित है। मन की प्रवृत्ति योग के ये असंख्य प्रकार कर्म के कारण ही संभव हैं।

ख) **वचनयोग** - वाणी प्रयोग को लेकर जीवों के अनेक प्रकार हैं। पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीवों को वाणी प्राप्त नहीं होती है। बिल्कुल भाषा पर्याप्ति से रहित हैं। द्विइंद्रिय वाले जीवों को भाषा के लिए जिह्वा (रसना) जो मिली है, किन्तु उनकी चेतना बहुत ही अविकसित है। वे जीव मूक रहते हैं। तेइन्द्रिय जीव भी रसना का उपयोग पदार्थ को ग्रहण करने के अलावा कुछ भी उपयोग नहीं कर सकते हैं। चार इन्द्रिय वाले जीव भाषा का प्रयोग करते हैं लेकिन उनकी भाषा अव्यक्त है। सभी पंचेन्द्रिय जीवों को वाणी प्राप्त हुई है, किन्तु तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की भाषा अव्यक्त है, स्पष्ट नहीं है, व्यवस्थित नहीं है इस प्रकार वचनकृत इन विभिन्नताओं में कर्म को ही कारण समझना चाहिए।

ग) **कायायोग** - किसी को छोटा या बडा, रोगी या निरोगी, दुर्बल या बलवान, सुडौल या बेडौल, लंबा या ठिंगना, कुरूप या सुरूप शरीर मिलता है या किसी को कुत्ता बिल्ली आदि प्राणियों का शरीर मिलता है, इस प्रकार जीवों के शरीरों में विसदृशता दिखाई देती है, इसके लिए पूर्वकृत कर्म को कारण मानना ही पडेगा, अन्यथा अमुक आत्मा को अमुक प्रकार का शरीर मिलता है, ऐसी व्यवस्था का समाधान कर्म के अतिरिक्त नहीं हो सकता।[१४१] जैन दृष्टि में कर्म[१४२] और न्यायदर्शन में[१४३] इस तथ्य को स्वीकार किया है।

५) वेद को लेकर जीवों में विभिन्नता का कारण : कर्म

सांसारिक जीवों में कोई स्त्री-वेदी है, कोई पुरुष-वेदी है और कोई नपुंसक-वेदी हैं। एकेन्द्रिय जीव नपुंसक वेदी माने जाते हैं। शेष जीवों में तीनों ही प्रकार के वेद पाये जाते हैं। इस प्रकार सांसारिक जीवों की कामवासना में भी बहुत तरतमता है, किसी की कामवासना अत्यंत मंद किसी की तीव्र और तीव्रतम भी होती है, इस तरतमता का कारण कर्म के अतिरिक्त क्या हो सकता है?

६) कषाय को लेकर जीवों में तारतम्य का कारण : कर्म

कषाय - प्रत्येक जीवात्मा में चार प्रकार के कषाय होते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों की मात्रा में अंतर पाया जाता है। वह भी अकारण नहीं है। किसी में चारों कषाय मंद होते हैं किसी में अधिक मात्रा में होते हैं, उसका मूल कारण कर्म है।[१४४] धवला[१४५] और राजवार्तिक[१४६] में यही बात बताई है।

कर्म ही जीवों के ज्ञान, संज्ञा, संज्ञित्व असंज्ञित्व में अंतर

७) **ज्ञान** - जीवों के ज्ञान में भी पर्याप्त अंतर है। एक को परिपूर्ण ज्ञान है, किसी को अवधिज्ञान है, किसी को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है, अथवा अनंत जीवों को सम्यक्ज्ञान भी नहीं है, इस प्रकार विभिन्नता और तारतम्यता देखी जाती है। इन सबका कारण दार्शनिक मनोवैज्ञानिक

या नास्तिक लोग चाहे बौद्धिक क्षमता, अक्षमता या ज्ञान तंतुओं की सबलता निर्बलता बता दे, परंतु इन सब का मूल कारण जीवों के अपने अपने कर्म ही हैं।[१४७]

८) **संज्ञा** - जैन शास्त्रों में चार प्रकार की संज्ञा बताई गई है- आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञा इन चारों संज्ञाओं में भी किस जीव में कोई संज्ञा अधिक और कोई संज्ञा कम दिखाई देती है। इस प्रकार जीवों की संज्ञा में तारतम्यता दिखाई देती है। प्रत्येक जीव के अपने-अपने कर्म ही हैं।[१४८] सर्वार्थसिद्धि[१४९] गोम्मटसार[१५०] में भी यही बात कही है।

९) **संयम** - संयम पाँचों इन्द्रियों पर नियंत्रण करना। संसार में बहुत कम जीव ऐसे हैं, जो महाव्रतधारी हैं जिन्होंने इन्द्रियों को वश में किया है। कुछ गृहस्थ जीवन में भी संयमासंयमी हैं, जो अणुव्रतों का पालन करते हैं। इसके अलावा अनंतजीव असंयमी हैं। यह तारतम्यता है उसका मूल कारण शुभाशुभ कर्मों का उदय, क्षय या क्षयोपशम ही है।

१०) **दर्शन** - पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण (ज्ञान) करना 'दर्शन' कहलाता है।[१५१] दर्शन को लेकर जीवों में अनेक प्रकार के भेद हैं। चउरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शन होता है। एकेन्द्रिय से तेइन्द्रिय तक के जीवों में चक्षुदर्शन नहीं होता है। इतनी विभिन्नता का कारण कर्म के उदय, क्षय या क्षयोपशम को ही समझना चाहिए।

११) **लेश्या** - लेश्या से आत्मा कर्मों से श्लिष्ट लिप्त होती है। कषायोदय से अनुरंजित होने पर आत्मा के जैसे जैसे परिणाम होते हैं वैसी वैसी लेश्या होती है। लेश्या छः प्रकार की होती है। प्रथम तीन कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या अशुभ हैं और अंतिम तीन तेजो लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या शुभ हैं। यह जो जीवों में लेश्याओं का तारतम्य है, वह भी कर्म के कारण है।[१५२]

१२) **भव्य** - जिस मानव में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता हो, उसे भव्य कहते हैं। जिस मानव में यह योग्यता न हो वह अभव्य कहलाता है। अभव्य की अपेक्षा भव्य अधिक हैं अभव्य का प्रथम गुणस्थान है, शेष तेरह गुणस्थान भव्य जीवों के हैं, परंतु उनमें भी एकेन्द्रिय से लेकर चउरेंद्रिय तक के जीवों में मोक्षप्राप्ति की योग्यता नहीं होती है। पंचेन्द्रिय जीवों में भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव हैं। इस प्रकार भव्य अभव्य को लेकर कर्मकृत विभिन्नता पाई जाती है कभी कभी कर्म का निबिड उदय रहता है इस कारण जीव की भव्यता दब जाती है कभी-कभी कर्मों के क्षयोपशम से जीव का भव्यत्व निखरता है।[१५३]

१३) **सम्यक्त्व** - सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को लेकर भी कर्मकृत विभिन्नता पाई जाती है। सम्यक्त्व के कई भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि तथा मिथ्यात्व के भी

पाँच तथा पच्चीस भेद हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को लेकर भी जीव में कर्म कृत विभिन्नता है।[१५४]

१४) **आहार** - आहार को लेकर भी विभिन्नता है। शरीर नामकर्म के उदय से देह वचन द्रव्य मनरूप बनने योग्य नोकर्म वर्गणा के ग्रहण को अथवा छहों पर्याप्तियों के पुद्गलों के ग्रहण को भी आहार कहते हैं। एक गति से दूसरी गति में जाते हुए जीव एक या दो अथवा तीन समय तक अनाहरक रहते हैं। इस प्रकार आहारक और अनाहारक को लेकर जीवों की विभिन्नता भी कर्मकृत है।

निष्कर्ष यह है कि इन चौदह मार्गणा- द्वारों को लेकर जीवों की विभिन्न स्थितियाँ होने का मूल कारण कर्म हैं।[१५५] सर्वार्थसिद्धि[१५६] में भी यह बात कही है। विश्व के विशाल रंगमंच पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो अनंत अनंत जीवों की विभिन्न दशाएँ हैं, जैसे कि सुख-दुख, सम्पत्ति-विपत्ति, सौभाग्य-दुर्भाग्य, सुस्वर-दुःस्वर, आदेय-अनादेय, सुगति-दुर्गति, सुजाति-दुजाति, सुस्पर्शता-दुःस्पर्शता, सुरसता-विरसता, सुगंधितता-दुर्गंधितता, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि दृष्टि गोचर होती है। यह केवल मनुष्य में ही नहीं कुल चौरासी लाख जीवयोनि के प्राणियों में भी विचित्रता देखी जाती है।[१५७] इसी प्रकार मानव जाति में भी अनगिनत प्रकार की विषमताएँ प्रतीत होती हैं।

कर्म विज्ञान, मनोविज्ञान और शरीरशास्त्र का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए श्री रतनलालजी अपने लेख में लिखते हैं कि- वैयक्तिक भिन्नता भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। कर्मशास्त्र वाले विचित्रता का मूल कारण कर्म को मानते हैं। आनुवांशिक संस्कार को नहीं, यदि आनुवांशिक माने तो एक ही परिवार में दो पुत्रों में विभिन्नता दृष्टि गोचर होती है, एक पुत्र नीतिमान, धार्मिक, सरल प्रकृतिवाला है और दूसरा पुत्र दुराचारी, नास्तिक और कुटिल प्रकृति का होता है। आनुवांशिक संस्कार होते तो इस प्रकार की भिन्नता नहीं आती। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि 'जीव पूर्वकृत कर्मों के कारण उत्तमकुल, सुंदर निरोगी शरीर, महाप्राज्ञ, कुलीन, यशस्वी, प्रतिष्ठित एवं बलिष्ठ होता है।[१५८]

सामाजिक जीवन में नाना प्रकार की विसदृशता पाई जाती है। प्रत्येक जाति के अपनी-अपनी रहन, सहन, संस्कार, परंपरा, रीति, रिवाज आदि में भी अंतर पाया जाता है। कई जातियों एवं धर्म संप्रदायों, पंथों में पशुबलि-नरबली, कुर्बानी (पशुवध), मांसाहार, मद्यपान आदि क्रूर अमानवीय एवं घृणित हिंसक प्रथाएँ हैं, तो कई जातियों, धर्मसंप्रदायों वंश परंपरा में पशुबलि आदि प्रथाएँ बिल्कुल नहीं हैं। इस प्रकार समाज में विषमता का मूल कारण कर्म है।

मनुष्यों के सांप्रदायिक जीवन में भी विविध मत, विविध पंथ, पारस्पारिक साम्प्रदायिक राग-द्वेष, ईर्षा, आसक्ति, मोह, पद, प्रतिष्ठा की लालसा आदि विभिन्न विकृतियाँ विरूपता का मूल कारण भी कर्मकृत मानना चाहिए।[१५९] मानव के आर्थिक जीवन में भी विभिन्नताएँ प्रतीत होती हैं।

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से विसदृशता कारण कर्म

'मिलिंद-प्रश्न' में मिलिंद राजा और तथागत बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य स्थविर नागसेन का वार्तालाप इसी तथ्य का समर्थन करता है कि सभी मानव अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं।[१६०]

जैन शास्त्रानुसार श्री देवेन्द्रसूरि ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि राजा-रंक, बुद्धिमान-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, बलिष्ठ-निर्बल, रोगी-निरोगी तथा भाग्यशाली-अभागा इन सब में मानव समान रूप में होने पर भी अंतर दिखाई देता है, वह कर्मकृत है। पंचाध्यायी में इस सिद्धांत का[१६१] समर्थन किया गया है। यह कर्म का कारण है।[१६२]

कई लोग विश्ववैचित्र्य को कर्मकृत स्वीकार करते हुए भी कहते हैं कि आत्मा (जीव) अज्ञ है, अनाथ है, इसलिए समस्त जीवों के सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक एवं गमनागमन सब ईश्वरकृत है। ईश्वर ही जगत् के वैचित्र्य का कर्ता, धर्ता, हर्ता है। वैदिक संस्कृति के मूर्धन्य ग्रंथ महाभारत में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। वस्तुतः ईश्वर कतृत्व्यवादी जितने भी दर्शन हैं या ईसाई इस्लाम आदि मजहब हैं, वे सब ईश्वर को केन्द्रबिंदु मानकर चलते हैं। वे मानते हैं कि जीव की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति का नियामक ईश्वर है। उसकी इच्छा या प्रेरणा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।[१६३] महाभारत वनपर्व[१६४] कर्मवाद[१६५] अष्ट-सहस्त्री[१६६] में भी यही बात आयी है। आप्तपरीक्षा[१६७] अष्टशती[१६८] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[१६९] स्याद्वादमंजरी[१७०] में इसका निराकरण करते हुए कहा गया है कि यह भावसंसार काम, क्रोध, अज्ञान, मोहादिरूप विभिन्न स्वभाववाला है, उसके सुख दुःखादि सत्कार्य में विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। अतः भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ या जगत् एक स्वभाव वाले ईश्वर से उत्पन्न नहीं हो सकते। जिस वस्तु के कार्य में विचित्रता पाई जाती है, उसका कारण स्वभाव स्वभाव की विभिन्नता है।

अतः यह जगत् वैचित्र्य ईश्वरकृत नहीं, स्व-स्वकर्मकृत है। गीता में भी कहा है कि ईश्वर जगत के कर्तृव्य और कर्मों का सृजन तथा कर्मफल संयोग नहीं करता, जगत् अपने अपने स्वभाव तथा कर्मानुसार प्रवर्तमान है।[१७१]

निष्कर्ष यह है कि तात्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह जगत् एक रंगमंच के समान प्रतीत होगा। यहाँ जीव (आत्माएँ) विविध चित्र विचित्र वेष धारण करके नाटक खेलते हैं, अपना अभिनय दिखाते हैं, तथा अपना अपना पार्ट अदा करते हैं। अपना अपना खेल दिखाने के पश्चात् वे वेष बदलते हैं। 'जो कुछ खेला जा रहा है, वह हमारे सामने है परंतु प्रत्यक्ष नहीं है कुछ पर्दे के पीछे है। सामने जो कुछ हो रहा है वह भी चित्र-विचित्र है। पर्दे के पीछे पृष्ठभूमि में जो अभिनय हो रहा है वह भी बडा विचित्र है।'

'कर्म एक ऐसा अभिनेता है, जो पर्दे के पीछे निरंतर अभिनय कर रहा है। सोते-जागते, दिन-रात में वह निरंतर क्रियाशील रहता है।[१७२] कर्मवाद[१७३] में भी इसी बात का उल्लेख है। यही कारण है कि बार-बार वेष परिवर्तन और अभिनय परिवर्तन कर्म विपाक के अनुसार हुआ करता है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शन और विशेषतः जैनदर्शन इस तथ्य से सहमत है। प्रसिद्ध पाश्चात्य नाटककार शेक्सपियर ने भी अपने नाटक ''ऐज यु लाईक इट'' में इसी तथ्य का समर्थन किया है।[१७४]

इस प्रकार विश्व के प्राणियों (जीवों) का वैचित्र्य कर्मकृत सिद्ध होता है।

कर्म अस्तित्व कब से कब तक ?

संसार में जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, उन्होंने एक या दूसरे प्रकार से कर्म का अस्तित्व स्वीकार किया है। आस्तिक दार्शनिकों ने अध्यात्म के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण शोध किये हैं। एक आत्मा की और दूसरी कर्म की। आत्मा और कर्म, इन दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों ने महान सत्य का उद्घाटन किया है। अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत बडी क्रान्ति की है, ये दो तत्त्व ही अध्यात्म के मौलिक आधार स्तंभ हैं। केवल आत्मा के अस्तित्व को मान लेने मात्र से अध्यात्म का प्रासाद स्थिर नहीं रह सकता। कर्म को उसके साथ द्वितीय आधार स्तंभ माने बिना अध्यात्म प्रासाद डगमगा जाएगा क्योंकि अध्यात्म की समग्र परिकल्पना, लक्ष्य प्राप्ति और पूर्णता की योजना एवं तत्त्व व्यवस्था है। आत्मा (जीव) को कर्म से सर्वथा मुक्त करना, यदि आत्मा का ही अस्तित्व न हो तो किसको मुक्त किया जायेगा? और यदि कर्म का अस्तित्व ही न हो तो किससे मुक्त किया जायेगा? अतः इन दोनों के अस्तित्व को माने बिना अध्यात्म अपूर्ण ही रहेगा।

बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा इन दोनों प्रकार की आत्माओं के बीच कर्म का एक सूत्र है, जो मुक्त आत्मा तक पहुँचने में अनेक उपाधियों से युक्त बना देता है। बद्ध आत्माएँ कर्म संयुक्त हैं, जब कि मुक्त आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त है। दोनों में अंतर डालने वाला कर्म है। जब तक आत्मा बद्ध है, संसारी है तब तक कर्मों की परिक्रमा लगती रहेगी।

अतः आत्मा के अस्तित्व को तथा उससे संबंध तत्त्वों को समझना आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास और ऱ्हास को समझने के लिए आत्मा के साथ-साथ कर्म को भी समझना जरुरी है। कर्म के अस्तित्व को जानना, मानना और विश्वास करना तथा अंत में कर्म के जाल से सर्वथा मुक्ति पाना। तभी तो आध्यात्मिक पूर्णता के शिखर पर आत्मा पहुँच सकती है।

कर्म का अस्तित्व कब से? कब तक ?

जिन मनीषियों ने कर्म विज्ञान के महासागर में गोते लगाए उनके सामने यह प्रश्न आया कि कर्म का अस्तित्व कब से है और कब तक रहेगा? इसका सीधा और सरल समाधान उन्होंने यह दिया कि जब से जीव (आत्मा) संसारी हुआ और जब तक वह संसारी (बद्ध) रहेगा तब से तब तक कर्म का अस्तित्व है।

दोनों का संबंध अनादि क्यों? कैसे?

प्रश्न यह है कि जीव संसारदशा को क्यों प्राप्त होता है, जब कि रागद्वेष के बिना कर्मबंध नहीं हो सकता और कर्मबंध हुए बिना राग-द्वेष नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में जीव की यह (संसारी) अवस्था कैसे और कब से हुई? इसका समाधान जैन कर्म मर्मज्ञों ने यह दिया कि संसार की यह चक्र परंपरा अनादि काल से बीज-वृक्ष के समान चली आ रही है। बीज से वृक्ष होता है, वृक्ष से बीज, इन दोनों में से किसका प्रारंभ सर्वप्रथम हुआ, यह कोई नहीं कह सकता। इसी प्रकार कर्म और जीव (संसारी जीव) की परंपरा अनादि है अर्थात् जीव के संसार के कारण भूत राग-द्वेष और कर्मबंध की परंपरा को अनादि कालीन समझना चाहिए।

तात्विक दृष्टि से कर्म और जीव का सादि और अनादि संबंध

इस तात्विक दृष्टि से समझना चाहे तो इस प्रकार समझ सकते हैं - जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक शुभाशुभ प्रवृत्ति (क्रिया या व्यापार) जब से शुरु हुई है अथवा जब से कषायादि का संयोग हुआ है तब से कर्म आत्मा को लगे हैं और तब तक लगे रहेंगे जब तक जीव के योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) और कषाय (क्रोधादि तथा राग-द्वेष मोहादि) रहेगें। अतः अनेकांतवाद की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है। एक जीव की अपेक्षा से कर्म का अस्तित्व सादि (प्रारंभयुक्त) सिद्ध होता है, जब कि जगत् के समग्र जीवों की अपेक्षा से कर्म प्रवाह रूप से अनादि है।

आत्मा अनादि है तो क्या कर्म भी अनादि हैं ?

भारतीय आस्तिक दर्शनों की दृष्टि में आत्मा अनादि है। वह अजर, अमर, अविनाशी, नित्य और शाश्वत तत्त्व है। भगवद्गीता और स्थानांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है- 'यह

आत्मा न तो कभी उत्पन्न होती है न मरती (नष्ट होती) है, अर्थात् न तो यह कभी उत्पन्न हुई है न होगी, न होती है। शरीर के हनन किये जाने पर भी आत्मा का हनन नहीं होता।[१७५] ठाणांगसूत्र[१७६] में भी यह उल्लिखित है।

कर्म और आत्मा में पहले कौन ?

जब आत्मा अनादि है तो कर्म भी अनादि होना चाहिए, क्योंकि कर्म करने वाला तो आत्मा ही है। ऐसी स्थिति में यह ज्वलन्त प्रश्न कर्म मर्मज्ञों के समक्ष उपस्थित किया गया कि कर्म और आत्मा इन दोनों में पहले कौन है? बाद में कौन है? कर्म पहले है अथवा आत्मा? कर्म आत्मा के साथ कब से लगे? वे पहले लगे या पीछे लगे?

जैन कर्म-विज्ञान के महामनीषि तीर्थंकरों एवं तलस्पर्शी अध्येता आचार्यों ने इस प्रश्न पर युक्तिपूर्ण एवं अनुभवपूर्ण समाधान किया है कि कर्म और आत्मा इन दोनों में पहले कौन, पीछे कौन? यह प्रश्न ही नहीं उठता। पंचाध्यायी आदि ग्रंथों में स्पष्ट कहा है 'जैसे आत्मा अनादि है वैसे पुद्गल (कर्म) भी अनादि हैं। आत्मा और कर्म दोनों का संबंध भी अनादि है। आत्मा कार्मणात्मक कर्मों के साथ अनादिकाल से बद्ध होकर चला आ रहा है।[१७७] 'लोकप्रकाश' में भी इस बात का उल्लेख है।[१७८]

जैन संस्कृति के उन्नायक तीर्थंकरों तथा कर्ममर्मज्ञ आचार्यों ने कर्म पहले है या आत्मा पहले? आत्मा के साथ कर्म कब से लगे? इत्यादि प्रश्नों का युक्ति संगत समाधान मुर्गी और अंडे के उदाहरण द्वारा, तथा बीज और वृक्ष के न्याय से किया है। उन्होंने कहा कि मुर्गी और अंडा इन दोनों में पहले कौन, पीछे कौन? यदि अंडे को पहले मानते हैं तो प्रश्न होता है- 'मुर्गी के बिना अंडा कहा से उत्पन्न हुआ या आया? 'यदि मुर्गी को पहले मानते हैं तो प्रश्न उठेगा। अंडे के बिना मुर्गी कहा से आयी? इसी प्रकार दूसरी यह युक्ति भी प्रस्तुत की जाती है कि बीज और वृक्ष इन दोनों में पहले कौन? यदि वृक्ष को पहले मानते हैं तो प्रश्न उठेगा कि बीज बिना वृक्ष कहा से उत्पन्न हुआ? और यदि बीज को पहले मानते हैं प्रश्न उठेगा कि वृक्ष के बिना बीज कहा से आया? इसी प्रकार आत्मा और कर्म जब अनादि हैं तो प्रश्न होता है आत्मा और कर्म इन दोनों में पहले कौन हुआ? पीछे कौन? यदि आत्मा को कर्म से पहले मानते हैं तो प्रश्न उठेगा जैन दृष्टि से निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा विशुद्ध माना जाता है। जब आत्मा विशुद्ध है, तब उस पर कर्म कालिमा कैसे लग गई? शुद्ध आत्मा पर कर्म लगना ही नहीं चाहिए। यदि शुद्ध आत्मा पर भी कर्ममल का लगना माना जाये तो कर्म मुक्त शुद्ध परमात्मा पर भी कर्ममल लग जायेगा। ऐसी स्थिति में शुद्ध आत्मा भी कर्मलिप्त होकर पुनः पुनः संसार में आवागमन

करने लगेगी, परंतु दशाश्रुतस्कंध के अनुसार कर्मबीज दग्ध हो जाने के पश्चात् कर्ममुक्त शुद्ध सिद्ध परमात्मा संसार में फिर कभी नहीं आते।[१७९]

आत्मा प्रथम है या कर्म? यह ऐसी प्रश्नावली है जिसका कोई उत्तर आत्मा को या कर्म को प्रथम माननेवालों के पास नहीं है, इसलिए कर्म और आत्मा, इन दोनों में भी पहले पीछे का प्रश्न खडा किया जायेगा तो अनेक उलझने आकर व्यक्ति के दिमाग के चारों ओर घेरा डालकर खडी हो जाएगी। इस प्रकार अनेक तर्क वितर्क अपना तीर तानकर समाधान प्राप्त करने के लिए उपस्थित हो जायेगें।[१८०] 'कर्मवाद एक अध्ययन'[१८१] इसमें भी यह बात कही है।

यदि जीव (आत्मा) को पहले कर्मरहित मान लिया जाये तो उसके बंध का अभाव हो जायेगा और शुद्ध आत्मा के भी कर्मबंध मानने पर उसकी मुक्ति कैसे होगी? पंचाध्यायीकार का आशय यह है कि पूर्व अशुद्धता के बिना बंध नहीं होता। पूर्व में शुद्ध जीव के भी कर्मबंध मान लेने पर निर्वाण प्राप्ति असंभव हो जायेगी। जब शुद्ध जीव के कर्मबंध मानेंगे तो संसार चक्र बार बार चलते रहने से मुक्ति कभी नहीं हो सकेगी।[१८२]

यह शुद्धि-अशुद्धि का सिलसिला चलता ही रहेगा तो यह कहाँ का सिद्धांत है कि शुद्धि के बाद अशुद्धि आ जाये। वस्तुतः उसे शुद्धि ही नहीं कहना चाहिए। ज्ञानसार[१८३] में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है जो साधक समता कुंड में स्नान करके अनंत अनंत काल के लिए कषाय तथा रागद्वेषादि जनित कर्म कृत मल को धो डालता है, वह कभी भी अशुद्ध मलिन नहीं होता। वास्तव में वह अन्तरात्मा ही परम शुद्ध विमल है।[१८४] भगवद्गीता[१८५] में भी यही बात कही है।

कर्म पहले और आत्मा बाद में इस मन्तव्य के अनुसार यह मानना पडेगा कि आत्मा ने भी एक दिन जन्म लिया। आत्मा भी एक उत्पन्न विनष्ट होने वाला पदार्थ हुआ। संसार का यह नियम है कि जिसका जन्म होता है उसका मरण अवश्य होता है परंतु आत्मा के उत्पन्न विनाश या जन्म मरण का विचार भारत के किसी भी आस्तिक दर्शन को मान्य नहीं है। सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा को एक स्वर से अजन्मा, नित्य, अविनाशी और शाश्वत माना है।[१८६] ऐसी दुविधापूर्ण स्थिति में जैनदर्शन के महामनीषियों ने आत्मा और कर्म इन दोनों में पहले कौन और पीछे कौन? यह गुत्थी दोनों को अनादि तथा दोनों के संबंध को भी अनादि कहकर सुलझा दी है।

दोनों के अनादि संबंध का अंत कैसे ?

आत्मा और कर्म का अनादि संबंध मानने पर उस संबंध का अंत कैसे होगा? वह

संबंध तोडा कैसे जायेगा? क्योंकि सामान्य नियम यह है कि जो अनादि होता है, वह अनंत भी होता है, उसका कभी अंत नहीं हो सकता। जैन कर्मसिद्धांत मर्मज्ञों ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि कर्म और आत्मा के अनादि संबंध के बारे में यह नियम सार्वकालिक नहीं है। अनादि के साथ अनंतता की कोई व्याप्ति नहीं है। अनादि होते हुए भी सान्तता पाई जाती है। बीज वृक्ष की संतति की परंपरा की अपेक्षा अनादि कहा जाता है, किन्तु बीज को जला देने पर वृक्ष की परंपरा का अंत आ जाता है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसार में कहा गया है। आत्मा (जीव) से कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर फिर भवांकुर की (संसार में उत्पन्न होने की) उत्पत्ति नहीं होती। बीज वृक्ष परंपरा जैसे टूट जाती है, वैसे ही कर्म का आत्मा के साथ संबंध टूट सकता है। इसी तथ्य को सूत्रकृतांग सूत्र में इंगित किया गया है- पहले बंधन को जानो समझो फिर उसको तोड डालो।[१८७] कर्मग्रंथ भाग-१[१८८] में तथा सूत्रकृतांग[१८९] में भी यही बात बताई है। जो धीर वीर मुनिपुंगव होते हैं, वे अपने तप संयम से सुदृढ रहते हैं। उन्हें अनायास ही कर्म से छुटकारा मिलता है।

जैसे स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का बीज और वृक्ष का अनादि संबंध है, तथापि प्रयत्न विशेष से पृथक्-पृथक् होते हुए देखे जाते हैं; वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि संबंध का अंत हो जाता है।

चार प्रकार के संबंध

आत्मा और कर्म के संबंध के रहस्य को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम इन चार प्रकार के संबंधों को समझ कर लेना चाहिए। १) अनादि अनंत, २) अनादि सांत, ३) सादि अनंत और ४) सादि सांत।

जिस संबंध का न तो आदिकाल हो नहीं अंतकाल वह **अनादिअनंत** होता है।

जिसका आदिकाल तो न हो किन्तु अंतकाल हो, वह **अनादि सांत** होता है।

जिसका आदिकाल हो पर अंतकाल न हो वह **सादि अनंत** होता है।

जिसका आदिकाल भी हो तथा अंतकाल भी वह संबंध **सादिसांत** होता है।[१९०]

आत्मा और कर्म का तीन प्रकार से संबंध

आत्मा और कर्म का संबंध कब से है और कब तक रहेगा? इस प्रश्न का समाधान जैन दर्शन ने इस प्रकार किया है- 'आत्मा और कर्म का संबंध अनादि-अनंत भी है, अनादिसांत भी है और सादिसांत भी।[१९१]

आत्मा और कर्म का अनादि संबंध

कर्म प्रवाह की दृष्टि से आत्मा और कर्म का संबंध अनादि माना गया है। प्रवाह रूप या

अभीष्ट की दृष्टि से कर्म संतति की कोई आदि नहीं है अनादिकाल से जीव कर्मों की बेडियों में जकडा हुआ है। अतीत काल में ऐसा कोई समय नहीं आया जब यह आत्मा कभी कर्मों से जकडा हुआ था पृथक् नहीं था। भूतकाल में ऐसा कोई समय नहीं थी कि आत्मा और परमाणु पृथक्-पृथक् पडे हों, और किसी न किसी समय उन्हें मिश्रित कर दिया हो। ऐसा होने पर तो कर्ममुक्त सर्वथा विशुद्ध सिद्धालय स्थित आत्मा भी अकारण ही स्वतः कर्मबद्ध हो जायेगी, अपनी अकर्म स्थिति को सुरक्षित नहीं रख पायेगी। अतः आत्मा और कर्म के संबंध को प्रवाह रूप से अनादि ही मानना चाहिए।

भव्य और अभव्य जीव का लक्षण

कर्म मुक्ति की साधना की दृष्टि से दो प्रकार के जीव माने जाते हैं भव्य और अभव्य। जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी संदर्भ की आराधना करके मुक्त होने की क्षमता है वह जीव भव्य कहलाता है और जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता, सम्यक्दर्शन की ज्योति से अपनी अंतरात्मा को आलोकित करने का सामर्थ्य नहीं है वह अभव्य कहलाता है।

अभव्यजीव का कर्म के साथ अनादि अनंत संबंध

जैनदृष्टि से अभव्यजीव अपने आत्म प्रदेशों से कर्म परमाणुओं को सर्वथा पृथक् कदापि नहीं कर पाते। उनके आत्म प्रदेशों के साथ कर्म परमाणुओं का संबंध सदैव सतत किसी न किसी रूप में बना ही रहता है। अतएव अभव्यजीवों (आत्माओं) का कर्म के साथ संबंध अनादि अनंत माना गया है। वन्ध्या नारी लाख प्रयत्न करले फिर भी वह माँ बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकती, वैसे ही अभव्य जीव भी अपनी स्वभाव सिद्ध प्रकृति के कारण सम्यक्दर्शन का स्पर्श कदापि नहीं कर पाता। वह मिथ्यात्व के गहन अंधकार में डूबा हुआ ही समग्र जीवन यापन करता है। अतः ऐसे अभव्य जीव (आत्मा) का कर्म संबंध सदैव स्थाई होने से अनादि अनंत कहलाता है।[१९२]

भव्यजीव का कर्म के साथ संबंध अनादि सान्त

भव्यजीव का कर्म के साथ संबंध अनादि सांत माना जाता है, क्योंकि भव्यजीव साधनानुरूप योग्य साधन प्राप्त होने पर सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है, तत्त्वों का ज्ञान करता है, तत्पश्चात् सम्यक्चारित्र का पालन करके कर्मों को आंशिक रूप से आत्मा से पृथक् (निर्जरा) कर देता है। इसके पश्चात् सम्यक्दर्शनादि रत्नत्रय की सम्यक् आराधना साधना करके समस्त

कर्मों को क्षय कर डालता है, अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों के संबंध को सर्वथा समाप्त कर देता है, और सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाता है इसी कारण भव्यजीवों के कर्म संबंध को अनादि सांत माना गया है। अर्थात् कर्म प्रवाह की दृष्टि से भव्यजीव का कर्म संबंध अनादि है किन्तु उसका अंत अवश्य है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा के साथ कर्म का संयोग प्रथम (मिथ्यात्व गुणस्थान) से प्रारंभ होता है और तेरहवें (सयोगी केवली) गुणस्थान तक यह चलता है। चौदहवे (अयोगी केवली) गुणस्थान में योगों (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) का सर्वथा निरोध हो जाने पर आत्मा कर्म से सर्वथा वियुक्त (मुक्त) हो जाता है। आत्मा का फिर कर्म के साथ पुनः संयोग नहीं होता।

इस प्रकार कर्म का अस्तित्व अनादि सिद्ध होने के साथ-साथ कर्म कब से लगते हैं। और कब तक रहते हैं? इस संदर्भ में आत्मा पहले या कर्म? आत्मा के साथ कर्म के त्रिविध संबंध कौन से और कैसे है? इन सब शंकाओं का युक्ति संगत यथोचित समाधान दिया है।

* * *

संदर्भ

१. कर्मविज्ञान भाग-१, (संपा. उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.) पृ. ३

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.) प्रस्तावना पृ. ८६

३. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य॥
उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. मधुकरमुनिजी म.सा.) अ. २०/३६

४. अण्णाणमओ जीवो कम्माण कारगो होदि॥ समयसार (कुंदकुंदाचार्य), पृ. १२

५. गणधरवाद, प्रस्तावना (पं.दलसुख मालवणीया), पृ. ७४

६. विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद), (पं.दलसुख मालवणीया), गा. १५४९, पृ. ३

७. विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद), पं.दलसुख मालवणीया), गा. १५६३, पृ. १२

८. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया । आचारांगसूत्र (संपा. मधुकरमुनि) अ. ५ सूत्र १७१
अ) पंचास्तिकाय - ४३ (कुंदकुंदाचार्य)
ब) अप्पाणं विणु णाणं, णाण विणु अप्पगो न संदेहो। नियमसार - १७१

९. सव्व जीवाणं पियणं अक्खरस्स..... पभाचंद सूराण॥
नंदीसूत्र, पृ. ४३(संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.)

१०. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव), १/१/५

११. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, १/२३५-२३६-२३७ (विद्यानंद)

१२. न्यायकुमुदचंद्र, पृ. ८४७

१३. विशेषावश्यक भाष्य, (संपा. पं.दलसुख मालवणीया),गा. १५६९

१४. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका

१५. अष्टसहस्त्री (आचार्य विद्यानंद), पृ. २४८-२४९

१६. स्याद्वादमंजरी, पृ. १७

१७. न्यायकुमुदचंद्र, पृ. ६४९

१८. षड्दर्शनसमुच्चय टीका, पृ. २२८

१९. स्याद्वादमंजरी, पृ. १७

२०. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.) १/४

२१. द्रव्यसंग्रह, गा. २

२२. गुणओ उवओग गुणो। (स्थानांग सूत्र), (संपा. मधुकरमुनि),पृ. ५/३/५३०

२३. उपयोगो लक्षणम्। (तत्त्वार्थसूत्र), २/८

२४. जीवो उवओगलक्खणो। उत्तराध्ययनसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि),२८/१०

२५. उवओग लक्खणो जीवे। भगवतीसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि),२/१०

२६. अहमिक्को खलु शुद्धो.... ण वि अत्थि मज्झ। समयसार - ३८

२७. भगवती सूत्र १/१/२४ (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.)

२८. प्रज्ञापना सूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), पद - १, पृ. १६

२९. संसारत्था य सिद्धा य दुविहा .... उत्तराध्ययन सूत्र,
(संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), अ. ३६/ गा. ३८
३०. संसारिणो मुक्ताश्च। तत्त्वार्थसूत्र, अ. २ सूत्र १०, पृ.
३१. जीवाभिगम सूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), अ. १/ गा. ७
३२. संसारण संसारः स एषामस्तीति संसारिणः। सर्वार्थसिद्धि, २/१०
३३. मग्गण गुण-ट्ठाणेहिं चउदसहि....
विण्णेया.....॥ द्रव्यसंग्रह - १३
३४. गोम्मटसार (जीवकांड), आचार्य नेमीचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती, गा. २०२-२०३
३५. समावन्नाण संसारे ..... उत्तराध्ययन (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), अ.३.२
३६. न कर्मो विभागात, ब्रह्मसूत्र, २/१/३५
३७. नैष अनादित्वात् संसारस्य, शांकर भाष्य
३८. कम्मुणा उवाही जायइ। आचारांग, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १ अ. ३/१
३९. पंचास्तिकाय, (कुंदकुंदाचार्य), गा. १२८-१३०
४०. क्वचिद् वीणावादः..... किं विषमयः। (भर्तृहरि-वैराग्य शतक)
४१. भवस्वरूप चिन्तो.... (अध्यात्मसार - १८)
४२. जावन्तडविज्जा पुरिसा ..... उत्तराध्ययन सूत्र, अ. ६/गा. १
४३. अश्रद्धानां पुरुष ..... अप्राप्यमा। (भगवद्गीता),(लोकमान्य तिलक), ९/३
४४. कम्मकत्तो संसारो ..... जुज्जते नासो॥ (गणधरवाद), १९८०
४५. जाति मृत्यु ..... योनिमाटनुते॥ महाभारत
४६. अखंडज्योति सितंबर १९७९ से प्रकाशित लेख, सार-संक्षेप, पृ. १८
४७. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। उत्तरा.सूत्र ४/२,
(संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.)
४८. वासांसि जीर्णानि ..... संयाति नवानि देही॥
भगवद्गीता, २/२२, (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन)
४९. प्रेत्यभावः परलोकः। अष्टसहस्त्री, ८८
भूत्वा पुनर्भवन प्रेत्यभावः। अष्टसहस्त्री, १६५
प्रेत्यभावो जन्मांतर लक्षणः। अष्टसहस्त्री, १८१
५०. मणुस्सतेण ... ण जायदे अण्णो। पंचास्तिकाय, गा. १७
५१. न वा जानामि यदिव इदमस्मि। ऋग्वेद, १/१६४/३७
५२. नाऽसदासीत नो सदासीत तदा नीम्। ऋग्वेद, १०/१२९
५३. कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ताऽस्य? शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी
५४. इह मेगेंसी णो सण्णा भवइ तं जहा..... भविस्सामी। आचारांगसूत्र, श्रुत १अ. ३.१,
१ सूत्र १-२ (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.)
५५. कल्पसूत्र (भ. महावीर का पंचकल्याणक वर्णन), (उपाचार्य देवेंद्रमुनिजी)

५६. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (पार्श्वनाथ चरित्र), ९/३
५७. पार्श्वनाथ चरित्र भ. पार्श्वनाथ एक समीक्षात्मक अध्ययन- उपाचार्य देवेंद्रमुनि
५८. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व - ८
५९. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व - १/३/१५
६०. ज्ञाताधर्मकथा, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), - ८
६१. उत्तराध्ययनसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अध्य. - ९ गा. नं. १,२
६२. पिय पुतगा दोन्नि वि .... चरिस्सामु मोणं॥ उत्तराध्ययन, अ. १४ गा. ५,७
६३. तेणावि जं कय कम्मं ..... गच्छइ उ परं भव॥ उत्तराध्ययन, अ. १८ गा. १७
६४. देवलोग चुओ संतो ..... नत्थि वेयणा॥ उत्तराध्ययन सूत्र, अ. १९ गा. ८, ९, ११
६५. विपाकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), प्रस्तावना पृ. १४
६६. समराइच्च कहा (समरादित्य कथा), आचार्य हरिभद्र सूरि
६७. सोलह सती, जैन कथाएँ जैन कथा मालाए (आचार्य श्री देवेंद्रमुनिजी म.सा.)
६८. आप्ते नोच्छिन्न दोषेण ..... सप्रकीर्त्य ते । (रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक - ५, ६)
६९. History of Dharmashastra, (P. V. Kane), Vol. v. Part. II. P. 1536
७०. ऋग्वेद, (संपा. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर), १०/१६/३
७१. अथर्ववेद, XVIII 2.71
७२. शतपथ ब्राह्मण, (XII. 9.1.1)
७३. कठोपनिषद्, १/१/५-६
७४. कठोपनिषद्, १/१६-७
७५. कठोपनिषद्, २/५/७
७६. बृहदारण्यक उपनिषद, ४/४/१-२
७७. (क) छान्दोग्योपनिषद्, ५/१०/७
(ख) छान्दोग्योपनिषद्, १०/८
७८. भगवद्गीता, अ. २ श्लोक १३, २२, २७
७९. कर्मसिद्धांत अने पुनर्जन्म, (साधु ब्रह्मदर्शनदास), पृ. ४५
८०. भगवद्गीता, अ. ४ श्लोक - ५
८१. भगवद्गीता, अ. ७ श्लोक - १९
८२. भगवद्गीता, अ. ८ श्लोक - २३ लेखक
८३. History of Dharmashastra, (P. V. Kane), Vol. v. Part. II. P. 1572-73
८४. कम्मा विपाका ..... पवत्ततीति। बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ४७८
८५. मज्झिम-निकाय, ३/४/५
८६. इत एक नवते ..... भिक्षवः, (षड्दर्शन समुच्चय टीका)
८७. मज्झिमनिकाय का तेविज्जवच्छगोत्तसुत बोधिराजकुमार सुत और अंगुत्तरनिकाय का वेरंजक, ब्राह्मण सुत

८८. थेरीगाथा, ४००-४४७
८९. दीघनिकाय, २/३
९०. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, ३९५
९१. विसुद्धिमग्ग, १७/१६१
९२. इच्छाद्वेष पूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः। वैशेषिकदर्शन, सूत्र ६/२/१४
९३. दुख जन्म प्रवृत्ति दोष - न्यायदर्शन सूत्र, १/१/२
९४. षड्दर्शन रहस्य, पृ. १३५
९५. वैशेषिक दर्शन सूत्र (प्रशस्तपाद भाष्य) गुणसाधर्म्य प्रकरण
९६. सांख्यदर्शन प्रवचन भाष्य, सूत्र, ६/९
९७. संसरति निरूपभोग भावैरधिवासितं लिंगम्। सांख्यकारिका - ४०
९८. मीमांसा दर्शन (जैमिनी सूत्र)
९९. तंत्र वार्तिक, पृ. ३९५
१००. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, ३/२/४०
१०१. योगदर्शन (व्यास भाष्य), २/९, ४/१०
१०२.पातांजल योगदर्शन, २/१२. ३/१८
१०३. योगदर्शन व्यासदर्शन, २/१२
१०४. यथा धेनुसहस्रेषु .... कर्तारमनुगच्छति। महाभारत, शान्तिपर्व १८१/१६
१०५. मनुस्मृति, १२/४० (मुकुंदगणेश मिरजकर)
१०६. परस्परोदीरित दुखा। तत्त्वार्थ सूत्र, अ. सूत्र ४
१०७. सर्वार्थसिद्धि टीका (आचार्य पूज्यपाद), ३/४
१०८. न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य), पृ. ३२६
१०९. कालओणं ण कयाइ णासी .... अवट्ठिए णिच्चे।
स्थानांग सूत्र, (संपा. मधुकरमुनि म.सा) ५/३/४३०
११०. अखंड-ज्योति, जून १९७९ के लेख से संक्षिप्त सार पृ. १२
१११. अखंड-ज्योति, सितंबर १९७९ के गतिशील जीवन प्रवाह लेख से संक्षिप्त सार पृ. १९
११२. अखंड-ज्योति, जून १९७४ के लेख से संक्षिप्त सार पृ. ३०
११३. कर्मविज्ञान, भाग-१, पृ. ७६ (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.)
११४. अखंड-ज्योति, जून १९७९ के लेख से संक्षिप्त सार पृ. १३
११५. इहंसि उत्तमो भंत्ते..... सिद्धि गच्छसि नीरओ। उत्तराध्ययनसूत्र - ९/५८
११६. घट-घट दीप जले, (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ. ५४, ५७
११७. जैन दर्शन में आत्म विचार, (डॉ. लालचंद जैन) पृ. २२२
११८. अखंड-ज्योति, जुलाई १९७४ में प्रकाशित (लेख),
''मरने के साथ जीवन का अंत नहीं होता'', पृ. १२
११९. घट-घट दीप जले, (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ. ५७

१२०. अखंड-ज्योति, जुलाई १९७४ में प्रकाशित (लेख) पृ. ११,१२
१२१. जैन दर्शन में आत्म विचार, (डॉ. लालचंद जैन) पृ. २२२
१२२. कल्याण (मासिक पत्र) का पुनर्जन्म विशेषांक
१२३. अखंड-ज्योति, जुलाई १९७४ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. १२
१२४. अखंड-ज्योति, मार्च १९७२ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. ५२-५३
१२५. अखंड-ज्योति, फरवरी १९७९ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. ३५-३६
१२६. अखंड-ज्योति, नवंबर १९७६ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. ३९
१२७. अखंड-ज्योति, जुलाई १९७७ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. २७
१२८. संलेखना व्रत के ५ अतिचारों से तुलना करें जीवित मरणाशंसा सुखानुबंध मित्रानुराग निदान कणानि। तत्त्वार्थ सूत्र, अ. - ७ सूत्र नं. ३२
१२९. राजप्रश्नीय सूत्र, (संपा. मधुकर मुनि) में सूर्याभदेव का प्रकरण, पृ. १०
१३०. उपासकदशांगसूत्र में (चुलनी पिता व कामदेव श्रावक की देव द्वारा परीक्षा), (युवाचार्य मधुकरमुनि) पृ. ८५.१०६.
१३१. अंतकृतदशांगसूत्र का द्वारिकादहन प्रकरण (युवाचार्य मधुकरमुनि) पृ. ९५
१३२. अखंड-ज्योति, जुलाई १९७९ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. ६
१३३. अखंड-ज्योति, नवंबर १९७६ में प्रकाशित (लेख) से सारसंक्षेप, पृ. ५८
१३४. कर्मजं लोकवैचित्र्यम्। अभिधर्मकोष, ४/१
१३५. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य), २/१/१४
१३६. एगे आया। ठाणांगसूत्र , १/१ (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी)
१३७. गतियों की विभिन्नता भी कर्मजन्य है। जं णरय तिरिक्ख मणुस्स देवाणं णिवत्तयं कम्मं त गदिणाम। धवला, १३/५/५ आचार्य वीरसेन
१३८. कर्मग्रंथ विवेचन, युवाचार्य मरूधर केसरी श्री मिश्रीलाल, भाग- ३
१३९. मणसा वाया काएण वा वि जुतस्स विरिय परिणामो जिहप्पणी जोगो .... पंचसंग्रह - ८८
१४०. कर्मग्रंथ, भाग- ३ (संपा. मरुधर केशरी श्री मिश्रीमलजी म. सा.) पृ. ५
१४१. गई इंदिएसु काये ..... सण्णि आहार। गा. १४१ (नेमिचंद्रचार्य) गोम्मटसार-जीवकांड
१४२. जैनदृष्टि से कर्म , पृ. २४
१४३. न्यायदर्शन सूत्र, ३/२
१४४. कर्मग्रंथ, भाग - ३ (संपा. मरुधर केशरी मिश्रीमलजी.म.सा.)
१४५. आत्म प्रवृत्ते मैथुन सम्मोहत्यादो वेदः। धवला, १/१/१/४
१४६. कषायात्मान् हिनस्तिती ..... कषायः। राजवार्तिक, ६/७ (भट्टाकलंक देव)
१४७. ज्ञायते परिच्छधते वस्त्व तेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानम्। अनुयोगद्वार टीका
१४८. संज्ञिनः समनस्काः, (उमास्वाति) तत्त्वार्थसूत्र, अ. २/२५

१४९. आहारादि विषयाभिलाषः संज्ञा। (लेखक पूज्यपादाचार्य) सर्वार्थसिद्धि, २/४
१५०. णो इंदिय आवरण ..... इदरो सेसिंदिय अवबोही। गोम्मटसार, ६३०
१५१. दर्शनं सामान्यायबोध लक्षणम् । षड्दर्शन समुच्चय, २/१८
१५२. लिप्पइ अप्पा किरइ ..... जाणमक्खाया। पंचसंग्रह, १४२
१५३. कर्मग्रंथ, भाग - ३ (संपा. मरुधर केशरी मिश्रीमलजी म.सा.) पृ. ६
१५४. छदव्व णवययत्था ... भूणेयव्वो॥ दर्शनपाहुड, १/२
१५५. कर्मग्रंथ, भाग - ३ (संपा. मरुधर केशरी मिश्रीमलजी म.सा.) पृ. ७
१५६. त्रयाणां शरीराणा षण्णा पर्याप्तीनां योग्य पुद्गलग्रहणमाहारः।
(सर्वार्थसिद्धि) पृ. २/३०
१५७. नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली विभिन्न। कर्मग्रंथ, भाग - १, पृ. ५० से ८१
१५८. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. - ३ गा. १६, १७, १८
१५९. कर्मविज्ञान, भाग - १ (उपा. देवेंद्रमुनिजी म.सा.) पृ. १३१
१६०. मिलिन्द प्रश्न, पृ. ८०-८१
१६१. कर्मग्रंथ प्रथम टीका, (देवेंद्रसूरिकृत)
१६२. एको दरिद्र एकोहि श्रीमानिती च कर्मणः (श्रीआदिचंद्रप्रभु श्री. पंचाध्यायी) २/५
१६३. गोम्मटसार (कर्मकांड), श्लोक, ८००
१६४. अज्ञो जन्तुरनीशोऽय..... श्वभ्रमेव वा। महाभारत, वनपर्व ३०/२८
१६५. कर्मवाद : एक अध्ययन, पृ. ३
१६६. अष्ट सहस्त्री, पृ. २६८-२७३
१६७. आप्तपरीक्षा, पृ. ९ गा. ५१-६८
१६८. अष्टशती (कर्मविज्ञान, भाग - १) (उपाचार्य देवेंद्रमुनिजी), पृ. १३७
१६९. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिका (कर्मविज्ञान भाग -१), पृ. १३७
१७०. स्याद्वादमंजरी (कर्मविज्ञान, भाग - १ उपाचार्य देवेंद्रमुनिजी), पृ. १३७
१७१. न कर्तृत्व, न कर्माणि ..... प्रवर्तते॥ भगवद्गीता, अ. ५/१४
१७२. महाबंधो, भाग- १ प्रस्तावना (संपा. पं. सुमेरुचंद्र दिवाकर), पृ. ५५
१७३. कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ), पृ. १५७
१७४. All the World's a Stage and all the Men and Women Merely Players :
Asyeulike Aet II Scene VII
१७५. न जायते म्रियते वा..... कदाचिन्नाये॥ भगवद्गीता, २/२०
१७६. कालओ णं कयाई णासी ण कयाइ...णिच्चे॥
(संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी) ठाणांगसूत्र ५/३/५३०
१७७. यथाऽनादि स जीवात्मा तथा नादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बंधोऽप्यनादि स्यात् संबंधो जीव कर्मणोः॥ पंचाध्यायी, २/३५
१७८. अस्त्यात्माडनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः। लोकप्रकाश, ४२४

१७९. जहा दडढाणं बीयाणं ण जायति पुण अंकुरा।
कम्म बीएसु दऽढेसु ण जायति भावांकुश॥
दशाश्रुतस्कंध, ५११५ (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि)

१८०. कर्ममीमांसा, पृ. १७

१८१. कर्मवादः एक अध्ययन, पृ. ११/१२/१३

१८२. पंचाध्यायी, २/३७

१८३. य स्नात्वा समताकुण्डे..... पर शुचि॥ ज्ञानसार, (उपाध्याय यशोविजयजी)

१८४. अजो नित्यो शाश्वतोऽयं पुराणः। कठोपनिषद्, १/२/१८

१८५. भगवद्गीता, २/२०

१८६. कर्मवादः एक अध्ययन, पृ. १४

१८७. दग्धे बीजे तथाऽत्यन्त ..... भवाकुंर॥ तत्त्वार्थसार

१८८. कर्मग्रंथ, भाग- १ (विवेचन) की प्रस्तावना पृ. ४० (मरुधर केसरी मिश्रीलालजी)

१८९. बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
(संपा. युवा. मधुकर मुनि म.सा.) सूत्रकृतांग १/१/१

१९०.ज्ञान का अमृत, (ज्ञानमुनिजी म.सा.), पृ. ३६

१९१. भगवतीसूत्र, श. ६ उ. ३ (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि म.सा.)

१९२. ज्ञान का अमृत, (ज्ञानमुनिजी म.सा.), पृ. ३७

* * *

तृतीय प्रकरण

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

तृतीय प्रकरण

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

जैनदृष्टि से कर्मवाद का आविर्भाव	१२५
कर्मप्रवाह तोडे बिना परमात्मा नहीं बनते	१२५
कर्मवाद के अविर्भाव का कारण	१२६
भगवान ऋषभदेव द्वारा कालानुसार जीवन जीने की प्रेरणा	१२६
कर्ममुक्ति के लिए धर्मप्रधान समाज का निर्माण	१२७
धर्म-कर्म-संस्कृति आदि का श्रीगणेश	१२८
कर्मवाद का प्रथम उपदेश : भगवान ऋषभदेव द्वारा	१२९
कर्मवाद का आविर्भाव क्यों और कब?	१२९
कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया गया?	१३०
तीर्थंकरों द्वारा अपने युग में कर्मवाद का आविर्भाव	१३१
भगवान महावीर द्वारा कर्मवाद का आविर्भाव	१३१
गणधरों की कर्मवाद संबंधी शंकाओं का समाधान	१३१
जैनदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थानकाल	१३३
कर्मवाद के समुत्थान का मूल स्त्रोत	१३३
कर्मवाद का विकास क्रम : साहित्य रचना के संदर्भ में	१३५
विश्व वैचित्र्य के पांच कारण	१३८
प्रत्येक कार्य में पांच कारणों का समवाय और समन्वय	१३९
एकांत कालवाद	१४०
एकांत स्वभाववाद	१४०
एकांत नियतिवाद	१४०
कर्मवाद मीमांसा	१४१
कर्मवाद समीक्षा	१४२
पुरुषार्थवाद की मीमांसा	१४४
पुरुषार्थवाद की समीक्षा	१४५
पांच कारणवादों का समन्वय	१४५
मोक्षप्राप्ति में पंचकारण समवाय	१४६
सर्वत्र पंचकारण समवाय से कार्य सिद्धि	१४७

कर्म शब्द के विभिन्न अर्थ और रूप	१४७
कर्म का सार्वभौम साम्राज्य	१४७
जैनदृष्टि से कर्म के अर्थ में क्रिया और हेतुओं का समावेश	१४९
पुद्गल का योग और कषाय के कारण कर्मरूप में परिणमन	१५०
विभिन्न परंपराओं में कर्म के समानार्थक शब्द	१५१
कर्म के दो रूप : भावकर्म और द्रव्यकर्म	१५२
द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्रक्रिया	१५३
निमित्त नैमित्तिक श्रृंखला	१५४
भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कारण क्यों मानें ?	१५४
भावकर्म की उत्पत्ति कैसे ?	१५५
योग और कषाय आत्मा की प्रवृत्ति के दो रूप	१५५
जितना कषाय तीव्र-मंद उतना ही कर्म का बंध तीव्र-मंद	१५५
कर्म संस्कार रूप भी पुद्गल रूप भी	१५६
आत्मा की वैभाविक क्रियाएँ कर्म हैं	१५७
प्रमाद ही संस्कार रूप कर्म (आस्रव) का कारण	१५७
कार्मण शरीर : कार्य भी है कारण भी है	१५८
पुद्गल का कर्म रूप में परिणमन कैसे?	१५९
जीव के रागादि परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त	१६०
जीव पुद्गल कर्मचक्र	१६१
संदर्भ-सूची	१६२

तृतीय प्रकरण

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

जैनदृष्टि से कर्मवाद का आविर्भाव

जैन धर्म के आगमों और पौराणिक ग्रंथों में कर्म के आविर्भाव की कुछ कुछ झाँकियाँ मिलती हैं। उससे इतना तो स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी तीर्थंकरों और ऋषि-मुनियों ने आध्यात्मिक विकास के संदर्भ में कर्मवाद की चर्चा-विचारणा अवश्य की है। जैन धर्मशास्त्रों की मान्यता के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर श्रमण भगवान महावीर तक जो चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनसे पहले भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के कालचक्र में भी अनंत चौबीसी हो चुकी हैं।[१] 'यंत्र मंत्र तंत्र विज्ञान'[२] और 'जैन थोक संग्रह'[३] में भी यह बात कही है। यह सिद्धांत सभी तीर्थंकर, केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) महान आत्माओं के लिए अबाधित है कि चार घाति (आत्मगुण घातक) कर्मों का सर्वथा क्षय किये बिना कोई भी मानव तीर्थंकर, केवलज्ञानी या अर्हत्, जीवन्मुक्त परमात्मा नहीं हो सकता और सिद्ध बुद्ध मुक्त परमात्मा होने के लिए आठों ही कर्मों का सर्वथा क्षय करना अनिवार्य है।

कर्मप्रवाह को तोडे बिना परमात्मा नहीं बनते

जगत के जीवों के साथ जैसे आत्मा अनादिकाल से है, वैसे ही कर्म भी प्रवाह रूप से अनादिकाल से है, किन्तु जैसे व्यक्तिशः कर्म की आदि है वैसे उसका अंत भी है। आत्मा निश्चय दृष्टि से अनादि अनंत है यदि ऐसा न होता तो तीर्थंकर, जीवन्मुक्त, वीतराग, परमात्मा चार घाति कर्मों का क्षय क्यों और कैसे करते? और वीतराग बनने के पश्चात् भी शेष रहे चार अघाति कर्मों का क्षय क्यों और कैसे करते और सिद्ध बुद्ध मुक्त निरंजन निराकार परमात्मा कैसे होते? इसलिए यह निर्विवाद है कि कर्म का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है।

प्रमाण मीमांसा में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य ने कहा है- अनादिकाल से प्रवाह रूप से, शब्द रूप से नहीं तो भाव रूप से कर्म का प्रवाह चला आ रहा है। कर्मवाद आदि विद्याओं का आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक समय-समय पर विस्तृत रूप से नयी-नयी शैली में प्रतिपादन होता रहा है। इस दृष्टि से कर्म सिद्धांत के प्रतिपादन कर्ता तीर्थंकर, गणधर, आचार्य आदि कहलाते हैं।[४]

जैनधर्म किसी देश विदेश में एक समान भले ही दिखाई न देता हो, किन्तु जैनधर्म और कर्मवाद का, सूर्य और उसकी किरण के समान घनिष्ठ संबंध रहा है। इसलिए यह कहना

अत्युक्ति नहीं होगी कि कर्मवाद भी प्रवाह रूप से अनादि है यह अभूतपूर्व नहीं है। नये नये ढंग से उसका विश्लेषण विभिन्न तीर्थंकरों के समय में अवश्य हुआ है। अतः जैन इतिहास की दृष्टि से कालचक्र के अन्तर्गत इस अवसर्पिणी काल में आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के युग से कर्म सिद्धांत का आविर्भाव मानना अनुपयुक्त नहीं होगा।[५]

कर्मवाद के अविर्भाव का कारण

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से कर्मवाद का आविर्भाव या आविष्करण मानने में एक प्रबल कारण यह भी है कि जैन इतिहास के अनुसार उस युग से पहले तक भोगभूमि का साम्राज्य था, यौगलिक काल था। सभ्यता, संस्कृति, धर्म और कर्म के विषय में वे लोग सर्वथा अनभिज्ञ थे। धर्म और संस्कृति का कर्म और सभ्यता का श्रीगणेश नहीं हुआ था। बालक-बालिका युगल रूप में जन्म लेते थे और युगलरूप से ही वे दाम्पत्य संबंध जोड लेते थे। अंत में एक युगल को जन्म देकर वे इस लोक से विदा हो जाते थे।[६] वे अपनाजीवन निर्वाह वनों में रहकर फलफूल वनस्पति आदि से कर लेते थे। खेती बाडी अग्नि का उपयोग, विनिमय, व्यवसाय, बर्तन आदि निर्माण का आविष्कार उस समय नहीं हुआ था, इस प्रकार उन लोगों का जीवन शांत, मधुर और प्रकृति पर निर्भर था। प्राकृतिक संपदाएँ प्रचुर मात्रा में यत्र-तत्र मिलती थी। इस कारण उनमें कभी आपस में संघर्ष, कलह, मन-मुटाव नहीं होता था, उनके क्रोधादि कषाय अत्यंत मंद थे। स्वार्थ, लोभ, लालसा, तृष्णा, संग्रहवृत्ति आदि भी उनमें अत्यंत कम थी, किन्तु इस भोगभूमि काल का जब तिरोभाव होने जा रहा था, इन सब में परिवर्तन आने लगा। यौगलिक काल लगभग समाप्त हो चला था। संतति वृद्धि होने लगी। इससे जनसंख्या भी बढने लगी। उधर प्राकृतिक संपदा में कोई वृद्धि नहीं हो रही थी, वह उतनी ही थी अतः जीवन निर्वाह के साधनों में कमी होने लगी। जहाँ अभाव होता है वहाँ जन स्वभाव भी बदलने लगता है। इस दृष्टि से लोगों के जीवन में निर्वाह के साधनों के लिए परस्पर संघर्ष होने लगा। प्रतिदिन के संघर्ष से लोगों का जीवन कलुषित होने लगा। परस्पर कलह और मनोमालिन्य बढने लगा। ऐसी स्थिति में यौगलिक जनता उस युग के कुलकर नाभिराय के पास पहुँचे और वर्तमान संकट के निवारण के लिए उपाय पूछने लगे। तब नाभिरायजी ने अपने सुपुत्र भावी तीर्थंकर के पास मार्गदर्शन लेने को कहा।[७]

भगवान ऋषभदेव द्वारा कालानुसार जीवन जीने की प्रेरणा

भगवान ऋषभदेव उस युग में परम अवधिज्ञान संपन्न महान पुरुष थे। उन्होंने यौगलिक जनों के असंतोष, पारस्परिक संघर्ष के कारण और उसके निवारण का उपाय बताते हुए कहा - ''प्रजाजनों अब भोगभूमि काल समाप्त हो चला है, और कर्मभूमि काल का प्रारंभ हो चुका है। अब तुम लोग उसी पुराने ढर्रे के अनुसार प्राकृतिक संपदाओं से ही अपना निर्वाह

करना चाहो, यह संभव नहीं है। तुम देख रहे हो कि - जनसंख्या तेजी से बढती जा रही है और वनसंपदा या प्राकृतिक संपदा कम होती जा रही है।[८] ऐसी स्थिति में अब तुम्हें कर्मभूमि के अनुसार जीवन-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ कर्म (वर्तमान कालिक पुरुषार्थ) करना चाहिए, इसके बिना कोई चारा नहीं है। तुम चाहो कि कुछ भी कर्म न करना पडे और प्रकृति से सीधे ही जीवन निर्वाह के साधन मिल जायें, ऐसा अब नहीं हो सकता। यद्यपि किसी भी क्रिया या प्रवृत्ति के करने से कर्मों का आगमन (आस्त्रव) अवश्यंभावी है और तुम लोग एकदम कर्म से अकर्म (कर्ममुक्त) स्थिति प्राप्त कर लो, यह भी अतीव दुष्कर है तथापि क्रिया करते समय अगर तुम में राग, द्वेष आसक्ति, मोह, ममता आदि कम होगें और सावधानी एवं जागृति रखी जाएगी तो पापकर्मों का बंध नहीं होगा। इसलिए गृहस्थ जीवन की भूमिका में तुम्हें वे ही कर्म (क्रिया या प्रवृत्तियाँ) करने हैं, जो अत्यंत आवश्यक हों, सात्त्विक हों, अहिंसक हों, परस्पर प्रेमभाववर्धक हों।

इसके लिए उन्होंने मुख्यतया असि, मसि और कृषि ये तीन मुख्य कर्म एवं विविध शिल्प तथा कलाएँ उस समय के स्त्री पुरुषों को सिखाई। कृषिकर्म, कुंभकार कर्म, गृहनिर्माण, वस्त्रनिर्माण, भोजननिर्माण आदि कर्म उन्होंने स्वयं करके जनहित की दृष्टि से जनता को सिखाए।[९] कल्पसूत्र[१०] में भी यह बताया है। इन सब कलाओं, विद्याओं, शिल्पों आदि से जनता को प्रशिक्षित करने के पीछे उनका उद्देश्य यही था कि जनता परस्पर संघर्षशील एवं कषायमुक्त होकर, अशुभ (पाप) कर्म से बचे तथा भविष्य में शुभ कर्म करते हुए शुद्ध परिणति की ओर मुडकर संवर निर्जरारूप आत्मधर्म की ओर मुड़े। अगर भगवान ऋषभदेव उस समय की यौगलिक जनता को सत् सात्विक कार्यों का उपदेश एवं प्रशिक्षण न देते तो बहुत संभव था, जनता परस्पर लड़ भिड़कर, संघर्ष और कलह करके तबाह हो जाती। सबल लोग निर्बलों पर अन्याय, अत्याचार करते, उन्हें मार काटकर समाप्त कर देते अथवा अत्याचार एवं शोषण से पीडित जनता रोजी, रोटी, सुरक्षा एवं शांति के अभाव में स्वयं ही समाप्त हो जाती या फिर वह पीडित जनता विद्रोह, लूट, मार-काट और अराजकता पर उतर जाती। इस प्रकार अराजक एवं निरंकुश जनता हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि पाप कर्मों में प्रवृत्त हो जाती।

कर्ममुक्ति के लिए धर्मप्रधान समाज का निर्माण

भगवान ऋषभदेव ने सर्वप्रथम समग्र जनता को राज्यसंगठन (राज्यशासन) में आबद्ध किया। फिर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्ग के लोगों को प्रशिक्षण देकर जनशासन बनाया। सबको अपने कर्तव्य का मार्गदर्शन किया। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने शुभ कर्म (सात्त्विक कार्य) और धर्म से संबंधित तथ्यों का मार्गदर्शन दिया।

तत्कालीन समग्र जनता ने उन्हें विधिवत् राज्याभिषेक करके अपना राजा और जन नायक बनाया। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव प्रथम सम्राट हुए।[११] जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति[१२] में भी यही कहा है।

जब भगवान ने देखा कि अब राज्य शासन और जनशासन दोनों व्यवस्थित ढंग से चल रहे हैं। नैतिकता प्रधान शुभ कर्म एवं लोकधर्म दोनों जन जीवन में व्याप्त हो गये हैं। फिर भी हाकार, माकार और धिक्कार इन तीनों दंडक्रमों के कारण जनता में अराजकता अनीति, अन्याय, अत्याचार आदि अपराध बहुत ही कम हो पाते थे।[१३] जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र[१४] त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र[१५] और आदिपुराण[१६] में भी यही बात बताई है, परंतु भगवान ऋषभदेव को तो समग्र जनता को शुद्ध लोकोत्तर धर्म पालन की ओर मोडना था, ताकि जनता कर्मों से मुक्त होने का पुरुषार्थ कर सके और सिद्ध (स्वभावरूप) बुद्ध, मुक्त (सिद्ध) परमात्मा बन सके। इसके लिए सर्वप्रथम निम्नोक्त कहावत 'Charity begin's at home' के अनुसार स्वयं से प्रारंभ किया। स्वयं सर्वविरती महाव्रती अनगार बने और जिनशासन (धर्मसंघ) का निर्माण किया। प्रथम तीर्थंकर बने। राज्यशासन अपने दोनों प्रतापी एवं शासनकुशल पुत्रों- भरत और बाहुबली को सौंपा। शेष ९८ पुत्रों को छोटे-छोटे राज्यों के शासक बनाए। भगवान ऋषभदेव के साथ ४००० अन्य व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की थी। आवश्यक निर्युक्ति[१७] में भी यही बात कही है। दोनों धर्मों का लक्ष्य एक ही था। कर्मों से सर्वथा मुक्ति पाना, मोक्ष प्राप्त करना। बाद में उनके ९९ पुत्रों और दोनों पुत्रियों (ब्राह्मी-सुंदरी) ने भी साधु धर्म की दीक्षा अंगीकार की।

धर्म-कर्म-संस्कृति आदि का श्रीगणेश

निष्कर्ष यह है कि भगवान ऋषभदेव से पूर्व उस युग में धर्म, कर्म, संस्कृति और सभ्यता का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उन्होंने ग्राम और नगर बसाकर उस युग की जनता को सभ्यता और संस्कृति का प्रशिक्षण दिया, कर्मवाद से भली भाँति परिचित कराया। अशुभकर्म करने से रोका, शुभ कर्म से भी आगे बढकर शुद्ध धर्म का पालन करने और कर्मों से मुक्त होने अथवा कर्मक्षय करने की प्रेरणा दी।

उन्होंने प्रारंभ से ही धर्मप्रधान समाज की रचना की, उसमें अर्थ और काम को गौण रखा और मोक्ष पुरुषार्थ को जीवन का अंतिम लक्ष्य बताया। इसमें कहीं भी उन्होंने देवी देवता की मान्यताओं का समर्थन न देते हुए आत्म शक्ति को सर्व श्रेष्ठ माना है, तथा सृष्टि के प्राणियों की विविधता और विचित्रता का कारण बाह्य तत्त्वों में न ढूंढते हुएँ अंतरात्मा में ढूंढने की प्रेरणा दी, तथा जनता को यही उपदेश दिया कि सभी जीवों के अपने पूर्वकृत कर्मों के फल स्वरूप ये सब विविधताएँ एवं विचित्रताएँ हैं।

श्रीमद् भागवत[१९] में ऋषभदेव का बहुत विस्तार से वर्णन है। अन्य पुराण ग्रंथों में भी ऋषभदेव के जीवन प्रसंग का वर्णन है। बौद्ध परंपरा के महनीय ग्रंथ धम्मपद में भी ऋषभदेव को सर्वश्रेष्ठ और धीर प्रतिपादित किया है।[२०]

कर्मवाद का प्रथम उपदेश : भगवान ऋषभदेव द्वारा

सूत्रकृतांग सूत्र में भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया कि 'हे पुत्रों! तुम संबोध प्राप्त करो, समझो। यह भौतिक राज्य, सुख संपदा, भोग सामग्री आदि प्राप्त भी कर ली तो भी तुम्हें शांति, समाधि और स्वतंत्रता नहीं मिलेगी। यहाँ यह मौका चूक गये तो परलोक में संबोधि का पाना बहुत दुर्लभ है। जो रात्रियाँ बीत जाती हैं वे लौटकर वापस नहीं आती और यह मनुष्य जीवन भी जो कर्मों का सर्वथा क्षय कर के मोक्ष पाने के लिए है, पुनः सुलभ नहीं है।[२१]

श्रीमद् भागवत पुराण में भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा कि हे पुत्रो, काम भोगों पर गर्व न करो, इन भोगों को तो विष्टा खाने वाले शूकर आदि पशु भी भोगते हैं। तुम राजपुत्र हो, तुम्हारा यह शरीर काम भोगों के सेवन के लिए नहीं, किन्तु कर्म मुक्ति के हेतु दिव्यतप करने के लिए है, जिससे अंतःकरण शुद्ध हो क्योंकि शुद्ध अंतःकरण में अनंत ब्रह्म (आत्मा) सुख की प्राप्ति होती है।[२२]

भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को कितनी सुंदर प्रेरणाएँ दी हैं। उन्होंने स्वयं ने संयम, तप, त्याग और वैराग्य में अपनी आत्मा को विशुद्ध एवं कर्ममलरहित बनाने की देशना दी है।[२३] सूत्रकृतांगसूत्र[२४] जवाहर किरणावली[२५] और त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र[२६] में भी यह कहा है।

इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव कर्मवाद के रहस्य और धर्माचरण में पुरुषार्थ के पुरस्कर्ता थे, इसलिए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में कर्मवाद का आविर्भाव जैनदृष्टि से आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के युग में हुआ है।

कर्मवाद का आविर्भाव क्यों और कब ?

आविर्भाव या आविष्कार आवश्यकता होने पर होता है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका आविष्कार आवश्यकता के बिना हुआ हो। पाश्चात्य जगत् का यह माना हुआ सिद्धांत कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है'।[२७] जब मनुष्य को कृत्रिम प्रकाश की आवश्यकता हुई तो बिजली का आविष्कार हुआ। जब उसे समुद्र के अथाह जल पर सही सलामत चलने और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की इच्छा हुई तो उसने स्टीमर (वाष्पजलयान) का आविष्कार किया, जो एक ही साथ सैकडों टन वजन अपनी छाती पर

उठाये, समुद्र के अथाह जल पर तैरता हुआ मनुष्य को दूर-सुदूर गन्तव्य स्थान तक ले जाता है। जब मनुष्य को आकाश में उडकर द्रुतगति से कुछ ही घंटों में हजारों मील दूर गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की आवश्यकता हुई, समय की बचत करने की इच्छा हुई तो उसने एक से बढकर एक शीघ्रगामी वायुयानों का आविष्कार किया। स्थल पर शीघ्र गति में पहुँचने की इच्छा से उसने रेलगाडी, मोटरगाडी, बस आदि का आविष्कार किया, जो शीघ्र ही गन्तव्य स्थल तक पहुँचा देती है। सैकडों टन माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए मालगाडी, भारवाहक ट्रक का आविष्कार मानव बुद्धि की उपज है। इसी प्रकार मानव ने अपने भौतिक जीवनयापन के लिए जिन-जिन वस्तुओं, उत्पादक यंत्रों, मशीनों आदि का आविष्कार किया। दूर सुदूर बैठे हुए व्यक्ति से बातचीत करने के लिए उसने फोन, मोबाईल, वायरलेस आदि का, उसका चित्र तथा वाणी सुनने आदि की आवश्यकता पडी तो उसने रेडिओ, टेलिविजन, वीडियो कैसेट आदि का आविष्कार किया।

इस प्रकार मानव ने एक से बढकर एक आविष्कार जीवन के सभी क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये। इतना ही नहीं, कितनी ही ऐसी वस्तुएँ भी मानव ने आविष्कृत की हैं जो सबको आश्चर्य में डालने वाली हैं। कितने ही ऐसे पदार्थों का आविष्कार भी उसने किया जो उसके नगर, गाँव या विश्व के मानव बंधु के लिए अत्यंत हानिकारक एवं विनाशकारी हैं।[२८]

कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया गया?

कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया गया? आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समक्ष कौन सी ऐसी परिस्थितियाँ थी, कौन सी ऐसी आवश्यकता थी अथवा कौन सी ऐसी विवशताएँ थी जिनके कारण उन्हें कर्मवाद संबंधी इतना सूक्ष्म चिंतन जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना पडा? वैसे तो प्रत्येक कालचक्र में होने वाले तीर्थंकरों द्वारा प्रस्तुत कर्मवाद को प्रवाह रूप से अनादि माना है, तो इस अवसर्पिणी काल में भगवान ऋषभदेव को कर्मवाद का आविष्कारक क्यों माना? क्योंकि उस समय जनता की वृद्धि और कल्पवृक्षों का अभाव जिसके कारण जनता में असंतोष, अत्याचार, अनैतिकता, छीना-झपटी, कलह तथा धार्मिक तत्त्वों के प्रति अनभिज्ञता, फलतः मनमाना आचरण एवं स्वच्छन्दाचार आदि अनेक विकट संकट उपस्थित थे।

उस युग का मानव धर्म, कर्म, कर्तव्य और दायित्व से बिल्कुल अबोध था, ऐसे समय में आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने उस युग की जनता को नैतिक धार्मिक एवं आध्यात्मिक पथ पर लाने के लिए कर्मवाद का सांगोपांग बोध दिया उन्होंने स्वयं अनगार बनकर पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्ति पाने के लिए कठोर साधना की। उन्होंने धर्मसंघ (धर्मतीर्थ) स्थापित किया।

जनता के समक्ष कर्मवाद का आविर्भाव ही नहीं, प्रचार प्रसार भी हुआ।[२९] यह हुआ प्रागैतिहासिक काल में कर्मवाद का सर्वप्रथम आविर्भाव का कारण। कल्पसूत्र[३०] और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति[३१] में भी यह कहा गया है।

तीर्थंकरों द्वारा अपने युग में कर्मवाद का आविर्भाव

इस अवसर्पिणीकाल के कालक्रम में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, हो चुके हैं।[३२] एक तीर्थंकर के पश्चात दूसरे तीर्थंकर होने में सैकडों हजारों लाखों वर्षों का अन्तराल हो जाता है।[३३] इसी अवसर्पिणी युग के भगवान ऋषभदेव के सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाने के बाद आगे के द्वितीय तीर्थंकर के आने तक में लाखों वर्षों का समय हो गया। वंदनीय साधुजनों[३४] में भी यही कहा है। इतना लंबा व्यवधान जनता की तत्त्वज्ञान की स्मृति, धारणा या परंपरा को धूमिल कर देता है। जनता अपने समय के तीर्थंकर के द्वारा आविर्भूत कर्मवाद से सैद्धांतिक तत्त्वों एवं तथ्यों को धीरे-धीरे विस्मृत हो जाती है। इसलिए युग-युग में एक तीर्थंकर के मुक्त हो जाने के बाद दूसरा तीर्थंकर आता है, और जनता में सुषुप्त विस्मृत एवं धूमिल पडे हुए सिद्धांतों को जागृत एवं आविष्कृत करते हैं, स्मरण कराते हैं और उस पर पडी हुई विस्मृति की धूल की परत को हटाते हैं।

इस प्रकार हर महायुग में नये आनेवाले तीर्थंकर अपने युग की परिस्थिति और आवश्यकता को देखकर कर्मवाद का आविर्भाव और आविष्कार करते हैं। इसकी झाँकियाँ जैनागम में तथा जैनाचार्यों एवं मनीषी, मुनियों द्वारा लिखित ग्रंथों में मिलती है।

भगवान महावीर द्वारा कर्मवाद का आविर्भाव

भगवान महावीर के जीवन का लेखा जोखा सूत्रकृतांग,[३५] कल्पसूत्र[३६] और आचारांग सूत्र[३७] आदि अनेक शास्त्रों में विशद रूप से वर्णन अंकित है।

भगवान महावीर ने संयम अंगीकार करके साडेबारह वर्ष तक तपश्चर्या तथा मौन साधना की। तप साधना के पश्चात् जब उन्होंने मौन खोला तब जनता के सामने प्रथम उपदेश दिया कि 'मा हणो-माह णो' याने कि कोई भी जीवों को मत मारो। जीव हिंसा से कर्म बंध होता है इस प्रकार जनता को कर्मवाद का जीता जागता रहस्य समझाया। जो लोग कर्मवाद के सिद्धांत को विस्मृत हो गये थे उन्हें भी कर्म और कर्मफल के रहस्य का साक्षात्कार हो गया।[३८]

गणधरों की कर्मवाद संबंधी शंकाओं का समाधान

भगवान महावीर के तीर्थंकर बनने के पश्चात् जो ग्यारह धुरंधर विद्वान पंडित उनके संपर्क में आये वे वेदपाठी ब्राह्मण थे। उन पंडितों के मन में आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग-नरक

मोक्ष, कर्म एवं कर्मफल के प्रति विषय में उनके मन में संशय था, उन ग्यारह गणधरों की शंकाओं का समाधान भगवान महावीर स्वामी ने किया है।

दूसरे भावी गणधर अग्निभूति ने तो कर्म के अस्तित्व के विषय में शंका व्यक्त की थी।[३९] उसके समाधान के प्रसंग में भगवान महावीर ने कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। साथ ही कर्म मूर्त, परिणामी, विचित्र, अनादि काल संबंद्ध और अदृष्ट है इत्यादि कर्मवाद संबंधी रहस्यों का भी उद्घाटन किया है।

भगवान महावीर ने इन ग्यारह ही विद्वान ब्राह्मणों की शंकाओं का समाधान कर्मवाद की दृष्टि से किया, तब ग्यारह ब्राह्मणों ने सत्य को समझकर कर्मक्षय की साधना करने के लिए स्व-इच्छा से अपने शिष्य समुदाय के साथ मुनिधर्म अंगीकार किया और कर्मों को खपाकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

केवलज्ञान होते ही चतुर्विध संघ स्थापना के पश्चात् भगवान कर्मविज्ञान संबंधी अपने अनुभव ज्ञाननिधि सार्वजनिक रूप से वितरित करने लगे। उन्होंने सांसारिक जीवों की आधि, व्याधि, उपाधि तथा विविध अवस्थाओं का मूल कारण कर्म को बताया। कृतकर्मों को भोगे बिना छूटकारा नहीं हो पाता। आत्मा से परमात्मा के पृथक् भाव को भी कर्म जनित बताया। जहाँ जहाँ भी अवसर मिला अथवा जो जो जिज्ञासु आए, उनके संघ के साधुओं के संपर्क में आये युक्तिसंगत चर्चाएँ की, कर्मवाद की ही प्रतिष्ठा की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों को जन्म से महान नहीं बल्कि कर्म से महानता का सिद्धांत निरूपण किया।[४०] और भगवतीसूत्र[४१] में यत्र-तत्र कर्मवाद के आविष्कारण की चर्चा मिलती है।

निष्कर्ष यह है कि भौतिकवादी शरीर के नाश होने के बाद कृतकर्मों का फल भोग करने वाले तथा पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले किसी स्थाई तत्व को नहीं मानते कर्मवाद की दृष्टि से आत्मा मूलरूप में कभी नष्ट नहीं होती, कर्म के कारण विभिन्न योनियों और गतियों में भ्रमण करती है। इस प्रकार भगवान महावीर ने कर्मवाद सिद्धांत का आविर्भाव किया।

कर्मवाद का मूल स्त्रोत

कर्मवाद का आविर्भाव तो प्रवाह रूप से अनादि है, नया नहीं, फिर भी इस कालचक्र के अवसर्पिणीकाल के प्रारंभ से आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के युग से प्रागैतिहासिक काल प्रारंभ होता है, इसलिए प्रागैतिहासिक काल से कर्मवाद का मूल-स्त्रोत और उससे संबंधित प्रत्येक पहलुओं का विशद प्रतिपादन जितना जैन परंपरा में मिलता है उतना अन्य परंपरा में नहीं।[४२]

जैनदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थानकाल

वर्तमान युग तर्क प्रधान है। शिक्षित, अध्यात्म प्रेमियों तथा जैनेतर जिज्ञासुओं के समाधान हेतु ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर कर्मवाद का उद्भव और आविर्भाव हुआ है, यद्यपि कर्मतत्त्व संबंधी प्रक्रिया इतनी प्राचीन है कि उस विषय में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि कर्मवाद का समुत्थान और विकास कब से प्रारंभ हुआ? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्वकाल में भी कर्मतत्त्व चिंतकों में परस्पर विचार विमर्श पर्याप्त मात्रा में हुआ करता था। प्रत्येक निवर्तक धारा के चिंतक वर्गों ने अपने दर्शन में कर्मवाद का एक या दूसरे रूप में अवश्य ही विचार किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मनीषियों ने १४ पूर्व शास्त्रों में से कर्मप्रवाद पूर्व के रूप में उपनिबद्ध एवं विश्रुत हुई है।

'यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैन धर्म श्वेतांबर, दिगंबर शाखा रूप में वर्तमान है। इस समय जितना जैन तत्त्वज्ञान है, और जो विशिष्ट परंपरा है वह सब भगवान महावीर के विचार का चित्र है। अतः कर्मवाद के समुत्थान का यही समय अशंकनीय समझना चाहिए।

कर्मवाद के समुत्थान का मूल स्त्रोत

श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही परंपराएँ समान रूप से मानती हैं कि बारह अंग और चौदह पूर्व भगवान महावीर के विशद उपदेशों का साक्षात् फल है। वर्तमान में उपलब्ध समग्र कर्मशास्त्र शब्द और भावरूप से भगवान महावीर के द्वारा गणधर देवों के समक्ष साक्षात् उपदिष्ट है।[४३]

दूसरा अभिमत यह है कि समस्त अंग शास्त्र (द्वादशांगी) भावरूप से भगवान महावीर कालिक ही नहीं अपितु, पूर्व में हुए अन्यान्य तीर्थंकरों से भी पूर्वकाल का है, अर्थात् वह अनादि है, किन्तु प्रवाह रूप से अनादि होते हुए भी समय-समय पर होनेवाले तीर्थंकरों द्वारा वे अंगशास्त्र (अंगविद्याएँ) नया नया रूप धारण करती रहीं।[४४] गणधरदेव अर्थरूप (भावरूप से) उपदिष्ट अंग विद्याओं को शब्दबद्ध, सूत्रबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से संकलित, ग्रथित करते हैं। समवायांग,[४५] विशेषावश्यक भाष्य[४६] में भी यही कहा है।

जैन आगमों में से कोई भी आगम या द्वादशांगी के दृष्टिवाद को छोडकर ग्यारह अंगों में से कोई भी अंगशास्त्र ऐसा नहीं है, जिसमें केवल कर्मवाद संबंधी विस्तृत विवेचन हो। वर्तमान में उपलब्ध जैन आगमों में जैन कर्मवाद का स्वरूप एवं विवेचन अमुक प्रमाण में किसी एक दो अध्ययन शतक या उद्देशक में छुटपुट रूप में हुआ है, वह भी बहुत ही संक्षेप में है। अतः इतने अल्प प्रमाण में उपलब्ध विवेचन कर्मवाद के महत्त्व एवं रहस्य को उजागर

करने में अंगरूप नहीं बन सकता। किन्तु जैन दृष्टि से कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास का मूल स्त्रोत कर्मप्रवाद पूर्व (जो १४ पूर्वों में से एक पूर्व) नामक महाशास्त्र है। इसमें कर्मवाद अथवा कर्मतत्त्व से संबंधित सांगोपांग एवं विस्तृत वर्णन था।

इसके अतिरिक्त अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के एक विभाग का नाम था- कर्म प्राभृत (कर्म-पाहुड) तथा पंचम पूर्व के विभाग का नाम था कषाय (पाहुड) प्राभृत इन दोनों प्राभृतों में भी कर्म से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर सांगोपांग विशद विवेचन था।

चतुर्दश विभागों में विभक्त पूर्वविद्या का यह (कर्मवाद संबंधी) विभाग सबसे बडा अतीव महत्त्वपूर्ण एवं सबसे पहले था। कर्मवाद संबंधी इन पूर्वशास्त्रों का अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक पूर्वविद्या का विच्छेद नहीं हुआ। श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के नौ सौ अथवा एक हजार वर्ष तक पूर्व विद्या सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुई थी अतः यहीं से ही कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास का प्रारंभ समझना चाहिए।

ग्रंथकारों के क्षयोपशम के अनुसार वस्तु वर्णन एवं तत्त्वों के विवेचन में विशदता-अविशदता, सुगमता-दुर्गमता या न्यूनाधिकता अवश्य हुई है और होनी संभव है, किन्तु दोनों संप्रदायों के महान मनीषियों द्वारा रचित विपुल कर्म साहित्य को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने कर्म सिद्धांत का गौरव कम किया है।

इस प्रकार सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि कर्मवाद का उत्तरोत्तर समुत्थान और विकास जैन मनीषियों ने किस प्रकार किया है। यही कर्मविषयक विपुल साहित्य जैन दर्शन की बहुमूल्य निधि है।

कर्मवाद जैनदर्शन का असाधारण एवं प्रमुख वाद है। अतः नयवाद, प्रमाणवाद आदि वादों की तरह कर्मवाद का समुत्थान भी भगवान महावीर से ही समझना चाहिए। जैन दर्शन का गहराई से अध्ययन करने वाले जानते हैं कि कर्मवाद का भगवान महावीर के शासन (धर्मसंघ) के साथ इतना घनिष्ठ संबंध है कि कर्मवाद को उससे पृथक कर दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा मानो जीव से प्राण को अलग कर दिया हो। वस्तुतः कर्मवाद जैन सिद्धांत की चर्चाओं का मूल स्त्रोत है। भारतीय तत्त्व चिंतन में उसका विशिष्ट स्थान है। अनेक प्रश्नों का समाधान भी कर्मवाद पर आधारित है।[४७] कर्मवाद का सांगोपांग अध्ययन एवं उसे हृदयंगम किये बिना कोई भी व्यक्ति जैन सिद्धांत का सम्यक् मर्मज्ञ नहीं हो सकता न ही उसकी अनेक अटपटी गुत्थियों को आसानी से सुलझा सकता है।

कर्मविज्ञान विशेषज्ञों ने कर्म से संबद्ध विभिन्न तथ्यों को पारिभाषिक शब्दों में आबद्ध करके सैद्धांतिक रूप दे दिया है। ऐसा कहा जा सकता है कि जैन वाङ्मय में कर्म साहित्य का

वही स्थान है, जो संस्कृत साहित्य में व्याकरण का है। जैसे व्याकरण संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य को अनुप्राणित एवं निर्वचनीकृत करता है, वैसे ही कर्मशास्त्र जैन दर्शन एवं जैन धर्म के समग्र साहित्य को अनुप्राणित एवं निर्वचनी कृत करता है। शब्द शास्त्र, शब्द रचना को नियम बद्ध करता है। उसी प्रकार कर्मशास्त्र भी कर्मतत्त्वों को नियम बद्ध करता है। अतः जैन वाङ्मय में कर्मशास्त्र अथवा कर्मग्रंथ के रूप में प्रख्यात कर्मसाहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वतंत्र कर्मग्रंथों के अतिरिक्त व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन, विपाकसूत्र, निरयावलिका आदि आगमों में तथा परवर्ती आचार्यों एवं कर्मशास्त्र के मर्मज्ञों द्वारा रचित ग्रंथों में कर्म संबंधी चर्चा विचारणा विशदरूप से हुई है।[४८]

जैन आचार्यों ने कर्मवाद की गरिमा और उनके मूल हार्द को उन्होंने सुरक्षित रखा। कर्मवाद के विकास के संदर्भ में जैनाचार्यों द्वारा रचित कर्म विषयक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें गौरव का अनुभव होता है, कि कर्म सिद्धांत पारिभाषिक शब्दावलियों और गूढ परिभाषाओं में जटिल और दुरुह बना हुआ था, उसे कर्मवाद मर्मज्ञों ने बहुत ही सरल तथा लोक भाग्य बना दिया।

कर्मवाद का विकास क्रम : साहित्य रचना के संदर्भ में

कर्मवाद का यह विकास किस क्रम से हुआ, कब-कब हुआ? इस संबंध में अनादिकाल से प्रवाह चला आ रहा है। कर्मवाद का भगवान महावीर से लेकर अब तक ढाई हजार वर्ष से कुछ अधिक समय तक उत्तरोत्तर जो संकलन हुआ है, उस पर विचार करना आवश्यक है। उक्त संकलन को हम तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। यह तीन विभाग कर्मवाद के उत्तरोत्तर विकास के तीन महायुग समझने चाहिए।

वे तीन विभाग इस प्रकार हैं -

१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र

२) पूर्वोद्घृत अथवा आकर कर्मशास्त्र

३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र

१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र

कर्मवाद का पूर्वात्मक रूप में संकलन कर्मवाद के विकास का प्रथम महायुग था। पूर्वात्मक रूप से संकलित कर्मशास्त्र सबसे विशाल और सबसे प्रथम है, क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी।[४९]

२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र

पूर्वोद्धृत रूप में कर्मवाद के विकास का द्वितीय महायुग था। इसे आकर कर्मशास्त्र भी

कहते हैं। यद्यपि पूर्वात्मक कर्मशास्त्र यह विभाग काफी छोटा है, किन्तु कर्मशास्त्र के वर्तमान अध्येता की दृष्टि से काफी बडा है।

भगवान महावीर के बाद लगभग ९०० या १००० वर्ष तक पूर्व विद्याओं का ह्रास होने लगा था। उस समय दस पूर्वधारी आचार्यों को कर्म विषयक ज्ञान का स्मरण था। उनसे ग्रहण धारण के आकर कर्मशास्त्र लिखे गये। यह भाग साक्षात् पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही परंपरा के विद्वानों द्वारा रचित कर्मशास्त्रों में यह पूर्वोद्धृत अंश विद्यमान है, क्योंकि ऐसा देखा गया है कि पूर्व विद्या का मूल अंश विद्यमान न रहने के कारण इनमें कहीं कहीं श्रृंखला खण्डित हो गई है, फिर भी पूर्व से उद्धृत पर्याप्त अंश सुरक्षित है।

श्वेतांबर संप्रदाय से कर्मप्रकृति, शतक, पंचसंग्रह और सप्ततिका ये चार महाग्रंथ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं। कर्मप्रकृति-आचार्य शिवशर्म-सूरि द्वारा रचित है।[५०] जिसका समय विक्रम की पांचवी शताब्दी माना जाता है। इसमें कर्मसंबंधी बंधन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना एवं निषेचना इन ८ करणों का तथा उदय और सत्ता इन दो अवस्थाओं का वर्णन है। पंचसंग्रह महाग्रंथ आचार्य चंद्रर्षि महत्तर द्वारा रचित है। इसमें योगोपयोग, मार्गणा, बंधव्य, बंध-हेतु और बंध-विधि इन पांच द्वारों तथा शतकादि पांच ग्रंथों का समावेश होने से इसका पंचसंग्रह नाम सार्थक है। दिगंबर संप्रदाय में महाकर्मप्रकृति प्राभृत तथा कषायप्राभृत, ये दो ग्रंथ पूर्वों से उद्धृत माने जाते हैं।

३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र

पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र के पश्चात् कर्मवाद के विकास का यह तीसरा महायुग था। यह तृतीय विभाग का संकलन का फल है। इसमें कर्म संबंधी अनेक छोटे बडे प्रकरण ग्रंथों का अध्ययन अध्यापन विशेषतः प्रचलित है।

इन प्राकरणिक कर्मशास्त्र का संकलन संपादन विक्रम की आठवी, नौवी शताब्दी से लेकर सोलहवी, सत्रहवी शताब्दी तक हुआ है। यह कर्म साहित्य रचना का उत्कर्षकाल है। इस काल में कर्म सिद्धांत पर विभिन्न आचार्यों द्वारा रचित प्रकरण ग्रंथों के पठन पाठन की ओर विशेष रुचि जगी। कर्मवाद विषयक प्रकरण ग्रंथों के पठन-पाठन को इस युग में अधिक प्रोत्साहन भी मिला। इसके मुख्य दो कारण हैं- मध्ययुग के आचार्यों का ध्यान अन्यान्य विषयों से हटकर कर्म विषयक प्राकरणिक ग्रंथों की रचना की ओर आकर्षित हुआ। फलतः उन्होंने क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ढंग से कर्मशास्त्र को निर्मित एवं पल्लवित किया। इसलिए इन प्रकरण ग्रंथों के अध्ययन अध्यापन को प्रोत्साहन मिलने का पहला कारण यह है कि कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि पूर्वोद्धृत ग्रंथ बहुत ही विशाल एवं गहन हैं।[५१]

श्वेतांबर कर्मसाहित्य में ६ प्राचीन कर्मग्रंथों की रचना भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में की गई। प्राचीन षट्कर्मग्रंथों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं।

१) कर्म विपाक, २) कर्म स्तव, ३) बंध स्वामित्व,
४) षडशीति, ५) शतक, ६) सप्ततिका।

आचार्य देवेन्द्रसूरि ने प्राचीन कर्मग्रंथों को नये ढंग से प्रस्तुत किया। नाम वे ही रखे सिर्फ प्रत्येक भाग के पूर्व 'बृहत्' शब्द लगाया। फर्क इतना ही है कि नये कर्मग्रंथ की साइज कम कर दी याने कि विषय छुटा नहीं है। लेकिन पूर्व की अपेक्षा कर्मग्रंथ का रूप छोटा हुआ है। दिगंबर संप्रदाय में पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र के संदर्भ में आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि ने विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (दूसरा नाम कर्मप्राभृत) की रचना की। इसके छह खण्ड हैं- जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बंध-स्वामित्व, विचय, वेदना, वर्गणा, महाबंध इसे षट् खण्डागम भी कहते हैं। इस पर अति विस्तृत धवला टीका है।

आचार्य गुणधर ने कषाय प्राभृत उसका (अपर नाम पेज्जदोसपाहुड = प्रेयदोष प्राभृत) की रचना की। जयधवलाकार के अनुसार निम्नोक्त १५ अधिकार हैं- प्रेयोद्वेष, प्रकृति विभक्ति, स्थिति विभक्ति, अनुभाग विभक्ति, प्रदेश विभक्ति, बंधक, वेदक, उपयोग, चतुःस्थान व्यंजन, सम्यक्त्व, देशविरति, संयम, चारित्र मोहनीय की उपशमना, चारित्र मोहनीय की क्षपणा आदि की जय धवला टीका प्रसिद्ध है।

दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती द्वारा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की रचना हुई है। इसमें कर्मसंबंधी नौ प्रकरण हैं। इन्हीं आचार्य की एक कृति है लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) इसमें कर्म से मुक्त होने का प्रतिपादन है। इसमें तीन प्रकरण हैं। १) दर्शन लब्धि, २) चारित्र लब्धि, ३) क्षायिक चारित्र।[५२]

वर्तमान में श्वेतांबर संप्रदाय में कर्मग्रंथ और पंचसंग्रह तथा दिगंबर संप्रदाय में गोम्मटसार (कर्मकांड) के पठन-पाठन को बहुत ही प्रोत्साहन मिला है। इस प्रोत्साहन का दूसरा कारण यह है कि कर्मवाद जैन दर्शन का प्रमुख अंग है, अध्यात्म के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। कर्मशास्त्र के गहन वन में प्रविष्ट होने के बाद पाठक की चित्तवृत्ति स्वतः एकाग्र होने लगती है। प्रारंभ में कठिनतर प्रतीत होने वाला कर्मशास्त्र, अभ्यास हो जाने के बाद अतीव रसप्रद लगता है। उसमें चिंतन मननपूर्वक डुबकी लगाने पर अनेक दुर्लभ तत्त्वरत्न मिल जाते हैं। व्यक्ति अध्येता से ध्याता बन जाता है।

कर्मशास्त्रों का मनोयोग पूर्वक क्रमबद्ध अध्ययन किया जाये तो इसमें सुगम और चित्त को धर्मध्यान के चरणभूत अपायविचय और विपाकविचय के ध्यान में तन्मय करने में आसान अन्य कोई शास्त्र नहीं है। धर्मध्यान के बिना प्रारंभिक दशा में मन को एकाग्र करना

अतीव दुष्कर है और कर्म सिद्धांत के चिंतन मनन ध्यान द्वारा स्व-स्वरूप में लीन हो जाने से परमात्मपद प्राप्ति या मुक्ति सहज हो सकती है।

श्वेतांबर आचार्यों में विजयप्रेम सूरिश्वरजी म. जी ने समस्त श्वेतांबर एवं दिगंबर कर्म साहित्य का अध्ययन मनन, मंथन करके प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में नई शैली में लगभग दो लाख श्लोक परिमित खवगसेठी, पयडीबंधो, ठिईबंधो, रसबंधो, पएसबंधो आदि महान ग्रंथों की रचना की है।[५३] कर्मसाहित्य का संक्षिप्त विवरण[५४] कर्म सिद्धांत[५४] में भी कहा गया है। पूर्वात्मक, पूर्वोद्धृत एवं प्राकरणिक कर्मशास्त्र की मूल गाथाएँ प्राकृत भाषा में हैं, किन्तु उन पर व्याख्याएँ, टीकाएँ, निर्युक्तियाँ प्रायः संस्कृत भाषा में हैं।

प्राकरणिक कर्म साहित्य पर हिंदी, गुजराती, कन्नड आदि तीन भाषाओं में अनुवाद, विवेचन, टीका, टिप्पणी आदि हैं। दिगंबर साहित्य में कन्नड, तमिल एवं हिन्दी आदि प्रादेशिक भाषाओं का तथा श्वेतांबर साहित्य ने हिंदी, गुजराती तथा राजस्थानी भाषा का आश्रय लिया है। इस प्रकार कर्मविषयक साहित्य सृजन उत्तरोत्तर कर्मवाद के समुत्थान से लेकर विकास के सोपान पर चढता रहा है। इस प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में तो हिंदी, अंग्रेजी एवं प्रादेशिक गुजराती, बंगला, मराठी, कन्नड आदि भाषाओं में कर्मविज्ञान का विवेचन मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षाविज्ञान, जीवविज्ञान, शरीरविज्ञान शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक, अध्ययन, मनन, परिशीलन एवं साहित्य सृजन हो रहा है, इसलिए वह दिन दूर नहीं, जब कर्म विज्ञान आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर विश्व के समस्त विज्ञानों के साथ अनेकांत दृष्टि से परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ विकास के सर्वोच्च शिखर को छू लेगा।

अनेकांतवादी जैनदर्शन का मन्तव्य

जैनधर्म और उसका दर्शन अनेकांतवादी है। वह पहले प्रत्येक तत्त्व को अनेकांतवाद के छन्ने से छानता है। अगर वह तत्त्व किसी अपेक्षा से आत्मा के लिए हितकर है, आत्मा की स्वतंत्रता को छीनता नहीं है, आत्मा से परमात्मा बनने के चरम लक्ष्य को प्राप्त कराने में उपयोगी है, तो वह उस तत्त्व को उस अपेक्षा से अपनाने और कर्मवाद के साथ सामंजस्य बिठाने में जरा भी हिचकिचाता नहीं है।

विश्व वैचित्र्य के पांच कारण

जैन दर्शन जब सृष्टि की विविधता, विसदृशता एवं विचित्रता के कारणों की मीमांसा करता है, तब उसके गहन सुदृष्टिपथ में विश्ववैचित्र्य के पांच महत्त्वपूर्ण कारण आते हैं उनके नाम से पांच वाद प्रचलित थे

१) कालवाद, २) स्वभाववाद, ३) नियतिवाद,
४) कर्मवाद, और ५) पुरुषार्थवाद।[५६]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में जिन ६ कारणवादों का उल्लेख है, उनमें कर्मवाद तथा पुरुषार्थवाद को बिल्कुल स्थान नहीं दिया है उसका कारण यह है कि उपनिषदकाल से पूर्व तक वैदिक परंपरा के मनीषी विश्व वैविध्य एवं वैचित्र्य का कारण अंतरात्मा में ढूंढने की अपेक्षा बाह्य पदार्थों में ही मानकर संतुष्ट हो गये थे। यही कारण है कि उपनिषदकाल में सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् में विश्ववैचित्र्य के छह निमित्त कारणों का उल्लेख मिलता है।[५७] संभव है, इसमें कर्मवाद एवं पुरुषार्थवाद का आत्मा से सीधा संबंध होने से उनकी दृष्टि में ये दोनों वाद न आये हों। इससे यह भी सूचित होता है कि तब तक उपनिषद् मनीषी ऋषिगण कर्मवाद और पुरुषार्थवाद से भलीभाँति परिचित नहीं हुए होंगे। पश्चात्वर्ती मनीषियों ने एवं दार्शनिकों ने अवश्य ही इन दोनों को किसी न किसी रूप में अपनाया है।

प्रत्येक कार्य में पांच कारणों का समवाय और समन्वय

जिस प्रकार वैदिक मनीषियों ने वैदिक परंपरा सम्मत यज्ञकर्म और देवाधिदेव के साथ अपनी दृष्टि से कर्म का समन्वय किया, उसी प्रकार जैन-मनीषियों ने दार्शनिक युग में कालादि कारणों की गहराई से समीक्षा करके पूर्वोक्त पांच कारणवादों को सृष्टि वैचित्र्य के कारणों को उपयुक्त समझा और उनमें यथोचित अंशों को अपनाकर कर्म के साथ उनका समन्वय किया।

पश्चाद्वर्ती जैन दार्शनिक आचार्यों ने इस सिद्धांत का निरूपण किया कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर निर्भर नहीं है, अपितु वह पांच कारणों के समवाय (कारण साकल्य) पर निर्भर है। काल, स्वभाव, नियति, कर्म, (स्वयं द्वारा स्वकृत कर्म) और पुरुषार्थ पांच कारण हैं। इन्हीं पांचों को जैन दार्शनिकों ने पंच कारण समवाय कहा है। ये पांचों सापेक्ष हैं। इनमें किसी भी एक को कारण मान लेने से कार्य निष्पत्ति नहीं हो सकती। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, और पुरुषार्थ इन पाँचों कारणों में से किसी एक को ही कारण माना जाये और शेष कारणों की उपेक्षा की जाये यह मिथ्या धारणा है। सम्यक् धारणा यह है कि कार्य के निष्पन्न होने में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किया जाये।[५८]

आचार्य हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्तासमुच्चय में एकांत कारणवादों की समीक्षा करते हुए कहा है कि 'न्यायवादियों को यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार गर्भाधानादि कार्यों के

लिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पाँचों का समुदाय होना आवश्यक है, वैसे ही जगत् के समस्त कार्यों के लिए काल आदि पाँचों समुदाय रूप कारण हैं, इन पांचों कारणों में से किसी एक को ही कारण मानना कथमपि अभीष्ट एवं अपेक्षित नहीं है। इसलिए समस्त कार्यों की निष्पत्ति के लिए पंच कारण सामग्री ही अभीष्ट मानी गई है।[५९]

कर्मवाद के अस्तित्व में कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद के स्वरूप का विवेचन किया है। प्रत्येकवाद अपनी-अपनी दृष्टि बिंदु से आंशिक रूप से तो सत्य है, किन्तु वह पूर्ण सत्य (प्रमाणसत्य) नहीं है। संपूर्ण सत्य तो अनेकांत वाद में है, दोनों नेत्र खुले रखकर नय और प्रमाण दोनों दृष्टियों से विचार करने में है।

एकांत कालवाद

कालवादी यह कहने लग जाये कि संसार के समस्त कार्यों का एकमात्र काल ही आधार है, तो उसका यह कथन सत्य नहीं है, काल-रूपी समर्थ कारण के सदैव रहते हुए भी अमुककार्य कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता। अतः यह नियत व्यवस्था अकेले काल से संभव नहीं है। काल समान रूप से हेतु होने पर भी कपडा तंतु से तथा घड़ा मिट्टी से ही उत्पन्न होता हो, यह प्रतिनियत लोक व्यवस्था काल के द्वारा घटित नहीं हो सकती। प्रतिनियत कार्य के लिए प्रतिनियत उपादान कारण स्वीकार करना अभिष्ट है।[६०]

एकांत स्वभाववाद

स्वभाववादी यदि यह कहे कि जगत् के समस्त कार्य को निष्पन्न करने में स्वभाव ही एक मात्र कारण है, तो यह कथन एकांत होने से मिथ्या होगा। प्रत्येक पदार्थ का अपने द्वारा संभावित कार्य करने का स्वभाव होने पर भी उस कार्य की निष्पत्ति या विकासशीलता केवल स्वभाव से नहीं हो सकती, उसके लिए अन्य कारण सामग्री भी अपेक्षित होती है। मिट्टी के पिण्ड में घड़े को उत्पन्न करने का स्वभाव होने पर भी उसकी उत्पत्ति, कुंभकार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि पूर्ण सामग्री के होने पर ही हो सकती है। उस घड़े को पकाने, ऊपर से रंगने आदि विकास का कार्य भी कुंभकार आदि के पुरुषार्थ से होता है, स्वभाव से नहीं।

अतः स्वभाववाद का आश्रय लेकर निराशावाद को स्थान देना उचित नहीं। स्वभाव नियतता होने पर भी अन्य कारण सामग्री से आँखें मूंद लेना ठीक नहीं।[६१]

एकांत नियतिवाद

एकांत नियतिवाद को मानकर यह समझ बैठे कि जो होना होगा, वही होगा, हमारे करने से क्या होगा? अथवा सर्वज्ञ प्रभु ने जैसा देखा होगा वही होगा, या विधाता ने भाग्य

में जो कुछ भी लिखा होगा, वही होगा; इसको लेकर अपने पुरुषार्थ को, अपने कर्तव्य को तिलांजलि देकर हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना उचित नहीं। यह नियतिवाद की ओर में स्वपुरुषार्थ हीनता को आश्रय देना है, तथा अपने आलस्य एवं अकार्मण्यता का पोषण करना है।[६२]

गोशालक का नियतिवाद एकांत है, वह अकारणवाद तथा अकार्मण्यता का आश्रय लेने तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषार्थ को ठुकराकर एकांत रूप से नियति के अधीन होने की प्रेरणा देता है। अगर सम्यक् नियतिवाद का आश्रय लिया जाये तो वहाँ कभी ऐसा विचार नहीं होता कि सब कुछ नियत है, फिर मुझे पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है? परोक्षज्ञानी को यह नहीं ज्ञात होता कि क्या नियत है? क्या भवितव्य है? और क्या होनेवाला है? अतः उसे मोक्षमार्ग में सम्यक् पुरुषार्थ करने में पीछे नहीं हटना चाहिए।

अनंतकाल तक का क्रमबद्ध पर्याय परिवर्तन होना नियत है, इस प्रकार का नियतिवाद आध्यात्मिक जगत् में माना गया है, ऐसा माने बिना सर्वज्ञ केवली भगवान अपने ज्ञान में तीनों काल, तीनों लोक के घटनाक्रम को युगपत् कैसे जान पाएँगें? यही कारण है कि भगवान महावीर के केवलज्ञान होने के पश्चात् भी इसी नियतिवाद को कालादि का सहकारी कारण मानकर सम्यक् पुरुषार्थ करते रहे।

कर्मवाद मीमांसा

कर्मवाद का मन्तव्य यह है कि जगत् में जो भी घटना होती है, जो कुछ कार्य, व्यवहार या आचरण होता है अथवा जीवों का जहाँ भी जिस गति, योनि या लोक में जन्म होता है, तथा उसे शरीर से संबंधित जो भी अच्छी बुरी, अनुकूल-प्रतिकूल, सामग्री मिलती है, अथवा जीवों को जो भी सुख-दुःख, हानि-लाभ, इष्ट-अनिष्ट, हित-अहित, संघर्ष-मेल आदि का वेदन होता है उसके पीछे कर्म ही एकमात्र कारण है। उसमें काल या स्वभाव का कुछ भी नहीं चलता। चाहे कितना पुरुषार्थ किया जाए पूर्वकृत कर्म शुभ नहीं है तो जीवों को उसका अनुकूल फल नहीं मिलता। जिस समय किसी वस्तु के मिलने का अवसर आता है, उसके लिए पुरा उद्यम भी किया जाता है, परंतु अशुभ कर्मोदयवशात् ऐन वक्त पर मनुष्य मरण शरण हो जाता है अथवा किसी वस्तु की उपलब्धि में अंतराय आ जाती है, मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, वह विपरीत मार्ग पर चलकर उस उपलब्धि के अवसर को खो बैठता है, यह सब पूर्वकृत कर्मों के फल का ही खेल है।

दशरथपुत्र युगपुरुष रामचंद्र जी को प्रातःकाल राजगादी मिलने वाली थी। अयोध्या में सर्वत्र खुशियाँ छा रहीं थी। वशिष्टऋषि ने श्रीराम के राज्याभिषेक का प्रातः काल मुहूर्त

निश्चित किया था, किन्तु कर्मलीला बडी विचित्र है कि राज्याभिषेक के बदले रामचंद्रजी को वनगमन करना पडा। श्रीराम जैसे महान आत्मा द्वारा वनवास दिया जाना भी कर्मशक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस युग के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को दीक्षा लेने के पश्चात् बारह महीनें तक यथाकल्प आहार न मिलना भी उनके पूर्वकृत कर्म का ही फल है।[६३] समवायांग सूत्र[६४] में भी यही कहा है।

भगवान ऋषभदेव को आहार प्राप्ति में काल और स्वभाव तो अनुकूल ही थे, उन्होंने पुरुषार्थ भी भरपूर किया था। फिर भी आहार प्राप्ति न हुई इसके पीछे पूर्वकृत कर्म के सिवाय और क्या कारण हो सकता है? सती दमयंती और सती अंजना को दीर्घकाल तक पति वियोग हो जाना, त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण जैसे प्रचंड पराक्रमी पुरुष की जराकुमार के बाण से मृत्यु होना, सत्यवादी हरिश्चंद्र जैसे प्रतापी राजा को चाण्डाल के यहाँ नौकर रहकर श्मशान घाट का प्रहरी बनना पडे। इस प्रकार की अतार्किक एवं अप्रत्याशित घटनाएँ कर्म की महिमा को उजागर कर रहीं हैं। व्यक्ति चाहे जितना उपाय करले, अमुक कार्य के लिए पुरुषार्थ भी पूरा-पूरा कर ले, उसका वैसा अभ्यास और स्वभाव भी हो, समय भी उस कार्य की सफलता के लिए अनुकूल हो, फिर भी पूर्वकृत कर्मों का उदय हो तो उसके आगे किसी की नहीं चलती।

इस विश्व में जो कुछ भी विचित्रता, विविधता, अभिनवता या विरूपता दृष्टि गोचर हो रही है, उसका मूल कारण एकमात्र कर्म ही है। कर्म के कारण तीर्थंकर महावीर जैसे महापुरुष के कानों में कीले ठोके गये और शालिभद्र जैसे व्यक्ति के लिए बिना मेहनत के दिव्यलोक से रत्नों की पेटियाँ उतर कर आती थी। कर्म के प्रभाव से ही जीवों को विविध गतियाँ, योनियाँ, शरीर आदि प्राप्त होते हैं।[६५]

अतः संसार में समस्त क्रियाओं, बैर विरोधों, अन्तरायों, राग-द्वेष आदि विकारों तथा समस्त व्यवहारों, विचारों और आचरणों के पीछे कर्म का फल है। जगत की विचित्रता का समाधान कर्म को माने बिना हो नहीं सकता। अतः कर्मवाद का मूल उद्देश्य विश्व की दृश्यमान विषमता की गुत्थी को सुलझाना है। कर्म अनुकूल हो तो काल भी वैसा हो जाता है, स्वभाव भी वैसा ही बन जाता है और भवितव्यता भी वैसी हो जाती है। पुरुषार्थ करने की बुद्धि भी शुभकर्म हो, तभी होती है, अन्यथा आलस्य, निद्रा, लापरवाही आदि में ही मनुष्य का समय चला जाता है। कई बार उद्यम करने पर भी शुभ कर्मोदय न हो तो अभिष्ट वस्तु नहीं मिलती अथवा मिल जाने पर भी हाथ से चली जाती है या नष्ट हो जाती है।[६६]

कर्मवाद की समीक्षा

कुछ लोगों में यह भ्रान्ति फैली हुई है कि कर्म सर्वशक्ति संपन्न है। उसी की संसार में

सार्वभौम सत्ता है, परंतु यह बहुत बडी भ्रान्ति है। इसे तोडना ही चाहिए। कर्म ही सब कुछ नहीं। कुछ ऐसी भी स्थितियाँ हैं जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है, जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है, जो कर्म से पूर्ण रूपेण कदापि आवृत नहीं होती। यदि आत्मा पर कर्म पूर्णरूप से हावी हो जाते तो वह उसे कदापि तोड नहीं पाता। यदि कर्म ही सब कुछ होता तो मनुष्य समस्त बंधनों को तोडकर कभी सिद्ध बुद्ध मुक्त नहीं हो पाता। कर्म ही सार्वभौम सत्ता संपन्न होते तो कोई भी जीव अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि में नहीं आ सकते थे, अर्थात् अविकसित जीवों की श्रेणी से वह विकसित जीवों की श्रेणी में कभी नहीं आ पाते।

कर्म का ही एक छत्र साम्राज्य होता तो अनादिकाल से मिथ्यात्व ग्रस्त व्यक्ति मिथ्यात्व के उस गाढ़ अंधकार का भेदन नहीं कर पाते, किन्तु आत्मा में ऐसी शक्ति है कि, जैसे सूर्य के उदय होते ही चिरकाल का गाढ़ अंधकार एकदम विलुप्त हो जाता है। वैसे ही जब आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जाग्रत हो जाती है, तब वह कर्मचक्र को तोड़ने में समर्थ हो जाती है। यदि कर्म का ही एक छत्र साम्राज्य होता तो आत्मा की शक्ति कभी उसे चुनौती नहीं दे पाती, यदि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का सर्वदा स्वतंत्र अस्तित्व न होता तो कर्म ही सब कुछ हो जाते, परंतु आत्मा का चैतन्य स्वभाव कभी अपने आपको नष्ट होने या बदलने नहीं देते, इसलिए कर्म आत्मा पर कितना भी प्रभाव डाले, वह एकाधिकार नहीं जमा सकता। कर्म तब तक टिकता है, जब तक चेतना नहीं जागती। चेतना के जागृत होते ही कर्म स्वतः नष्ट होने लग जाते हैं।

आज प्रायः आम आदमी की धारणा ऐसी बन गई है कि, वह सहसा कह बैठता है- 'क्या करे ऐसे ही कर्म किये थे इसलिए ऐसा हो गया। कर्मों का ऐसा ही भोग था। हमारे बस की बात नहीं रही।' व्यावहारिक क्षेत्र में कर्मवाद से अनभिज्ञ व्यक्ति यह कह बैठते हैं 'हम से यह साधना नहीं हो सकती', इसका मतलब यह है कि ऐसे व्यक्तियों के मन में यह पक्की धारणा बैठ गई है कि हम सब कर्माधीन हैं, परंतु इस मिथ्या धारणा को मस्तिष्क से निकाल देना चाहिए कि कर्म या अन्य काल आदि कोई भी एकांत सर्वेसर्वा शक्तिमान नहीं है। प्रकृति के विशाल साम्राज्य में किसी को अधिनायकत्व या एकाधिकार प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियाँ काल में निहित हैं, कुछ स्व-पुरुषार्थ में, कुछ परिस्थिति में और कुछ स्वभाव में निहित हैं, तो कुछ शक्तियाँ कर्म में भी रही हुई हैं। चैतन्य की वास्तविक शक्ति पुरुषार्थ में निहित है, जिसके जरिये वह कर्म को भी बदल सकता है। हमारी चैतन्य शक्ति का प्रतीक अथवा हमारी क्षमता का अभिव्यक्त रूप पुरुषार्थ है।

यद्यपि काल, स्वभाव, नियति और कर्म इन सभी तत्त्वों से मनुष्य बंधा हुआ है और जब तक बंधन है, तब तक वह पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है। ये सारे तत्त्व मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रतिबंधक हैं। वे उसकी परतंत्रता को बढाते हैं, तथापि यह निश्चय समझ लीजिए कि कोई भी प्राणी पूर्णरूप से परतंत्र नहीं है। अगर वह पूर्णरूप से परतंत्र होता तो उसकी चेतना का अस्तित्व या उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता। अतः काल, धर्म आदि जितने भी तत्त्व हैं, वे शक्तिमान होते हुए भी सर्व शक्ति संपन्न नहीं हैं। इन सबकी शक्ति मर्यादित है। कर्म की अपनी एक सीमा है। वह आत्मा पर प्रभाव डालता है, परंतु उसी आत्मा पर जिसमें राग-द्वेष हो, कषाय हो, राग-द्वेष, कषायरहित आत्मा पर कर्म का कोई भी प्रभाव नहीं पडता, उसका वश वहाँ नहीं चलता।

जैन दर्शन में साधना का मूलसूत्र यही बताया है कि मनुष्य साधना में पुरुषार्थ करने में स्वतंत्र है। प्रसन्नचंद्र राजर्षि कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित रहते ही मन से घोर पापकर्म बंध गये थे, किन्तु कुछ ही समय बाद उनकी चेतना जागृत हुई, उन्होंने अपने स्वरूप को संभाला और उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम धारा में बहकर पश्चाताप की अग्नि में समस्त कर्मों को भस्म कर डाला। वे समस्त कर्मबंधनों से सर्वथा मुक्त सिद्ध परमात्मा बन गये। अतः कर्म की शक्ति और उसकी सीमा को समझने से ही कर्मवाद का रहस्य हृदयंगम हो सकेगा। यद्यपि कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद इन सब में कर्मवाद व्यापक है। ईश्वर कर्तव्यवादी भी कर्मवाद को मानते हैं और आत्मकर्तृत्ववादी भी कर्मवाद को स्वीकारते हैं, फिर भी एकांत कर्मवाद को ही सब घटनाओं का कारण मान लेना मिथ्या धारणा है।

पुरुषार्थवाद की मीमांसा

पांच कारणों में अंतिम कारण पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ कर्म को काटने या बदलने के लिए वर्तमान कालीन उद्यम है- ज्ञानादि रत्नत्रय साधना में इसे पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम आदि भी कहा जाता है। पुरुषार्थ वाद का अपना दर्शन है। उनका कथन है कि, संसार में सभी पदार्थों या धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि पदार्थों की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ ही एकमात्र समर्थ है। बिना पुरुषार्थ के कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। संसार में प्रत्येक कार्य के लिए नीतिकार भी उद्यम (पुरुषार्थ) का ही समर्थन करते हैं। सोये हुए सिंह के मुहँ में मृग प्रविष्ट नहीं हो जाता।' जो व्यक्ति हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहता है, उसके घर के आंगन में लक्ष्मी आकर नहीं बसती। उद्यमी पुरुष के पास ही लक्ष्मी आती है। जो कायर और आलसी होते हैं- वे ही कहा करते हैं कि दैव (भाग्य) स्वयं देगा। अतः दैव को छोडकर अपनी शक्ति भर पुरुषार्थ करो।[६७] व्यावहारिक दृष्टि से सोचें तो भी उद्यम किये बिना कोई भी वस्तु तैयार नहीं होती।

उद्यम से बडे-बडे अभेद्य दुर्ग मनुष्य ने बनाये, अणुबम, उद्जनबम आदि भी बनाये, जिनसे सारे विश्व को कंपित किया जा सकता है। उद्यम द्वारा मानव ने जल, स्थल और आकाश पर विजय प्राप्त की तथा विविध यानों द्वारा द्रुत गमन करने लगा। बडे-बडे बाँध और सरोवर उद्यम के ही प्रतिफल हैं।

मोक्षमार्ग की साधना में पुरुषार्थ करके मानव कर्मों की जंजीरों को तोडकर मुक्त हो जाता है। भरत और बाहुबली जो एक दिन परस्पर युद्धरत थे, संघर्ष मग्न थे, अपने सम्यक् पुरुषार्थ से कर्मों को क्षय करके उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं। अर्जुनमाली जैसा क्रूर हत्यारा भी तप, संयम, क्षमा, समता आदि धर्म साधना में पुरुषार्थ करके छह महिने में समस्त कर्मों को क्षय करके सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाते हैं।[६८]

दृढ संकल्प, लगन और उत्साह के साथ पुरुषार्थ करने से कठिन कार्य भी सिद्ध होते हैं। पुरुषार्थ के बल पर ही तेनसिंह और हिलेरी ने हिमालय की २९२०२ फीट ऊँची सर्वोच्च चोटी भी सर कर ली थी। प्रबल पुरुषार्थी के लिए प्रकृति भी सहायक हो जाती है, वह भी मार्ग प्रशस्त कर देती है।

अतः पांचों कारणों में पुरुषार्थवाद ही विश्व वैचित्र्य का प्रबल कारण है। इसलिए एक महान् आचार्य ने कहा है-

'कुरु कुरु पुरुषार्थ निर्वृतानन्दहेतोः।'

मोक्ष के परम आनंद को पाने के लिए पुरुषार्थ करो।

पुरुषार्थवाद समीक्षा

प्रत्येक कार्य की सिद्धि में पुरुषार्थ भी एक कारण है, परंतु यदि काल अनुकूल न हो, उस वस्तु का वैसा बनने या करने या स्वभाव न हो, वह विश्व के अटल नैसर्गिक नियम के विरुद्ध हो तथा पुरुषार्थ करने वाले के पूर्वकृत कर्म अनुकूल न हों तो, चाहे जितना पुरुषार्थ करने पर भी वह कार्य सिद्ध नहीं हो पाता।

गौतम गणधर तप, संयम के धनी थे, प्रबल पुरुषार्थी थे, भगवान महावीर के प्रमुख अंतेवासी पट्ट शिष्य थे।[६९] कर्मों को जीतने का वे सतत पुरुषार्थ करते रहे, परंतु जब तक काल नहीं पकता तब तक उनके मन से भगवान महावीर के प्रति जो प्रशस्त राग (शुभमोह) था, वह क्षीण न हो सका। उनका पुरुषार्थ तब कृतकार्य हुआ, जब उन्होंने अपने स्वभाव से उस प्रशस्त राग को भी दूर किया। फलतः घाति कर्म भी नष्ट हुए और काल लब्धि की अनुकूलता हुई। इसलिए एकान्त पुरुषार्थवाद को मानना श्रेयस्कर नहीं है।

पांच कारणवादों का समन्वय

भगवान महावीर का यह सिद्धांत है कि ये पांचों कारण समन्वित होने पर ही कर्मवाद के पूरक एवं सहयोगी बनते हैं। ये पांचों सापेक्ष हैं और अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। काल, प्रकृति की वस्तु को व्यवस्थित रूप से परिणमन होने में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव भी उसके द्वारा कार्य होने में सहायक तत्त्व है। नियति सार्वभौम जागतिक नियम युनिवर्सल लॉ है। जो प्रत्येक कार्य के साथ समान रूप से लागू होता है। व्यक्ति ने मन-वचन-काया से जाने, अनजाने, पूर्वकाल में स्थूल-सूक्ष्मरूप में जो कुछ किया, कराया था, अनुमोदन किया हो, उस क्रिया का अंकन कर्मबंधन के रूप में होता है और फिर समय आने पर उस क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यही पुराकृत कर्म है, जो प्रत्येक अच्छी बुरी घटना के साथ होता है। वर्तमान में जो क्रिया की जाती है, जिसमें कर्मों का आस्रव या बंध तथा संवर, निर्जरा या मोक्ष होता है, वह पुरुषार्थ है। वैसे देखा जाये तो कर्म और पुरुषार्थ एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। कर्म पहले किया हुआ (अतीत का) पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उसके व्यतीत हो जाने पर वही पुरुषार्थ अतीत हो जाने से कर्म कहलाने लगता है।[७०]

विद्याध्ययन करने वाला यदि विद्वान बनना चाहता है, तो विद्यार्थी को भी इन पांचों कारणों का विचार करना आवश्यक है। अध्ययन करने में चित्त की एकाग्रतारूप स्वभाव, तत्पश्चात् पढने में समय का योगदान फिर अध्ययन करने का पुरुषार्थ ये तीनों तो आवश्यक है ही, साथ ही पढनेवाले के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय-क्षयोपशम का तथा शुभकर्म का उदय हो एवं प्रकृति के नियम की अनुकूलता (नियति) और भवितव्यता का भी ध्यान रखना चाहिए।

मोक्षप्राप्ति में पंचकारण समवाय

मोक्ष प्राप्ति जैसे कार्य के लिए भी पांचों कारणों का समवाय आवश्यक है। काल भी मोक्ष प्राप्ति में अनिवार्य है। काल के बिना संपूर्ण कर्म मोक्षरूप कार्य की सिद्धि असंभव है। यदि काल को ही कार्य कारण मान लिया जाए, तब तो अभव्य जीव भी मोक्ष प्राप्त करेंगे, परंतु उनका स्वभाव मोक्ष प्राप्त करने का नहीं है। भव्यों का ही मोक्ष प्राप्ति का स्वभाव होने से वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे। यदि काल और स्वभाव दोनों को ही मोक्षरूप कार्य के कारण मान लिया जाएँ, तो सभी भव्य एक साथ मोक्ष में चले जायेंगे, ऐसा असंभव है, किन्तु इन दोनों के साथ नियति का योग जिन्हें मिलेगा वे ही भव्य जीव समय पर मोक्ष में जाएँगें। यदि काल, स्वभाव और नियति ये तीनों ही मोक्ष प्राप्ति के कारण मान लिये जायें तो मगधराज श्रेणिक कभी के मोक्ष के अनुरूप संपूर्ण कर्मों को क्षय करने का पुरुषार्थ नहीं कर सके,

इसलिए पूर्वोक्त कारणत्रय का योग होने पर भी वे मोक्ष पा नहीं सके, इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त तीनों कारणों के साथ ही पूर्वकृत कर्मक्षय और रत्नत्रय साधना में पुरुषार्थ ये दोनों कारण होने भी अनिवार्य हैं। अतः पांचों कारणों का सापेक्ष समन्वय ही कार्य सिद्धि के लिए आवश्यक है।

सर्वत्र पंचकारण समवाय से कार्य सिद्धि

संसार में देखा जाता है, पांचों कारण मिलने पर यांनी पांचों कारणों के समन्वय से कार्य होता है। पांचों में से एक भी कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं हो सकता। पांचों अंगुलियाँ इकट्ठी होती हैं तभी हाथ बनता है। हथेली के लिए पांचों अगुंलियाँ एक दूसरे से संलग्न होती हैं। इनमें छोटी बडी अंगुली अवश्य होती है, मगर पांचों के मिलने पर ही पहोचा होता है।

कर्मशब्द के विभिन्न अर्थ और रूप

कर्म का सार्वभौम साम्राज्य

भारतीय जन जीवन में 'कर्म' शब्द बालक, युवक और वृद्ध सभी की जबान पर चढा है। विश्व के समस्त श्रेणी के विचारक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, तत्त्वचिंतक, साहित्यकार, श्रमजीवी एवं राजनैतिक, एक या दूसरे प्रकार से कर्म से संबंधित एवं प्रभावित हैं।

जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्मों का सार्वभौम साम्राज्य है। कर्म और उससे मिलने वाले फल पर विश्वास रखकर इन सभी क्षेत्रों के मानव कार्य करते हैं और धैर्यपूर्वक उसके परिणाम (फल) की प्रतीक्षा करते हैं। कृषक, विद्यार्थी, व्यवसायी आदि जो भी कर्म करते हैं, क्या उसका फल उन्हें तुरंत मिल जाता है? फिर भी वे श्रद्धा और निष्ठापूर्वक सत्कर्म करते हैं और उसका फल भी पाते हैं।

'कर्म' शब्द सभी आस्तिक धर्मग्रंथों, दर्शन, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों, लौकिक एवं लोकोत्तर शास्त्रों तथा जगत् के प्रत्येक व्यवहार, प्रवृत्ति अथवा कार्य में प्रयुक्त होता है। विभिन्न व्यवहारों में 'कर्म' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। समस्त शारीरिक मानसिक और वाचिक क्रियाओं को कर्म कहा जाता है। इसे कार्य, काम, व्यवहार या प्रवृत्ति भी कहते हैं। किसी भी स्पंदन, हलचल या क्रिया के लिए 'कर्म' शब्द का उपयोग किया जाता है, फिर वह क्रिया जड़ शक्ति की हो या चैतन्य शक्ति की, अर्थात् सभी काम, धंधा या व्यवसायों को भी 'कर्म' कहते हैं। भगवान ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि के अंतर्गत विविध कर्म यौगलिकों को सिखाये थे।[७१] विशेषावश्यक भाष्य,[७२] कर्म नो सिद्धांत,[७३] कर्म मीमांसा,[७४] उपासकदशांगसूत्र,[७५] पंचाशकविवरण[७६] आचारांग

चूलिका,[७७] अभिधान राजेंद्र कोष[७८] और भगवतीसूत्र[७९] में भी यही बात दर्शाई गई है।

वैशेषिक दर्शनों ने चलनात्मक अर्थ में होने वाली क्रिया को कर्म कहा है। कर्म के पांच भेद बतलाये हैं- उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन आदि।[८०] न्याय सिद्धांत मुक्तावली में भी यही बात कही है।[८१]

वैयाकरणों ने कर्म-कारक के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है और कर्म की परिभाषा की है- कर्ता के लिए जो अत्यंत इष्ट हो, अर्थात् कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है, वह कर्म है।[८२]

वैदिक परंपरा में वेदों से लेकर ब्राह्मण (ग्रंथ) काल तक यज्ञ-याग आदि नित्य-नैमत्तिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है। अर्थात् वैदिक काल में प्रसिद्ध अश्वमेघ, गोमेघ, स्वर्गकाम आदि वेदविहित यज्ञों के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, तथा उनके संपादन के लिए जो भी विधि विधान निश्चित किये गये हैं, वे सब 'कर्म' माने गये हैं। वैदिक युग में यह माना जाता था कि- इन यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान देवों को प्रसन्न करने के लिए करना चाहिए ताकि देव प्रसन्न होकर उसके कर्ता की मनोकामना पूर्ण कर सकें।[८३] ज्ञानका अमृत[८४] में भी यह कहा है।

स्मार्त विद्वानों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चार आश्रमों के लिए नियत या विहित कर्तव्यों एवं मर्यादाओं के पालन करने को 'कर्म' कहा है।

पौराणिक के मत में व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाएँ 'कर्म' कहलाती हैं।[८५] भगवद्गीता में कर्मवाद केवल मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-याग आदि क्रियाकाण्डों के अर्थ में अथवा वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार किये जाने वाले स्मार्त कार्यों के ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु, फलाकांक्षा रहित होकर अनासक्त भाव से या समर्पण भाव से कृतकर्म तथा सहजकर्म, ज्ञान युक्तकर्म कर्म कौशल आदि सभी प्रकार के क्रिया व्यापारों के व्यापक अर्थ में 'कर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[८६] भगवद्गीता[८७] में भी यही कहा है। बौद्ध दार्शनिकों ने भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है। तथापि वहाँ केवल चेतना को इन क्रियाओं में प्रमुखता दी गई है। चेतना को कर्म कहते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है- 'भिक्षुओं! चेतना ही कर्म है, ऐसा मैं कहता हूँ। चेतना के द्वारा ही (जीव) कर्म को वाणी से, काया से या मन से करता है। इसका आशय यह है कि चेतना के होने पर ही ये सभी कर्म (क्रियाएँ) संभव हैं।[८८]

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से इसका स्पष्टीकरण करते हुए डॉ. सागरमलजी जैन ने लिखा है,

उसमें सभी कर्मों का सापेक्ष महत्त्व स्वीकार किया है। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से तीनों प्रकार के कर्मों का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि से काय कर्म की प्रधानता है। स्वभाव की दृष्टि से वाक् कर्म ही प्रधान है। समुत्थान की दृष्टि से विचार करे तो मनःकर्म का ही प्राधान्य है। क्योंकि, सभी कर्मों का आरंभ मन से है।

बौद्ध दर्शन में समुत्थान कारण को प्रमुखता देकर ही कहा है, कि चेतना ही कर्म है। साथ ही इसी आधार पर कर्मों का एक द्विविध वर्गीकरण भी किया है- चेतना कर्म और चैतयित्वा कर्म। चेतना मानस कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के शेष दोनों वाचिक और कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गये हैं।[८९] बौद्ध-दर्शन में भी यही कहा है।[९०] 'कर्म' शब्द का अर्थ क्रिया, क्रिया का उद्देश, उसको करने की इच्छा और उसका प्रभाव एवं विपाक इन समस्त तथ्यों का समावेश हो जाता है।

जैनदृष्टि से कर्म के अर्थ में क्रिया और हेतुओं का समावेश

जैन दर्शन में सामान्य रूप से कर्म का अर्थ क्रिया परक ही किया गया है, किन्तु यह उसकी एक आंशिक व्याख्या है। कर्मग्रंथ में कर्म की स्पष्ट परिभाषा इस प्रकार की गई है- 'जीव (आत्मा) के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग आदि हेतुओं (कारणों) से जो किया जाता है वही कर्म कहलाता है।'[९१] जैन दर्शन के अनुसार कर्म के हेतु और क्रिया ये दोनों तत्त्व सन्निहित हैं।

यदि व्यापक दृष्टि (निश्चय और व्यवहार, उभयदृष्टि) से देखा जाए तो कर्म शब्द समग्र कार्यों के अर्थ में घटित हो जाता है, फिर वह कार्य द्रव्यात्मक हो या भावात्मक, परिस्पंदन रूप हो या परिणमन, क्रियारूप हो या पर्यायरूप, क्योंकि कार्य उसे ही कहा जाता है- जो किसी एक समय विशेष में प्रारंभ होकर किसी दूसरे समय विशेष में समाप्त हो जाए। इसी दृष्टि से कर्म या कार्य नित्य न होकर उत्पन्न, ध्वंसी होते हैं। यही पर्याय का लक्षण है।[९२]

जैन दर्शन के अनुसार कर्म शब्द केवल क्रिया, कार्य या संस्कार के अर्थ में ही परिसीमित नहीं है, अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आत्मा से संबंद्ध ऐसा अर्थ लिया गया है। जिसमें जीव के द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया और उसके फल तक सारे अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि जीव का स्पंदन तीन प्रकार का होता है- कायिक, वाचिक और मानसिक। प्रत्येक जीव शरीर से कुछ न कुछ क्रिया करता है। जिन जीवों को रसेन्द्रिय है वे वचन से कुछ न कुछ बोलते हैं तथा असंज्ञी जीवों को छोडकर शेष संज्ञी जीव मन से कुछ न कुछ सोचते विचारते हैं। ये तीन क्रियाएँ प्रत्येक के अनुभव गोचर होती हैं। ये क्रियाएँ बाह्य हैं। इनके सिवाय आभ्यंतर क्रियाएँ भी हैं, जो विशेष स्पंदन रूप होती हैं, इन्हें योग कहते हैं। जैसे कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है- 'काय, वचन और मन का व्यापार योग

हैं।'[९३] योग एक विशिष्ट प्रकार की स्पंदन क्रिया है, जो काय, वचन और मन के निमित्त से होती है। इसी को षट्खण्डागम में त्रिविध प्रयोग कर्म कहा गया है।

वह तीन प्रकार का है- मन:प्रयोग-कर्म, वचनप्रयोग-कर्म और कायप्रयोग-कर्म। वह संसार अवस्था में स्थित जीवों के और सयोगी केवलियों को होता है।[९४] इन तीनों योगों या प्रयोगों में काय, वचन और मन का आलंबन है और जीव की स्पंदन क्रिया को काययोग, वचन के निमित्त से उसकी स्पंदन क्रिया को वचन योग और मन के निमित्त से होने वाली उसकी स्पंदन क्रिया को मनोयोग कहते हैं।

जीव की कर्मरूपी यह स्पंदन क्रिया यहीं समाप्त नहीं हो जाती, अपितु जिन-जिन भावों से यह स्पंदन क्रिया होती है, उसके संस्कार अपने पीछे छोड जाती है। इसी को कर्म मीमांसा[९५] और कर्मवाद[९६] में भी व्यक्त किया गया है। 'ये कर्मजन्य संस्कार चिरकाल तक स्थायी रहते हैं, किन्तु यह प्रकृतिजन्य संस्कारों का आधार जीव को नहीं माना जाता है, क्योंकि जीव का संस्कार पुद्गल के आलंबन से होता है। अत: जिन भावों से स्पंदन क्रिया होती है, उनके संस्कार क्षण-क्षण में जीव द्वारा गृहीत पुद्गलों में ही संचित होते रहते हैं'।

पुद्गल का योग और कषाय के कारण कर्मरूप में परिणमन

इस तथ्य का समर्थन तत्त्वार्थराजवार्तिक में किया गया है। जिस प्रकार पात्र में डाले अनेक रस वाले बीज पुष्प और फलों का मधरूप में परिणमन हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का भी योग और कषाय के कारण कर्मरूप से परिणमन हो जाता है।[९७] कार्मण वर्गणा नामक पुद्गल ही इस काम में आते हैं। ये अति सूक्ष्म और समस्त लोक में व्याप्त हैं। जीव (मन, वचन, काय) की स्पंदन क्रिया इन्हें प्रति समय ग्रहण करता है और अपने भावों के अनुसार इन्हें संस्कार रूप में संचित करके, कर्मरूप में परिणत कर लेते हैं। जीव की स्पंदन क्रिया और भाव उसी समय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु संस्कार युक्त कार्मण पुद्गल का जीव के साथ चिरकाल तक संबंध रहता है। ये यथासमय, यथायोग्य रूप से अपना काम करके ही निवृत्त होते हैं। ये कालांतर में फल देने में सहायता करते हैं।[९८]

आशय यह है कि संसारी जीवों में रागादि परिणाम और स्पंदन क्रिया होती है, इसलिए ये दोनों तो उसके ही कर्म हैं, किन्तु इनके निमित्त से कार्मण नामक पुद्गल-कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इन्हें भी कर्म कहते हैं। ये त्रिविध द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

पंचाध्यायी में बताया गया है कि जीव तथा पुद्गल में भाववती तथा क्रियावती शक्ति पाई जाती है। प्रदेशों के संचलन रूप परिस्पंदन को क्रिया कहते हैं और एक वस्तु में ही जो धारावाही परिणमन होता है, वह भाव है। जीव में वैभाविक शक्ति का सद्भाव है, इसलिए रागादि भावों एवं वैभाविक शक्ति विशिष्ट के कारण जीव कार्मण वर्गणा को अपनी ओर

आकर्षित करता है। इस कारण जीव का कर्मों के साथ संबंध (संश्लेष) होता है। इससे कार्मण पुद्गल भी कर्मभाव को प्राप्त होने से वे भी कर्म कहलाते हैं।[९९]

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार 'कर्म पुद्गल से तात्पर्य उन जड़ परमाणुओं (शरीर रासायनिक तत्त्वों) से है, जो प्राणी की किसी क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे अपना संबंध स्थापित करके कर्म शरीर की रचना करते हैं। और समय विशेष पकने पर अपने फल (विपाक) के रूप विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न कर, अलग हो जाते हैं। इन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं।[१००]

'कर्म' शब्द का सामान्य अर्थ क्रिया है, जब उसके व्यंजनार्थ को ग्रहण किया जाता है, तब जीव के द्वारा होने वाली क्रिया से आत्म शक्तियों को आवृत करने वाले कार्मण वर्गणा के तथा अन्य पौद्गलिक परमाणुओं के संयोग को आत्मा में समुत्पन्न विषय कषायों के परिणमन को भी कर्म कहा जाता है।

विभिन्न परंपरा में कर्म के समानार्थक शब्द

जैन दार्शनिकों ने जिसे कर्म कहा है, उसके पर्यायवाची विभिन्न शब्दों का प्रयोग आगमों और ग्रंथों में यत्र तत्र मिलते है। आदि पुराण में 'कर्म' शब्द केवल क्रिया रूप में ही परिलक्षित नहीं होता, अपितु कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्दों के रूप में विभिन्न अर्थों को अभिव्यक्त करता है- 'विधि (कानून या प्रकृति के अटल नियम), स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत और ईश्वर ये कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं।[१०१] अन्य दर्शनों में भी कर्मशब्द के समानार्थक माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, अविज्ञप्ति, आशय, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, दैव, धर्मा-धर्म आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं।

आशय यह है कि सभी आस्तिक धर्मों और दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है, जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों को तथा आत्मा की शुद्धता को प्रभावित करती है। उसके नाम, कर्म के बदले उन-उन दर्शनों और धर्मों ने भले ही शब्द भिन्न-भिन्न दिये हों। जैसे कि - बौद्ध दर्शन में उसे वासना और विज्ञप्ति कहा गया है।[१०२] वेदांत दर्शन में उसी को माया और अविद्या कहा है।[१०३] सांख्य दर्शन में उसको प्रकृति या संस्कार कहा गया है।[१०४] सांख्यकारिका[१०५] और सांख्यतत्त्व कौमुदी[१०६] में भी यही बात आयी है। योगदर्शन में उसके लिए क्लेश, कर्म, आशय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[१०७] न्यायदर्शन में प्रयुक्त अदृष्ट और संस्कार शब्द भी इसी अर्थ में द्योतक हैं।[१०८] न्यायसूत्र[१०९] और न्यायमंजरी[११०] में भी यही बात बताई गई है। वैशेषिक दर्शन में 'धर्माधर्म' शब्द भी है जैन दर्शन में प्रयुक्त कर्म शब्द का समानार्थक है।[१११] मीमांसा में अपूर्व शब्द भी कर्म के अर्थ में प्रयुक्त है।[११२] तंत्रवार्तिक[११३] और शास्त्र-दीपिका[११४] में भी यही बात बताई है। दैव,

भाग्य, पुण्य, पाप आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग सामान्यतया सभी दर्शनों में हुआ है।[११५] जैनागमों में 'कर्म' के बदले कहीं कर्मरज, कर्ममल आदि शब्द भी मिलते हैं।

आचारांगसूत्र[११६] और दशवैकालिकसूत्र[११७] ईसा[११८] मोहम्मद[११९] ने कर्म शब्द के अर्थ में शैतान शब्द का प्रयोग किया है। कर्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य तीनों प्रकार के विग्रह से निष्पन्न होता है। राजवार्तिक में बताया गया है कि जिनके द्वारा किये जाएँ वह कर्म हैं। साध्य साधन भाव की विवक्षा न होने पर स्वरूप मात्र का कथन करने से कृत्ति (क्रिया) को भी कर्म कहते हैं। जैनदृष्टि से कर्म सामान्य के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी हो सकते हैं।[१२०]

कर्म के दो रूप : भावकर्म और द्रव्यकर्म

जैन दर्शन सम्मत कर्म के स्वरूप को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए कर्म के द्रव्यात्मक एवं भावात्मक दोनों पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। आत्मा के मानसिक विचारों के प्रेरक या निमित्त ये दोनों ही तत्त्व 'कर्म' में ताने बाने की तरह मिले हुए हैं। कर्म विज्ञान की समुचित व्याख्या के लिए कर्म के आकार (Form) और उसकी विषयवस्तु (Matter) दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है। आत्मा के मनोभाव उसके आकार हैं और जड़ परमाणु उसकी विषयवस्तु है।[१२१]

'गोम्मटसार' में कर्म के चेतन और अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए कहा है- भावरूप कर्म तत्त्व की दृष्टि से एक ही प्रकार का है किन्तु वही कर्म द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणीयादि पुद्गल द्रव्य का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति अथवा उस पिण्ड में फल देने की शक्ति भावकर्म है।[१२२]

जैन दर्शन में कर्म का निर्माण जड़ और चेतन दोनों के सम्मिश्रण से ही होता है। जड़ और चेतन दोनों के सम्मिश्रण के बिना कर्म की रचना ही नहीं हो सकती। द्रव्यकर्म हो या भावकर्म दोनों में जड़ और चेतन दोनों प्रकार के तत्त्व मिलते हैं। यद्यपि द्रव्यकर्म में पुद्गल की मुख्यता और आत्मिक तत्त्व की गौणता होती है, जबकि भावकर्म में आत्मिक तत्त्व की मुख्यता और पौद्गलिक तत्त्व की गौणता होती है। भावकर्म और द्रव्यकर्म में आत्मा और पुद्गल की प्रधानता, अप्रधानता होते हुए भी दोनों में एक दूसरे का सद्भाव-असद्भाव नहीं होता। आशय यह है कि आत्मा, आत्मा रहती है और पुद्गल-पुद्गल रहता है।

समयसार (तात्पर्यवृत्ति) में कहा है कि, सुनार आभूषणादि के निर्माण का कार्य करता है, किन्तु वह स्वयं आभूषण स्वरूप नहीं हो जाता। उसी प्रकार आत्मा द्रव्यकर्म और भावकर्म का बंध करती हुई भी कर्म स्वरूप नहीं होती। आत्मा से संबंध पुद्गल को द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से युक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म कहा जाता है। पंडित सुखलालजी ने द्रव्यकर्म

और भावकर्म का आत्मा से संबंध बताते हुए कहा है, 'भावकर्म' आत्मा का वैभाविक परिणाम है। अतः उसका कर्ता जीव है और द्रव्यकर्म कार्मण जाति के पुद्गलों का विकार है, उसका भी कर्ता निमित्त रूप से जीव ही है।[१२३]

संसारी आत्मा का चेतन अंश जीव कहलाता है। और जड़ अंश कर्म किन्तु वे चेतन जड़ अंश इस प्रकार के नहीं हैं, जिनका संसार अवस्था में अलग-अलग रूप में अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्त अवस्था में ही होता है। संसारी आत्मा सदैव कर्म से युक्त होती है। जब वह कर्म से मुक्त हो जाती है तब वह संसारी आत्मा नहीं, मुक्तात्मा कहलाती है। कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाते हैं तब वह कर्म नहीं, शुद्ध पुद्गल कहलाते हैं।[१२४] तत्त्वार्थसार में भी कहा गया है कि, जीव के रागद्वेषादि विकार भावकर्म कहलाते हैं। और रागद्वेषादि भावकर्मों के निमित्त से आत्मा के साथ बंधनेवाले अचेतन (कार्मण) पुद्गल परमाणु द्रव्यकर्म कहलाते हैं।[१२५]

पं. ज्ञानमुनिजी के अनुसार जीव के मानस में जो विचारधारा चलती है, संकल्प विकल्प होते हैं, कषाय के भाव उत्पन्न होते हैं, किसी को लाभ-हानि पहुँचाने का मानसिक विकार 'भावकर्म' में परिगणित है, उन मानसिक विकारों के आधार पर जीव के जो पार्श्ववर्ती पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ जुडते हैं और आत्म प्रदेशों से संबंध स्थापित करते हैं उन्हें 'द्रव्यकर्म' के अंतर्गत माना जाता है।[१२६]

जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में- 'कर्म के दो प्रकार हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म। जैनशास्त्रों में बताया गया है कि पुद्गल की पर्याय क्रियाप्रधान है और जीव की भाव प्रधान। दोनों क्रमशः योग और उपयोग से संबद्ध होने के कारण दोनों कर्मों का संबंध जीव के साथ है।[१२७]

कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परंपरा अनादिकाल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति में कार्य कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए कार्मण जाति के पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म और तज्जनित राग-द्वेषादि परिणामों से हुई प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है।[१२८]

द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्रक्रिया

संसारी जीव की प्रत्येक मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति या क्रिया तो कर्म है ही, परंतु वह बंधकारक तभी बनता है, जब जीव के परिणाम राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि से युक्त हों। वही राग-द्वेषात्मक परिणाम भावकर्म कहलाता है।[१२९]

जैन दर्शन का मन्तव्य है कि, इस समग्र लोक में डिबिया में भरे हुए काजल की तरह-

सूक्ष्म और बादर कर्म-पुद्गल परमाणु ठसाठस भरे हुए हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कर्म पुद्गल परमाणु न हों। लेकिन ये समस्त कर्म पुद्गल परमाणु कर्म नहीं कहलाते। इनकी विशेषता यही है कि, इनमें कर्म बनने की योग्यता है किन्तु पहले मानस में किसी भी तरह का कम्पन्न स्पंदन होता है, अर्थात् मन में प्रशस्त अप्रशस्त पुण्यरूप, पापरूप संकल्प विकल्प पैदा होता है। कर्मयोग्य पुद्गल सर्व लोकव्यापी होने से, जहाँ आत्मा है वहाँ पहले से विद्यमान रहते हैं। जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में रहते हुए कर्मयोग्य पुद्गल कर्मयुक्त जीव के रागद्वेषादि रूप परिणामों के कारण आत्म प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार आत्म प्रदेशों से संबंध, ये कर्म परमाणु जैनदृष्टि से द्रव्यकर्म कहलाते हैं।[१३०] पंचास्तिकाय[१३१] का और जैनदर्शन और आत्मविचार[१३२] में भी यही बात है। किसी भी कार्य के लिए निमित्त और उपादान दोनों ही कारण अनिवार्य हैं। कार्य सदैव कारण सापेक्ष होता है। उपादान और निमित्त दोनों ही प्रकार के कारण प्रत्येक कार्य में होते हैं।

निमित्त नैमित्तिक श्रृंखला

मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएँ स्वत: आकर्षित हो जाती हैं और आत्म प्रदेशों में प्रवेश करके द्रव्यकर्म के रूप में परिणत हो जाती है। तत्पश्चात् आत्मा के रागद्वेष मोहात्मक भाव कर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म जीव के साथ बंधे रहते हैं। स्थितिपूर्ण होने पर द्रव्यकर्म उदय में आते हैं याने फलोन्मुख होते हैं। जीव में योग और उपयोग उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की यह निमित्त-नैमित्तिक श्रृंखला प्रवाह रूप से अनादिकाल से चली आ रही है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है, उसमें किसी को भी पहले या पीछे नहीं कहा जा सकता।[१३३] ठीक इसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म में भी किसी के पहले या पश्चात् होने का निर्णय नहीं किया जा सकता। इनमें संतति की अपेक्षा से पारस्परिक अनादि कार्य कारण भाव है।[१३४] गणधरवाद में भी यही बात बताई गई है।[१३५] समणसुत्तं में भी यही बात है।[१३६]

भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कारण क्यों मानें

यदि यह शंका की जाए कि भावकर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है, यह तो ठीक है; क्योंकि जीव अपने रागद्वेष मोहात्मक परिणामों के कारण ही द्रव्यकर्म के बंधन में बद्ध होता है, और जन्म मरणादि रूप संसार में परिभ्रमण करता है। इसका समाधान यह है कि यदि द्रव्यकर्म के अभाव में भी भावकर्म की उत्पत्ति संभव मानी जायेगी तो मुक्त जीवों में भी भावकर्म प्रादुर्भूत होने लगेगा, और उन्हें भी भावकर्मवश संसार में पुन: जन्म मरणादि चक्र

में पडना पडेगा। फिर तो संसार और मोक्ष में कोई अंतर नहीं रहेगा। संसारी जीवों की तरह मुक्त जीवों में भी कर्म बंधन योग्यता माननी पडेगी। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति कर्म मुक्त होने की साधना में पुरुषार्थ क्यों करेगा? फिर तो कोई भी व्यक्ति अपने पूर्वकृत कर्मों का क्षय करने तथा नये आने वाले कर्मों का निरोध (संवर) करने के लिए उत्साहित नहीं होगा। अतः जैन दर्शन में कर्म सिद्धांत है कि मुक्त जीवों में द्रव्यकर्म का अभाव होने से भावकर्म भी नहीं होता। संसारी जीवों में पूर्वकृत द्रव्यकर्म के होने से भावकर्म की उत्पत्ति होती है। इसी कारण कर्मबद्ध आत्मा के लिए संसार अनादि है।[१३७] आत्म मीमांसा में भी यही बात बताई है।[१३८]

भावकर्म की उत्पत्ति कैसे?

संसारी आत्मा की प्रवृत्ति या क्रिया को भावकर्म कहा गया है परंतु जैन कर्म मर्मज्ञों ने राग और द्वेष इन दोनों को मूल में ही भावकर्म का बीज कहा है। साथ ही भावकर्म की उत्पत्ति मोहनीय कर्म से मानी जाती है। अतः जैसे रागद्वेष के साथ (भाव) कर्म का कार्य कारण भाव माना जाता है, वैसे ही तृष्णा और मोह का भी परस्पर कार्य कारण भाव बताया गया है। जैसे तृष्णा से मोह और मोह से तृष्णा पैदा होती है, वैसे ही रागद्वेष से कर्म और कर्म से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं।

आत्मा के क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों रूपी आभ्यंतर परिणामों को भी भावकर्म कहा गया है। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय ये चारों मोहनीय कर्म के ही अंतर्गत हैं, तथा आत्मा के वैभाविक आंतरिक परिणाम हैं, इसलिए ये भी भावकर्म हैं।[१३९] ज्ञान का अमृत[१४०] में भी यही बात बताई है।

योग और कषाय आत्मा की प्रवृत्ति के दो रूप

संसारी आत्मा सदैव सशरीरी होती है, इसलिए उसकी प्रवृत्ति मन, वचन, काया के अवलंबन बिना नहीं हो सकती। मन, वचन, काया से होने वाली प्रवृत्ति को जैन परिभाषा में योग कहा जाता है। संसारी जीवों के कषायरूप या रागद्वेषादि रूप आंतरिक परिणामों का प्रादुर्भाव भी योगों (मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों) से होता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो सांसारिक आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जब राग, द्वेष, मोह या कषाय से रंजित होती है, वह भावकर्म कहलाती है और इनसे द्रव्यकर्म को ग्रहण करके जीव बंधन से बद्ध होती है। इस दृष्टि से आत्मा की प्रवृत्ति एक होते हुए भी अपेक्षा से उसके पृथक्-पृथक् दो नाम योगरूप और कषायरूप रखे गये हैं।[१४१] समणसुत्त में भी यही बात बताई गई है।[१४२] कर्मग्रंथ में यही कहा है।[१४३]

जितनी कषाय तीव्र मंद उतना ही कर्म का बंध तीव्र मंद

जैन कर्म विज्ञान मर्मज्ञों का कथन है कि जिस प्रकार रंग रहित कपडा एक रूप ही होता है, उसी प्रकार कषाय युक्त मन, वचन, काया के योग से एक रूप होते हैं। जिस प्रकार रंगे हुए कपडे का रंग कभी हल्का और कभी गहरा होता है, इसी प्रकार योग (व्यवहार) के साथ कषाय का रंग भी कभी तीव्र होता है, कभी मंद। कषाय के रंग की तीव्रता-मंदता के अनुसार ही योग प्रवृत्ति तीव्र-मंद होगी। इसका फलितार्थ यह है कि भावकर्म की जितनी-जितनी तीव्रता मंदता होगी, द्रव्यकर्म का बंध भी उतना-उतना तीव्र मंद होगा। स्पष्ट शब्दों में कहें तो आत्मा के रागद्वेष आदि भाव (भावकर्म) जितने तीव्र होंगे, पुद्गल कर्म द्रव्यकर्म भी आत्मा के साथ उतने ही तीव्र रूप में बंधेंगे। इसके विपरीत यदि आत्मा में रागद्वेष आदि भावकर्म मंदरूप में होगें तो द्रव्यकर्म भी आत्मा के साथ उतने ही मंदरूप में शिथिल बंधेंगे।[१४४] कर्मवाद में भी यही बात कही है।[१४५]

सूक्ष्म कर्मरज समग्र लोक में व्याप्त है। द्रव्यकर्म और भावकर्म एक ही आत्मा रूपी सिक्के के दो पहलु हैं। जैन कर्मवेत्ताओं ने द्रव्यकर्म की अपेक्षा भावकर्म को अधिक गंभीर मानकर इससे बचने का एवं शुभ ध्यान, अनुप्रेक्षा, समभाव, क्षमा, तितिक्षा आदि द्वारा भावों को शुद्ध बनाकर कर्मों की तीव्रता को कम करने का निर्देश दिया है।

आचार्य विद्यानंदी ने 'अष्टसहस्त्री' में द्रव्यकर्म को 'आवरण' और भावकर्म को 'दोष' के रूप में प्रतिपादित किया है। द्रव्य कर्म को 'आवरण' इसलिए कहा गया है कि वह आत्म शक्तियों के प्रकटीकरण को रोकता है।

इसी प्रकार भावकर्म आत्मा की विभावदशा है। इसलिए वह अपने आप में दोष है। जैन दर्शन में कर्म के आवरण और दोष ये दो कार्य बताये गये हैं।[१४६]

कर्म और आत्मा के प्रदेश का अन्योन्या प्रवेश या एक दूसरे में अनुस्यूत होना या एक क्षेत्रावगाही होना द्रव्यबंध है।[१४७] आप्तपरीक्षा[१४८] में भी यही बात बताई है। बेडियों का (बाह्य) बंधन द्रव्यबंध है और राग आदि विभावों का बंधन भावबंध है।[१४९]

निष्कर्ष यह है कि कर्म के द्रव्यात्मक और भावात्मक दोनों पक्षों को स्वीकार करने पर ही कर्म की सर्वांगीण व्याख्या हो सकती है।

कर्म संस्कार रूप भी पुद्गल रूप भी

कर्म सांसारिक प्राणियों के जीवन में बँधा हुआ एक नियम है। यह प्रत्येक क्रिया के साथ सन्निहित होने वाला सिद्धांत है। जिन प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञ आप्त पुरुषों ने कर्म की खोज और अनुभूति की उन्होंने कर्म के नियम को खोजा और उनका अनुभव भी किया। जैसे

वैज्ञानिक प्रकृति के नियम की खोज करता है, वैसे ही कर्म विज्ञान के ज्ञाता द्रष्टा महापुरुषों ने बुद्धि के स्तर पर नहीं, अनुभूति के स्तर पर कर्म के नियम का शोध किया वह नियम है। कार्य कारण का या क्रिया प्रतिक्रिया का नियम। अर्थात् कोई भी कार्य, कारण के बिना नहीं होता। आत्मा का बंधन भी बिना कारण नहीं होता।

भगवान महावीर ने कहा- 'जो नियम है, धर्म है, वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, जिनोपदिष्ट है।' वह नियम इस प्रकार है- जहाँ स्वाभाविक क्रिया नहीं है, वैभाविक क्रिया है, वहाँ आत्मा कर्म से बद्ध होती है।[१५०]

आत्मा की वैभाविक क्रियाएँ कर्म हैं

मैं जानता देखता हूँ, यह आत्मा का अपना स्वभाव है, किन्तु 'मैं कहता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ ' इत्यादि क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक नहीं हैं। सांयोगिक हैं, वैभाविक हैं। आत्मा और शरीर का यह संयोग प्राण शक्ति को उत्पन्न करने का निमित्त बनता है। प्राण शक्ति अर्थात् शरीरस्थ तैजस शक्ति-ऊर्जा शक्ति। उसी ऊर्जा शक्ति के संचालन से सभी क्रियाएँ होती हैं, जो आत्मा की न होने से अस्वाभाविक हैं, वैभाविक हैं। जहाँ आत्मा जानने देखने की अपनी स्वाभाविक क्रिया से हटकर मन, वचन या काया से संयुक्त होकर कोई भी क्रिया करती है, वहाँ आत्मा के लिए बंधन होता है। वही बंधन मन, वचन और कायारूप कर्म बनते हैं।

प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या कार्य संयोगवश होने के कारण आत्मा के लिए कर्म बंध का कारण है और इसे समझने के लिए क्रिया प्रतिक्रिया के नियम को समझना आवश्यक है। क्रिया प्रतिक्रिया का नियम भी कर्म का नियम है।

प्राणी जो कुछ भी क्रिया या प्रवृत्ति करता है, उसकी प्रतिक्रिया होती है। प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, परंतु उसकी प्रतिक्रिया समाप्त नहीं होती। घंटे पर एक बार किसी ने डंडा मारकर ध्वनि की, वह ध्वनि समाप्त हो गई; परंतु उसकी प्रतिध्वनि समाप्त नहीं हुई, प्रतिध्वनि रह गई। क्रिया छोटी है, प्रतिक्रिया बडी, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अथवा प्रवृत्ति की प्रतिप्रवृत्ति पुनः पुनः आवर्तन होती रहती है।[१५१]

प्रमाद ही संस्कार रूप कर्म (आस्रव) का कारण

भगवान महावीर ने कहा '(प्रवृत्ति में) प्रमाद को कर्म (कर्म का हेतु = आस्रव) और अप्रमाद को अकर्म (संवर) कहा है।' एक समय की या एक बार की भूल (प्रमाद)[१५२] हजार बार आवृत्ति हो सकती है। मनुष्य प्रमादवश प्रवृत्ति करता है, वह चित्तवृत्ति या संस्कार

कर्म है। इस प्रकार कर्म को विभिन्न आस्तिक दर्शनों ने चित्त संस्कार के रूप में माना है। उनका कहना है कि, प्रत्येक शुभ या अशुभ प्रवृत्ति अपना संस्कार छोड जाती है।[१५३]

समस्त सांसारिक जीव, मन, वचन, काया के द्वारा सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय कुछ न कुछ प्रवृत्ति करते रहते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण कर्मों का आस्त्रव और आगे चलकर बंध होता है। इस आस्त्रव को ही कर्म प्रवृत्ति के संस्कारों का संग्रह कहा जा सकता है।[१५४]

कर्म प्रवृत्ति के संस्कारों को संचित करने के लिए प्रकृति की ओर से यदि कोई साधन न जुटाया जाए तो प्राणी के द्वारा कृत कार्य का क्षण बीतने के साथ ही कर्म भी सर्वथा समाप्त हो जाते और उस प्राणी को किसी प्रकार से बंधन में पडने का भय भी नहीं रहता। कदाचित् ऐसा संभव हो जाता तो जगत् का प्रत्येक प्राणी निर्भय और स्वच्छंद होकर मनमानी प्रवृत्ति करता। न्याय-नीति या मर्यादा नाम की कोई भी वस्तु शेष न रहती। एक शक्तिशाली व्यक्ति सारे जगत् को निगलने के लिए तैयार हो जाता। इसलिए प्रकृति का अनुग्रह मानना चाहिए। उसने इच्छापूर्वक कृतकर्मों के समस्त संस्कारों को संचित करने के लिए प्रत्येक प्राणी के न चाहते हुए भी उसके साथ 'कार्मण शरीर' नामक एक ऐसा साधन प्रदान किया है, जिसके द्वारा उस प्राणी के द्वारा किये गये अच्छे या बुरे समस्त कर्मों के संस्कार बिना किसी प्रयत्न के स्वत: उस पर अंकित होते रहते हैं।[१५५]

स्थूल औदारिक शरीर रहे या न रहे, कार्मण शरीर तो मरते जीते परलोक जाते तथा विविध गतियों और योनियों में रहते हुए हर समय प्राणी के साथ रहता है और उसकी समग्र कार्यवाही का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण करता रहता है। यह जड़ (पुद्गल) होते हुए भी चेतनवत् है।

कार्मण शरीर : कार्य भी है कारण भी है

चेतना की तमाम प्रवृत्तियों के प्रति यह कार्य भी है और कारण भी है। यह (कार्मण शरीर) कर्म के संस्कारों को ग्रहण कर के स्थित रहता है। इस कारण यह उसका कार्य भी है और यथा समय फलोन्मुख होकर जीव को पुन: उसी प्रकार के कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। चाहते या न चाहते हुए भी प्राणी को उसकी प्रेरणा से कर्म करना पडता है। इस कारण यह उसकी समस्त प्रवृत्तियों का कारण भी है।

यद्यपि चेतन प्रवृत्ति को कर्म कहा जाता है, तथापि उसका कार्य तथा कारण होने से कार्मण शरीर को भी उपचार से 'कर्म' कहा जाता है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने समस्त शरीरों की उत्पत्ति के मूल कारण होने से कार्मण शरीर को द्रव्यकर्म कहा है।[१५६]

विशेषता इतनी है कि चेतना प्रवृत्ति की भाँति यह सीधा भावात्मक न होकर परमाणुओं से निमित्त होने के कारण द्रव्यात्मक है। इसलिए द्रव्यकर्म नाम सार्थक है।

श्री जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में चेतन की कर्म प्रवृत्ति से कार्मण शरीर पर संस्कार अंकित होते हैं। और कुछ काल के बाद उस पर अंकित संस्कार जागृत होते हैं। उन जागृत संस्कारों की प्रेरणा से जीव पुनः कर्मों से प्रवृत्त होता है, उस प्रवृत्ति से पुनः कार्मण शरीर पर संस्कार अंकित होते हैं। कुछ काल पश्चात् अंकित हुए वे संस्कार पुनः जागृत होते हैं और उन जागृत संस्कारों की प्रेरणा से जीव पुनः कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और संस्कारों का यह चक्र प्रवाह रूप से अनादिकाल से चलता आ रहा है और तब तक चलता रहेगा, जब तक जीव कर्मों की कार्य कारण परंपरा से सर्वथा विरत नहीं हो जाता।[१५७]

कार्य या कर्म या अर्थ यहाँ मिट्टी पर पडे हुए पदचिह्न जैसा कुछ नहीं है। न ही चित्तभूमि या कार्मण शरीर मिट्टी के जैसा है, जिस पर चिह्न अंकित हुआ दिखाई दे सके। यह तो समझाने के लिए उपमा दी है। वस्तुतः चित्तभूमि या कार्मण शरीर दोनों ही ज्ञानात्मक या भावात्मक है। इसलिए उस पर पडा हुआ चिह्न भी ज्ञानात्मक या भावात्मक जैसा ही कुछ है। उसे शास्त्रीय भाषा में वृत्ति, धारणा या संस्कार कहते हैं। एक प्रकार से स्मृति का च्युत न होना ही धारणा है।[१५८] कोइ भी कार्य, क्रिया या प्रवृत्ति क्यों न हो, उसे निरंतर करते रहने पर उसकी आदत हो जाती है। वह आदत या वृत्ति ही संस्कार शब्द का वाचक है। इसे ही जानने के क्षेत्र में धारणा या स्मृत्ति कहते हैं। बोलने या करने के क्षेत्र में या भोगने के क्षेत्र में इसे संस्कार या वृत्ति भी कहते हैं। किसी भी पाठ या मंत्र को बार-बार रटने या दोहराने से वह स्मृति का विषय होकर ज्ञानगत धारणामय संस्कार बन जाता है।

निष्कर्ष यह है कि, अच्छा या बुरा कोई भी कार्य करने पर उसका प्रभाव चित्त पर अवश्य पडता है। कार्य समाप्त होने पर भी चित्त पर पडा प्रभाव समाप्त नहीं होता, भले ही पहली बार में उस कार्य की आदत नहीं पडती, परंतु बार-बार करते रहने पर वह आदत पक्की हो जाती है, वही संस्कार रूप बन जाती है।[१५९]

जैन शास्त्रीय भाषा में प्रत्येक समय में प्राप्त कर्म के सूक्ष्म प्रभाव को आस्त्रव तथा संस्कार या आदत के रूप में उन्हीं अनेक प्रभावों के घनीभूत हो जाने को हम बंध तत्त्व कह सकते हैं। यह स्पष्ट है कि, जन्म-जरा-मरण रूप संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए प्राणी अविद्या, अज्ञान या मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं। वे जो भी क्रिया या प्रवृत्ति करते हैं, वह अज्ञान मूलक होती है। रागद्वेषादिवश उनकी प्रवृत्ति होती है, जो अपने पीछे संस्कार को छोड देती है। इस कारण उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया आत्मा के लिए बंधकारक हो जाती है।[१६०]

पुद्गल का कर्म रूप में परिणमन कैसे?

जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्गल का कर्मरूप में परिणमन कैसे हो जाता है? इसे समझने के लिए केशवसिंह ने क्रिया कोष में कहा है- कोई व्यक्ति सूर्य के सन्मुख दर्पण रखकर उस दर्पण के आगे रुई रख देता है, तो सूर्य और दर्पण का तेज मिलकर अग्नि प्रकट हो जाती है, वह रुई उससे जल जाती है, न तो अकेली रुई में ही अग्नि है, न ही दर्पण में कहीं अग्नि है। सूर्य और दर्पण के साथ रुई का संयोग मिलने से निःसंदेह अग्नि पैदा हो जाती है। इसी प्रकार जीव के साथ उसके रागादि परिणामों के संयोग से आत्मा में स्थित पुद्गलों का कर्मरूप में परिणमन हो जाता है।[१६१] इसलिए कर्म केवल संस्कार रूप ही न होकर पुद्गल रूप भी हैं। एक वस्तु भूत पदार्थ है; रागद्वेष परिणाम युक्त जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुलमिल जाता है, जैसे दूध में पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक-पौद्गलिक, किंतु उसका कर्म नाम[१६२] इसलिए रूढ़ हो गया है कि, जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के कारण से आकृष्ट होकर जीव के साथ बंध जाता है, चिपक जाता है। आशय यह है कि, जहाँ अन्य दर्शन रागद्वेष मोहादि से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी अदृष्ट धर्माधर्म, अपूर्व, कर्माशय, क्लेश आदि के माध्यम से संस्कार को स्थाई मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन का मन्तव्य है कि, कर्म का इस संस्कार रूप के सिवाय भी एक और रूप है। पुद्गलरूप रागद्वेषाविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ आत्मा में एक प्रकार का द्रव्य-पुद्गल आता है जो उसके रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाता है। कालान्तर में यही (कर्म) पुद्गल द्रव्य जीव को शुभाशुभ फल देता है।[१६३]

जीव के रागादि परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है; जैसे मेघ के अवलंबन से सूर्य की किरणों का इन्द्र धनुषादिरूप परिणमन हो जाता है, इसी प्रकार स्वयं अपने चैतन्यमय (वैभाविक) भावों से परिणमनशील जीवन के रागादिरूप परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त मात्र हो जाता है। वस्तुतः जीव के रागादि परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलों का कर्मरूप में परिणमन स्वतः हो जाता है।[१६४]

कर्म पुद्गलों के कर्मरूप में परिणमन की प्रक्रिया के संबंध में जैनदर्शन का कथन है कि इस लोक में ६ द्रव्य माने गये हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल। हम अपने चारों ओर चर्म-चक्षु से जो कुछ देखते हैं, वह सब पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य २३ प्रकार की वर्गणाओं में विभक्त है।

उन वर्गणाओं में एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त लोक में व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही रागादि ग्रस्त जीवों के कर्मों का निमित्त पाकर कर्मरूप में परिणत हो जाती है।[१६५] प्रवचनसार में इस तथ्य को उजागर किया है- जब राग-द्वेष युक्त आत्मा शुभाशुभ कार्यों में प्रवृत्त होती है, तब उसमें ज्ञानावरणीयादि रूप से कर्मरज प्रविष्ट होती है।[१६६]

परिणामों से कर्म और कर्म से परिणाम का चक्र

निष्कर्ष यह है कि जो कर्मबद्ध जीव जन्ममरणादि रूप संसार चक्र में पडा है उसने रागद्वेषादि रूप परिणाम अवश्य होता है परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म, जन्म से शरीर और इन्द्रियों की प्राप्ति, इन्द्रियों से विषय ग्रहण तथा विषय ग्रहण से रागद्वेषरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसार चक्र में पडे हुए जीव के परिणामों से कर्म और कर्म से परिणाम होते रहते हैं।[१६७]

जीव पुद्गल कर्मचक्र

पहले क्रिया-प्रतिक्रिया के नियमानुसार कर्मबद्ध जीव (आत्मा) के रागादि परिणाम-जन्य संस्कार के रूप में कर्म रहते हैं, फिर आत्मा में स्थित प्राचीन कर्मों के साथ ही नये कर्म बंधन की प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार परंपरा से कदाचित् कर्मबद्ध मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मद्रव्य का संबंध है। संसारी जीव और कर्म के इस अनादि संबंध की जीव पुद्गल कर्मचक्र के नाम से अभिहित किया गया है। अभिप्राय यह है कि, अन्य दर्शन जहाँ जीव की प्रवृत्ति (क्रिया) तज्जन्य संस्कार को ही कर्म कहकर रुक गये, वही जैनदर्शन कर्मबद्ध संसारी जीव को कथंचित् मूर्त मानकर पुद्गल द्रव्य को और उसके निमित्त से होने वाले रागद्वेष रूप भावों को भी कर्म कहता है।[१६८]

जीव मन, वचन, काया द्वारा कुछ न कुछ करता है। यह सभी उसकी क्रिया या कर्म है। इसे भावकर्म कहते हैं। ये दो प्रकार के कर्म तो सभी को मान्य हैं, परंतु इस प्रकार के भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ (कर्म) पुद्गल स्कंध जीव के अनेक प्रदेशों में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसके साथ बंध जाते हैं। यह बात केवल जैन दर्शन ही बताता है। ये सूक्ष्म पुद्गल स्कंध अजीवकर्म या द्रव्यकर्म कहलाते हैं। ये रूप रसादि धारक मूर्तिक होते हैं। जीव जैसे-जैसे कर्म करता है उसके स्वभाव को लेकर ये द्रव्यकर्म उसके साथ बंधते हैं।

अतः सिद्ध है कि, कर्म पुद्गलरूप भी है। जिनके प्रभाव से जीव के अनादि गुण तिरोहित हो जाते हैं। वे सूक्ष्म होने के कारण ये चर्मचक्षुओं से दृष्ट नहीं हैं।[१६९]

* * *

संदर्भ

१. आगम के अनमोल रत्न, भाग - १ (हस्तीमुनिजी, मेवाडी), पृ. २५२

२. यंत्र-मंत्र-तंत्र विज्ञान, भाग - २, पृ. ३४

३. जैन थोक संग्रह, भाग - २ (धींगडमलजी गिडिया), पृ. २२५

४. प्रमाणमीमांसा (अनु. शोभाचंद्र भारिल्ल), सूत्र - १

५. कर्मग्रंथ, भाग - १ (सुखलालजी), प्रस्तावना, पृ. ७

६. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.) प्रस्तावना, पृ. २६

७. तीर्थंकर चरित्र (रतनलाल डोशी), पृ. ५२

८. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.) प्रस्तावना, पृ. २७

९. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.)
द्वितीय वक्षस्कार 'पयाहियाए उवदिसई'। प्रस्तावना, पृ. ५८-६०

१०. कल्पसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.), पृ. २६३

११. ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ. १२०

१२. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.) प्रस्ता., पृ. २९

१३. कल्पसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.) पृ. २५९

१४. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.) प्रस्ता., पृ. २६८

१५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, भाग - १ (संपा. गणेशललवाणी), पृ. ८८

१६. आदिपुराण (कर्मविज्ञान) भाग-१ (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी), पृ. २३९

१७. आवश्यक निर्युक्ति (श्रीमद्हरिभद्रसूरि), पृ. ३३७

१८. कल्पसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.) पृ. २६९

१९. श्रीमद् भागवत्, १/३/१३

२०. धम्मपद, (राहुल सांकृत्यायान), पृ. ४२२

२१. संबुज्झह किं न..... पुणरावि जीवियं॥
सूत्रकृतांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), अ. २ गा. ८९, पृ. १११

२२. नायं देहो ..... ब्रह्मसौख्य त्वनन्तम्॥ श्रीमद् भागवत (पंचम स्कंध)

२३. आदिपुराण (कर्मविज्ञान भाग - १), (युवाचार्य देवेंद्रमुनि म.सा.), पृ. २४२

२४. सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), श्रु. १, अ. २

२५. जवाहर किरणावली, भाग - १४ (रामवनगमन, भाग - १), पू. जवाहरलालजी

२६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, (संपा. गणेशललवाणी)

२७. (NECESSITY IS THE MOTHER OF INVENTION) कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.) पृ. २५१

२८. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २५१ -२५२

२९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (संपा. गणेशललवाणी), पृ. ७०

३०. कल्पसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.), पृ. २६९
३१. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.), पृ. ४०
३२. कल्पसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.), पृ. २६
३३. बडी साधु वंदना पद- १, (पू. जयमलजी म.सा.), डॉ. पद्ममुनिजी
३४. वंदनीय साधुजन (भानुमतिबेन के. मेहता), पृ. १
३५. सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), पृ. ३२०
३६. कल्पसूत्र (संपा. पं. मुनि नेमिचंद्र जी म.सा.), पृ. १८६
३७. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), प्र. श्रु. अ. ९,३-४ पृ. ३०५
३८. भगवान महावीर एक अनुशीलन, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ९
३९. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २६३
४०. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), अ. २५/३७
कम्मुणा बंभणो होइ..... हवइ कम्मुणा।
४१. भगवतीसूत्र भाग -१ (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), पृ. ८१
४२. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २७१
४३. अत्थं भासई अरहा, सुत्तं गंथाणि गणहरा .. सुतं पवत्तई॥
आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्रसूरि), पृ. १९२
४४. प्रमाणमीमांसा (अनु. शोभाचंद्र भारिल्ल), पृ. १
४५. समवायांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), १२/५११, पृ. १७१
४६. विशेषावश्यकभाष्य (हुकुमचंद्र भारिल्ल), गा. १११९-११२४
४७. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २७३-२७५
४८. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २७६-२७७
४९. कर्मग्रंथ, भाग - १ (मरुधर केसरी पू. मिश्रीमलजी म.सा.), पृ. ६९
५०. कर्मप्रकृति (आचार्य शिवशर्मसूरि), कर्मविज्ञान भाग-१,
(उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ.२९०,२९१
५१. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २८१
५२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (डॉ. जगदीशचंद्र जैन), भाग -४, पृ. २७ से १४२
५३. कर्म साहित्यनुं संक्षिप्त इतिहास (मुनि नित्यानंद विजयजी),
कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.) पृ. २८१
५४. कर्म साहित्य का संक्षिप्त विवरण (अगरचंदजी नाहटा) जिनवाणी कर्म सिद्धांत विशेषांक
५५. कर्म सिद्धांत (मोहनलालजी), पृ. २०
५६. सन्मति तर्क प्रकरण (सिद्धसेन दिवाकर), पृ. ३, ५३
५७. श्वेताश्वतरोपनिषद् (मोतीलाल जालान), अ. १ श्लो.२, पृ. ७१

५८. कालो सहावणियई ... हुति सम्मतं॥
सन्मति तर्क प्रकरण, (आचार्य सिद्धसेन दिवाकर), पृ. ३, ५३
५९. अतः कालादयः सर्व समुदायेन कारणम्।
गभदिः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः॥
न चैकेकत .... जनिका मता॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय २/७९-८०
६०. जैनदर्शन (डॉ. महेंद्र न्यायाचार्य), पृ. ८०-८१
६१. जैनदर्शन (डॉ. महेंद्र न्यायाचार्य) , पृ. ८५
६२. जैनदर्शन (डॉ. महेंद्र न्यायाचार्य) , पृ. १०५
६३. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), प्रस्तावना, पृ. ३१
६४. संवच्छरेण भिक्खा..... लोगनाहेण॥
समवायांग सूत्र (युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), पृ. १५७
६५. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३४०
६६. जैनदृष्टि कर्म पृ. २१
६७. उद्यमेन हि सिद्धंति ..... मुखे मृगाः॥ हितोपदेश,
६८. अंतकृतदशा (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि म.सा.), वर्ग - ६ पृ. १२५-१२७
६९. कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३४७
७०. कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञजी), पृ. १३०
७१. यत् क्रियते तत्कर्म, षट्खण्डागम, भाग १ (पं. बालचंद्र सिद्धांतशास्त्री), पृ. १८
७२. योगो व्यापारः कर्म क्रियतेत्यनर्थान्तरम्। विशेषावश्यक भाष्य (हुकुमचंद्र भारिल्ल),
७३. 'कर्म नो सिद्धांत' (हीराभाई ठक्कर), पृ. ३
७४. कर्ममीमांसा, पृ. २
७५. उपासकदशांग सूत्र (संपा. मधुकरमुनिजी), अ. १
७६. जीवीकार्ये आरंभे। (पंचाशक विवरण -१)
७७. कम्माणि तणहार गादीणि। आचारांगचूलिका अ. १
७८. कम्मं जमणायरिओवदेसज..... भेयवा॥
अभिधान राजेन्द्रकोष 'कम्म' शब्द पृ. २४४
७९. अनाचार्यक कर्म,..... नित्य व्यापारः। भगवतीसूत्र, श. १२/३, प्र. वृत्ति
८०. आत्म संयोग प्रयत्नाभ्या हस्ते कर्म। वैशेषिक दर्शन
८१. उत्क्षेपण ..... पंच च। न्यायसिद्धांत मुक्तावली - ६
८२. कर्तुरीप्सिततमं कर्म (पाणिनिकृत अष्टाध्यायी), १/४/४९
८३. आत्म मीमांसा (पं. सुखलालजी मालवणिया)
कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३५७
८४. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी म.); कर्मविज्ञान भाग-१, पृ. ३५७
८५. धर्म निर्णय सिंधु। कर्मविज्ञान भाग-१, पृ. ३४७

८६. गीता रहस्य, पृ. ५५-५६
८७. भगवद्गीता, अ. ५ श्लो. ८-११
८८. अंगुत्तर निकाय कर्मविज्ञान भाग-१, पृ. ३५८
८९. जैन कर्मसिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन)
कर्मविज्ञान भाग-१, पृ. ३५९
९०. बौद्ध धर्मदर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव), पृ. २४९
९१. किइ जिएण हेउहि जेण तो भण्णए कम्मं। गा. १
कर्म ग्रंथ प्रथम भाग, (पू. मरुधर केसरी मिश्रीलालजी)
९२. कर्मसिद्धांत (जिनेन्द्रवर्णी), पृ. ४२
९३. काय वाङ्मनः कर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वातीजी), अ. ६ सूत्र - १
९४. ते तिविहे मणप्पओ कम्मं ..... केवलीणं वा।
षट्खण्डागम १३/५, ४ था सूत्र १६-१७
९५. कर्म मीमांसा (पं. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री), पृ. १६, १७
९६. कर्मवाद (आचार्य महाप्रज्ञ), पृ. १९३
९७. यथा भाजन विशेष..... परिणामो वेदितव्य।
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (अकलंकदेव), पृ. २९४
९८. कर्म मीमांसा, प्रस्तावने, पृ. १७
९९. भाववन्तौ क्रियावन्तौ ..... धारावाह्येक वस्तुनि॥
पंचाध्यायी (राजमल्ल), अ. २/२५, २६, ४२
१००. जैन कर्मसिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. १२
१०१. विधि स्त्रष्टा विधाता च .... कर्म वेधसः (आदिपुराण, महापुराण), ४/३७
१०२. अभिकर्म-कोष- परिच्छेद - ४
१०३. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - २/१/१४
१०४. सांख्यदर्शन (कर्मविज्ञान भाग-१), (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३६४
१०५. सांख्य कारिका (कर्मविज्ञान भाग-१), (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३६४
१०६. सांख्य तत्त्व कौमुदि (कर्मविज्ञान भाग-१),
(उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.) पृ. ३६४
१०७. योगदर्शन (व्यास भाष्य), १-५-२-३-२-१२-२-१३
१०८. न्याय भाष्य, १/१/२
१०९. न्याय सूत्र, १/१/१७. ४/१/३-९
११०. न्याय मंजरी, पृ. ४७१-४७२
१११. एवं च क्षण .... धर्माधर्मगिरोच्यते॥ न्याय मंजरी, पृ. ४७२
११२. मीमांसा सूत्र शांकर भाष्य, २/१/५
११३. तंत्र वार्तिक, २/१/५

११४. शास्त्र दीपिका, २/१/५, पृ. ८०
११५. अदृष्टः कर्म संस्काराः .... कीर्तिताः ।। शास्त्रवार्ता समुच्चय, पृ. १०७
११६. उम्मु च पास इह मच्चएहि।..... आचारांगसूत्र
११७. तया धुणई कम्मरय। दशवैकालिक सूत्र, ४/२०
११८. स निद्धणे धुतमल पुरे कड । दशवैकालिक सूत्र, ७/५७
११९. बाईबल (कर्मविज्ञान भाग-१), (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३६५
१२०. कुरान सरीफ (कर्मविज्ञान भाग-१, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३६५
१२१. जैन कर्मसिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. १३
१२२. पोग्गलपिंडो दव्व तस्सति भावकम्म तू।
गोम्मटसार कर्मकाण्ड, (आचार्य नेमिचंद्र), ६/५/६
१२३. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, जिनवाणी कर्म सिद्धांत विशेषांक में (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २६
१२४. कर्मग्रंथ भाग -१ प्रस्ता. (पं. सुखलालजी), पृ. १९-२१
१२५. तत्त्वार्थसार, ५/२४/९
१२६. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी), पृ. १०
१२७. कर्म सिद्धांत (जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ४३
१२८. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, जिनवाणी कर्म सिद्धांत विशेषांक में (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.) पृ. २५
१२९. आत्म मीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया), पृ. ९५
१३०. पंचास्तिकाय (आचार्य कुंदकुंद), गा. ६४
१३१. पंचास्तिकाय की टीका (आचार्य अमृतचंद)
१३२. जैनदर्शन और आत्मविचार (डॉ. लालचंद्र जैन), पृ. १८४
१३३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग - ४ (मोहनलाल मेहता), पृ. ५
१३४. कर्मग्रंथ, भाग - १ (मरुधर केसरी पू. मिश्रीलाल म.सा.), पृ. ५५, ५६
१३५. गणधरवाद की प्रस्तावना (प. दलसुखभाई मालवणिया), पृ. ८१
१३६. समणसुत्तं (संस्कृत छाया - बेचरदास दोशी), पृ. २०
१३७. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. २६
१३८. आत्म मीमांसा, पृ. ९७
१३९. रागो य दोसो वि य कम्मबीय।
उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. मधुकरमुनिजी), अ. ३२ गा. ७
१४०. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी), पृ. २०
१४१. आत्म मीमांसा, पृ. ९८
१४२. समणसुत्तं (संस्कृत छाया - बेचरदास दोशी), पृ. २०
१४३. कर्मग्रंथ, भाग - १ (मरुधर केसरी पू. मिश्रीलाल म.सा.), पृ. ५५, ५६

१४४. आत्म मीमांसा (प. दलसुखभाई मालवणिया), पृ. ९८-९९
१४५. कर्मवाद : एक अध्ययन (पं. सुरेशमुनि), पृ. ३४-३५
१४६. अष्ट सहस्त्री (आचार्य विद्यानंदी), पृ. ५१
१४७. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जैनाचार्य नेमीचंद्र सिद्धांतिदेव), अ. २, गा. ३२, पृ. ८१
१४८. आप्त परीक्षा (विद्यानंद स्वामी), कारिका - २ पृ. ४
१४९. स्थानांगसूत्रवृत्ति (अभयदेवसूरि), स्था. १, पृ. १४
१५०. कर्मविज्ञान, भाग -१ (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३८६-३८७
१५१. कर्मविज्ञान, भाग -१ (उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी म.सा.), पृ. ३८८
१५२. पमाय कम्ममाहंसु अप्पमाय तहावरा।
सूत्रकृतांग सूत्र (संपा. मधुकर मुनि), १/१४/१
१५३. जैन योग (हरिभद्रसूरि), पृ. ४१
१५४. कर्म रहस्य, पृ. १२४
१५५. कर्म रहस्य, पृ. १२४,१२५
१५६. कर्म रहस्य, पृ. १२५
१५७. कर्म रहस्य, पृ. १२५
१५८. 'अविच्चुई धारणाहोई'। विशेषावश्यक भाष्य (हुकुमचंदभारिल्ल), पृ. १२५
१५९. कर्म रहस्य, पृ. १६०
१६०. कर्म का स्वरूप (पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री),
(जिनवाणी कर्म सिद्धांत विशेषांक में प्रकाशित), पृ. ६१
१६१. सूरज सन्मुख दर्पण धरै ..... अगनि न संशै धाय॥
क्रियाकोष (केशवसिंह), गा. ५४-५५
१६२. क्रिया नाम आत्म ना ..... कर्म। प्रवचनसार टीका. गा. २५
१६३. जिनवाणी कर्म विशेषांक (पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री), पृ. ६४
१६४. परिणम मानस्य ..... कर्म तस्यापि॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय टीका, १२-१३
१६५. पंचम कर्मग्रंथ प्रस्तावना (कैलाशचंद्र शास्त्री), पृ. ९
१६६. परिणमदि जदा अप्पा...णाणावरणादि भावेहि॥
प्रवचनसार (कुंदकुंदचार्य), गा. ९४
१६७. पंचास्तिकाय (कुंदकुंदचार्य), गा. १२८-१३०
१६८. कर्मग्रंथ भाग- ५ (अनु. पंडित सुखलालजी संघवी), प्रस्तावना, पृ. ११
१६९. जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोष, भाग-२ (जिनेन्द्र वर्णी), पृ. २५

* * *

चतुर्थ प्रकरण

कर्म का विराट स्वरूप

चतुर्थ प्रकरण

कर्म का विराट स्वरूप

कर्मबंध की व्यवस्था

अष्टकर्मों का क्रम १७१

कर्म के मुख्य दो विभाग १७१

कर्मों के लक्षण १७२

ज्ञानावरणीय कर्म का निरूपण १७४

ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव फल भोग १७५

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १७७

मतिज्ञानावरणीय कर्म १७८

मतिज्ञानावरणीय कर्म बंध के कारण और निवारण १७८

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १७९

श्रुतज्ञानावरणीय कर्मबंध के कारण और निवारण १७९

अवधिज्ञानावरणीय कर्म १८०

मन:पर्यायज्ञान की विशेषता १८०

केवलज्ञान १८१

ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव १८२

दर्शनावरणीय कर्म का निरूपण १८३

दर्शनावरणीय कर्म छः प्रकार से बांधे १८४

दर्शनावरणीय कर्म का प्रभाव १८६

वेदनीय कर्म का निरूपण १८७

वेदनीय कर्म का विस्तार १८८

असातावेदनीय कर्म का फलानुभाव १८८

सातावेदनीय कर्म दश प्रकार से बांधे १८९

असातावेदनीय कर्म बारह प्रकार से बांधे १९०

साता-असातावेदनीय कर्म का प्रभाव १९०

मोहनीय कर्म का निरूपण १९१

मोहनीय कर्म का विस्तार १९३

चारित्रमोहनीय कर्म का स्वरूप १९३

दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ १९४

चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद १९४

कषाय-चारित्र-मोहनीय की १६ प्रकृतियाँ	१९५
अनंनतानुबंधी कषाय	१९५
नोकषाय-चारित्र-मोहनीय का स्वभाव	१९८
मोहनीय कर्मबंध के ६ कारण	२००
मोहनीय कर्म पांच प्रकार से भोगे	२००
मोहनीय कर्म का प्रभाव	२०१
आयुष्य कर्म का निरूपण	२०१
आयुष्य कर्म का विस्तार	२०२
आयुष्य कर्म १६ प्रकार से बाँधे	२०२
आयुष्य कर्म ४ प्रकार से भोगे	२०५
आयुष्य कर्म का प्रभाव	२०७
नामकर्म का निरूपण	२०७
नामकर्म का विस्तार	२०७
नामकर्म ८ प्रकार से बाँधे	२१०
नामकर्म २८ प्रकार से भोगे	२११
नामकर्म का प्रभाव	२११
गोत्रकर्म का निरूपण	२१२
गोत्रकर्म की १६ प्रकृतियाँ	२१२
गोत्रकर्म १६ प्रकार से भोगे	२१३
गोत्रकर्म का प्रभाव	२१३
अंतराय कर्म का निरूपण	२१३
अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ	२१४
अंतराय कर्म बंध ५ प्रकार से भोगे	२१६
अंतराय कर्म का प्रभाव	२१६
कर्मबंध की परिवर्तनीय अवस्था के १० कारण	२१७
अन्य परंपरा में तीन अवस्थाएँ	२२०
कर्मबंध का मूल कारण : रागद्वेष	२२१
राग या द्वेष में नुकसानकारक कौन?	२२२
प्रशस्त राग	२२३
अप्रशस्त राग और उनके प्रकार	२२४

चतुर्थ प्रकरण

कर्म का विराट स्वरूप

कर्मबंध की व्यवस्था

अष्टकर्मों का क्रम

कर्म की आठ मूल प्रकृतियों का ऐसा क्रम क्यों है? इस क्रम का आधार क्या है? इसका समाधान यह है कि, जैसे रविवार के बाद सोमवार और सोमवार के बाद मंगलवार का क्रम विश्व के सभी खगोल वेत्ताओं द्वारा मान्य है, क्योंकि उसके पीछे आधारपूर्ण अनुभूत हेतु है, इसी प्रकार भारतीय ज्योतिषियों के अनुसार चैत्र के बाद वैशाख और वैशाख के बाद ज्येष्ठ इस प्रकार बारह महिनों के क्रम के निर्धारण के पीछे भी एक हेतु है। छह ऋतुओं का क्रम भी विचारपूर्वक निर्धारित है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के बाद दर्शनावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म के बाद वेदनीय कर्म, वेदनीय कर्म के बाद मोहनीय कर्म, मोहनीय कर्म के बाद आयुष्य कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अंतरायकर्म यह अष्टविध कर्म की प्रकृतियों के अनुसार क्रम रखने के पीछे भी आधार पूर्ण हेतु है।[१]

आत्मा के समस्त गुणों में ज्ञान प्रमुख है। आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य संबंध है। आत्मा की पहचान उसके ज्ञान गुण के द्वारा कराई जाती है, इसलिए ज्ञान का अवरोध करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म को सर्वप्रथम रखा है। आत्मा के दर्शन गुणों को आवृत करने वाला होने से ज्ञान के पश्चात् दर्शनावरणीय कर्म को रखा गया। ये दोनों कर्म अपना फल दिखाने के लिए सांसारिक सुख-दुःख को वेदन कराने के हेतु बनते हैं, इसलिए दर्शनावरणीय कर्म के बाद वेदनीय कर्म को रखा है।

सुख-दुःख का वेदन कषाय या राग-द्वेषादि होने पर होता है। कषाय या राग-द्वेषादि मोहनीय कर्म के अंग हैं, इसलिए वेदनीय कर्म के बाद मोहनीय कर्म का स्थान है। मोहनीय कर्म से संत्रस्त जीव अनेक प्रकार के आरंभ-समारंभ करता है, जिससे वह नरक एवं तिर्यंच का आयुष्य बाँधता है। इस कारण मोहनीय कर्म के बाद आयुष्य कर्म को रखा है। आयुष्य कर्म गति, जाति, शरीर आदि के बिना नहीं भोगा जा सकता। अतः आयुष्य कर्म के बाद नाम कर्म रखा गया है। नाम कर्म का उदय होने पर उच्च, नीच गोत्र का उदय अवश्य होता है, इस दृष्टि से नाम के बाद गोत्रकर्म को स्थान दिया गया है। ऊँच, नीच गोत्र के उदय होने पर क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य आदि शक्तियाँ न्यूनाधिक रूप से बाधित एवं कुण्ठित होती हैं, इसलिए गोत्र कर्म के बाद अन्तराय कर्म को स्थान दिया गया है। आठों ही

मूलकर्म प्रकृतियों का अपने स्वभावानुसार उचित क्रम रखा गया है।[२] कर्मप्रकृति[३] और तत्त्वार्थसूत्र[४] में भी यही बात कही है।

कर्म

कार्मण वर्गणा के पुद्गल मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण आत्मा के साथ बंधते हैं, उसे 'कर्म' कहते हैं।[५] कर्म विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार स्वभाव की अपेक्षा से कर्मप्रकृति की रचना होती है। प्रकृति दो प्रकार की है, मूलप्रकृति और उत्तर-प्रकृति, द्रष्टी कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। वे इस प्रकार हैं -

१) ज्ञानावरणीय कर्म,	२) दर्शनावरणीय कर्म,	३) वेदनीय कर्म,
४) मोहनीय कर्म,	५) आयुष्यकर्म,	६) नाम कर्म,
७) गोत्र कर्म,	८) अंतराय कर्म[६]	

प्रज्ञापना सूत्र में भी यही बात बताई है।[७]

उत्तर प्रकृतियाँ १४८ या १५८ मानी गई हैं[८] -

१) ज्ञानवरणीय कर्म की	५	प्रकृतियाँ
२) दर्शनावरणीय कर्म की	९	प्रकृतियाँ
३) वेदनीय कर्म की	२	प्रकृतियाँ
४) मोहनीय कर्म की	२८	प्रकृतियाँ
५) आयुष्य कर्म की	४	प्रकृतियाँ
६) नाम कर्म की	१०३	प्रकृतियाँ
७) गोत्र कर्म की	२	प्रकृतियाँ
८) अंतराय कर्म की	५	प्रकृतियाँ
कुल	१५८	प्रकृतियाँ

आत्मा के स्वगुणों का घात करने वाली चारों घातिकर्मों की कुल ४७ प्रकृतियाँ हैं। ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, मोहनीय कर्म की २८ और अंतराय कर्म की ५ कुल ४७ प्रकृतियाँ होती हैं।[९]

कर्म के मुख्य दो विभाग

१) घातिकर्म, २) अघातिकर्म।

घातिकर्म- ये कर्म उदय में आते ही आत्मा के ज्ञानादिक मूलगुणों का घात करते हैं, उसे 'घातीकर्म' कहते हैं।

घातिकर्म के चार प्रकार हैं- १) ज्ञानवरणीय कर्म, २) दर्शनावरणीय कर्म
३) मोहनीय कर्म, ४) अंतराय कर्म।

अघातिकर्म - जो कर्म उदय में आते हैं, किन्तु आत्मा के ज्ञानादिक मूलगुणों का घात नहीं करते, उन्हें **'अघातिकर्म'** कहते हैं। ये अघातिकर्म आत्मा के मुख्य गुणों को हानि नहीं पहुँचाते, फिर भी चोर के साथ रहनेवाला साहुकार भी चोर गिना जाता है। अघातिकर्म की प्रकृति घातिकर्मों के साथ वेदना में आती है।[१०]

अघातिकर्म के चार प्रकार - १) वेदनीय कर्म, २) आयुष्य कर्म,
३) नाम कर्म, ४) गोत्र कर्म।

घातिकर्मों का क्षय होने के बाद अघातिकर्म लंबे समय तक टिकते नहीं हैं। उस भव का आयुष्य पूर्ण होने के बाद शेष कर्म भी क्षय हो जाते हैं। और जीव सर्वथा कर्म से रहित होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है।[११] तत्त्वार्थसूत्र[१२] और जैन दर्शन-स्वरूप और विश्लेषण में भी यही बात बताई है।[१३]

कर्मों के लक्षण

१) ज्ञानावरणीय कर्म

यह कर्म सूर्य को ढाँकने वाले बादल के समान है।[१४] आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत्त करने वाला या उसे दबाने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है। इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की यह प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करने की है, जो आत्मा के अनंतज्ञान में बाधा डालती है।[१५]

२) दर्शनावरणीय कर्म

यह कर्म राजा के समीप पहुँचाने में द्वारपाल के समान है।[१६] कर्म की दूसरी प्रकृति सुषुप्तिकारक है। इस कर्म प्रकृति का स्वभाव दर्शन शक्ति की जागृति पर आवरण डालता है। ऐसे स्वभाव वाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म है। यह आत्मा की अनंत दर्शन की अभिव्यक्ति में बाधा डालता है।

३) वेदनीय कर्म

यह कर्म साता वेदनीय मधु लगी हुई तलवार की धार के समान जिसे चाटने से तो मीठी मालूम होवे, परंतु जीभ कट जाए।[१७] असाता वेदनीय अफीम लगी हुई खड्ग समान है। आत्मा का तीसरा गुण अनंत अव्याबाध-सुख है। इस गुण के कारण आत्मा में सहज स्वाभाविक अनंत सुख रहा है, फिर भी सांसारिक आत्माएँ आत्मसुख से वंचित हैं। संसार में जो यत्किंचित् सुख प्राप्त होता है, वह भी भौतिक वस्तुओं द्वारा होता है। इसमें वेदनीय कर्म की प्रकृति कारण है।

४) मोहनीय कर्म

यह कर्म मदिरा के समान है।[१९] आत्मा का चौथा गुण स्वभाव-रमणता रूप अनंत चारित्र है। आत्मा में केवल अपने स्वभाव में रमण करने का गुण है, किन्तु मोहनीय कर्म द्वारा यह गुण विकृत हो गया है, जिससे आत्मा भौतिक वस्तुएँ प्राप्त करने में उसे सुरक्षित रखने में अहंकार, ममकार से ग्रस्त होकर राग-द्वेष और कषाय में व्यस्त रहती है। अतः वह स्वभाव रमणता से कोसों दूर हो जाती है। यह मोहनीय कर्म प्रतिकूल परिस्थिति में व्यक्ति को भयभीत, चिंतित और विचलित करके चारित्र में स्खलित व कुण्ठित कर देता है।

५) आयुष्य कर्म

यह कर्म राजा की बेडी के समान जो समय हुये बिना छूट नहीं सके।[२०] आत्मा का पाँचवाँ गुण अक्षय स्थिति या अविनाशित्व है। इस गुण के कारण आत्मा का न जन्म है, न जरा है, न मृत्यु है फिर भी आयु कर्म की वजह से आत्मा को जन्म-मरण करना पडता है। कर्मग्रंथ में आयु कर्म को कारागृह की उपमा दी है।[२१]

६) नाम कर्म[२२]

यह कर्म चितारा (पेंटर) समान है, जो विविध प्रकार के रूप बनाता है। कर्मग्रंथ में भी यही कहा है।[२३] आत्मा का छठा गुण अरूपित्व है। इस गुण के कारण आत्मा में रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है, फिर भी आत्मा शरीरधारी होने से उसमें कृष्ण, श्वेत आदि वर्ण मनुष्य देव आदि गति एवं यश-अपयश, सुस्वर-दुःस्वर इत्यादि जो विकार दिखाई देते हैं, वे नामकर्म के कारण हैं।

७) गोत्र कर्म

यह कर्म कुंभार के चक्र समान है, जो मिट्टी के पिंड को घुमाता है।[२४] कर्मग्रंथ[२५] और जैनतत्त्व प्रकाश[२६] में भी यही बात कही है। आत्मा का सातवाँ गुण अगुरुलघुत्व है। इस गुण के कारण आत्मा न उँच है, न नीच है, फिर भी हम देखते हैं अमुक व्यक्ति उँच कुल में और कुछ व्यक्ति नीच कुल में जन्म लेते हैं। उँच और नीच कुल का जो व्यवहार होता है वह गोत्र कर्म के कारण है।[२७]

८) अंतराय कर्म

यह कर्म राजा के भंडारी (खजाना) के समान है।[२८] आत्मा का आठवाँ गुण अनंतवीर्य है। इस गुण के कारण आत्मा अतुलनीय शक्तिमान होते हुए भी उसे अतुलनीय शक्ति का अनुभव नहीं होता, क्योंकि अंतराय कर्म उस शक्ति को दबा देता है। अंतराय कर्म की इस प्रतिरोधक प्रकृति या शक्ति के कारण व्यक्ति स्खलित हो जाता है। इस प्रकार के आठ कर्म

आत्मा के आठ गुणों को क्रमशः दबाकर आत्मा को विकृत करने के स्वभाव वाले हैं।

आत्मा के द्वारा गृहीत कर्म पुद्गल परमाणुओं के स्कंध (समूह) का आठ प्रकृतियों में पृथक्-पृथक् बंध जाने की प्रक्रिया बताते हुए कहा गया है, जैसे आहार रूप में ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणु रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि विभिन्न धातुओं के रूप में परिणमित हो जाते हैं, वैसे ही मन, वचन, काया की क्रिया के योग से आकर्षित कर्म वर्गणाएँ उन-उन वर्गणाओं के स्वभावानुसार, मूल एवं उत्तर प्रकृति के रूप में परिणमित हो जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म का निरूपण

'व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र' में भगवान महावीर से गौतम गणधर ने प्रश्न किया, 'भन्ते! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध किस कारण से होता है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा, 'गौतम! ज्ञानी की प्रत्यनीकता यानि ज्ञानी पुरुष के साथ शत्रुता रखने से, ज्ञान को छिपाने से, ज्ञान में दोष निकालने से, ज्ञान एवं ज्ञानी का अविनय करने से और उनके प्रति व्यर्थ विसंवाद करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। इसी बात का विशद रूप से विवेचन करने हेतु से यहाँ ज्ञानावरणीय कर्मबंध के छह कारण प्रस्तुत हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म छह प्रकार से बंधते हैं-[२९]

१) नाण पडिणियाए

ज्ञान तथा ज्ञानी के अवर्णवाद बोले, ज्ञान का अपमान करना,[३०] जैनागम स्तोक संग्रह में भी यही कहा है।[३१] ज्ञान या विद्या की अशातना या अवज्ञा करना तथा ज्ञान की महत्ता के प्रति विद्रोह करना ज्ञानावरणीय कर्म बंध का प्रथम कारण है। विद्या या ज्ञान तो जीवन का दीपक है। सच्चा ज्ञान परस्पर संघर्ष अथवा विवाद नहीं सिखाता। वह व्यक्ति को विनीत, सरल और समन्वयी बनाता है। कुछ लोग विद्यालय या ज्ञान केंद्र बंद कराते हैं। और ज्ञान केंद्र खोलने का विरोध करते हैं, ऐसे ज्ञान द्रोही ज्ञानावरणीय कर्म बाँधते हैं।

२) नाणनिन्हवणियाए

ज्ञान देने वाले ज्ञानी के नाम को छिपायें तो ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है।[३२] विद्या के क्षेत्र में और अध्यात्म जगत् में ज्ञान दाता गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो गुरु ज्ञान की ज्योति देकर अंतर के नेत्र खोलते हैं उन ज्ञानदाता गुरु के नाम का गोपन करना महापाप है। इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है।

३) नाण अंतरायेण

ज्ञान प्राप्त करने में अंतराय (बाधा) डाले तो ज्ञानावरणीय कर्म बाँधे।[३३] कुछ व्यक्तियों की बौद्धिक संकीर्णता इतनी अधिक होती है, कि वे दूसरों की प्रगति और अभिवृद्ध को

किसी भी हालत में सहन नहीं कर पाते। ऐसी विकृत मनोदशा प्रायः मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में दृष्टि गोचर होती है। ज्ञान के क्षेत्र में भी देखा जाता है, एक व्यक्ति स्वयं पर लिख नहीं सकता लेकिन दूसरे पढते हो तो उसको अच्छा नहीं लगता, इस प्रकार ज्ञान साधना में बाधक बनने से या रोडे अटकाने से, ज्ञान प्राप्ति के साधनों को समाप्त करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है।

४) नाणपउसेणं

ज्ञान तथा ज्ञानी पर द्वेष करे तो ज्ञानावरणीय कर्म बाँधे।[३४] कुछ लोग स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं करते। दूसरे लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उन पर द्वेष करते हैं और जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उनके प्रति भी द्वेष-भाव रखते हैं, उनकी ईर्षा करते हैं, ऐसा करने से भी ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है।

५) नाण आसयणाए

ज्ञान तथा ज्ञानी की असातना (तिरस्कार निरादर) करे तो ज्ञानावरणीय कर्म बाँधते हैं।[३५] जो ज्ञान पढ़ाते हों, उन ज्ञानी गुरुजनों का आदर न करे, सन्मान आदि न करे या जो गुरु पढ़ाते हों उनको कहे कि आप अच्छा नहीं पढ़ाते हैं, इस प्रकार ज्ञानी की असातना करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है।

६) विसंवायणा जोगेण

ज्ञानी के साथ झूठा वाद-विवाद करे, तो ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं अथवा ज्ञान का दुरुपयोग करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं।[३६] इस संसार में कई लोग ज्ञान इसलिए सीखते हैं कि दूसरों को हराना, नीचे गिराना या दूसरों के साथ वाद-विवाद करके स्वयं की प्रतिष्ठा स्थापित करना। इस प्रकार करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं। ज्ञान की शक्ति का दुरुपयोग करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं। विज्ञान बौद्धिक विकास का विलक्षण रूप है, विज्ञान हिंसा से संबंधित एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि शस्त्रों का उत्पादन करता है, उससे संसार में विनाश फैलता है, और विज्ञान ही अहिंसा, करुणा और परोपकार से प्राणिमात्र के रोग, दुःख, संकट आदि विपदाएँ दूर करने हेतु साधनों का आविष्कार करके प्राणियों को सुख शान्ति पहुँचाये तो ज्ञान का सदुपयोग है।

ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव फल भोग

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से आत्मा ज्ञातव्य (जानने योग्य) विषय को नहीं जानती। उसका ज्ञान आवृत हो जाता है। जैन कर्म विज्ञान मर्मज्ञों ने बताया है- ज्ञानावरणीय कर्म जब उदय में आते हैं, तब वे अपना फल आत्मा को दस प्रकार से अनुभव कराते हैं।

१) श्रोत्रावरण

कानों से सुनने की शक्ति का मंद हो जाना। कम सुनाई देना या बिल्कुल बहरा हो जाना।[३७]

२) श्रोत्र विज्ञावरण

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान का ह्रास होना या सुना हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाना। सुनने में ध्यान न लगना या सुनकर भी समझ न सकना।

३) नेत्रावरण

नेत्ररूप ज्ञानेन्द्रिय शक्ति का आवृत हो जाना। देखने में कम आना या अंधा हो जाना।

४) नेत्रविज्ञावरण

नेत्रेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का ह्रास होना या नेत्र विज्ञान से वंचित हो जाना। दृश्य देखकर भी समझ न सकना या अनुमान गलत लगाना।

५) घ्राणावरण

घ्राणेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आवृत होना। सूंघने की शक्ति में कमी आना या बिल्कुल न सूँघ सकना।

६) घ्राणविज्ञावरण

नासिका से प्राप्त होने वाली दुर्गंध-सुगंध का ज्ञान नहीं हो पाना। सूँघ कर भी समझ न सकना।

७) रसनावरण

रसना से होने वाले ज्ञान का आवृत होना। स्वाद लेने की शक्ति कम होना।

८) रसना विज्ञावरण

रसना द्वारा प्राप्त होने वाले स्वाद को समझ न पाना। खट्टा-मधुर, कडुवा-तीखा आदि का ज्ञान न होना।

९) स्पर्शनावरण

स्पर्शेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आवृत होना अर्थात् स्पर्श न कर सकना।

१०) स्पर्श विज्ञावरण

स्पर्श का एहसास न कर पाना। गर्म-ठंडा, भारी-हल्का, रूखा-चिकना आदि स्पर्श की अनुभूति न करना।[३८] श्री बृहद् जैन-थोक-संग्रह में भी इस बात का उल्लेख है।[३९] ज्ञान

का अमृतसार में[४०] भी यही बात कही है।

संक्षेप में, यह दस प्रकार का अनुभाव-फलभोग ज्ञानावरणीय कर्म का बताया है, जो दो प्रकार के निमित्त पाकर उदय में आता है। एक स्वतः निमित्त और दूसरा परतः निमित्त। स्वतःनिमित्त का अभिप्राय है निरपेक्ष भाव से अर्थात् बाह्य निमित्त के बिना आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जानना चाहते हुए भी , जानने योग्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर पाती, क्योंकि उपार्जित ज्ञान विस्मृत हो जाता है, या उसकी ज्ञान शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं या ज्ञान तिरोहित (लुप्त) हो जाता है। यह ज्ञानावरणीय कर्म का स्वतः (निरेपेक्ष) अनुभाव है।

इसका अभिप्राय है कि सापेक्ष रूप से पुद्गल और पुद्गल परिणाम की अपेक्षा से फल प्राप्त होना। जैसे कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुँचाने के लिए उसके मस्तक पर पत्थर, ढेला या लाठी से प्रहार करता है, तो उसकी उपयोग रूप ज्ञान परिणति का घात होता है, या वह मूर्च्छित हो जाता है। यह पुद्गल की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव या फल भोग समझना चाहिए।

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं-

१) मतिज्ञानावरणीय, २) श्रुतज्ञानावरणीय,
३) अवधिज्ञानावरणीय, ४) मनः पर्याय ज्ञानावरणीय,
५) केवलज्ञानावरणीय।[४१]

उत्तराध्ययनसूत्र,[४२] जैन तत्त्वप्रकाश,[४३] प्रज्ञापनासूत्र[४४] और तत्त्वार्थसूत्र[४५] में भी यही बात है।

आत्मा की ज्ञान शक्ति अनंत है, परंतु संसारी जीवों में किसी के आत्मा का ज्ञान अत्यधिक आवृत होता है, तो किसी को कम होता है। जब पूर्ण रूप से ज्ञान का आवरण हट जाता है, तब केवलज्ञान होता है। संसार के प्रत्येक जीव में ज्ञान की न्यूनाधिकता रहती है। मनुष्यों में भी किसी को ज्ञान का आवरण कम, तो किसी को अधिक होता है। इस तारतम्यता के कारण ज्ञान के निश्चित भेद नहीं किये जा सकते, परंतु आगमों में उन सबका सामान्यरूप से वर्गीकरण करके ज्ञान के मुख्य पाँच भेद किये गये हैं।

१) मतिज्ञान, २) श्रुतज्ञान, ३) अवधिज्ञान,
४) मनःपर्यायज्ञान और ५) केवलज्ञान।[४६]

स्थानांगसूत्र[४७] और तत्त्वार्थसूत्र[४८] में ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्णन आता है।

मतिज्ञानावरणीय कर्म

मन और इन्द्रियों द्वारा वस्तु का निश्चित बोध होना या वस्तु का मनन करना मतिज्ञान है अर्थात् जो बुद्धिको जड़ एवं कुण्ठित करे, उसे मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। इसका दूसरा नाम अभिनिबोधिक भी है।[४९]

जिस आत्मा का मतिज्ञानावरणीय कर्म जितना तीव्र, मंद या मध्यम कोटि का होगा उसका प्रभाव भी तीव्र, मध्यम या मंद होगा। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्यों की बौद्धिक भूमिका मतिज्ञानावरणीय कर्म पर आधारित है। मतिज्ञानावरणीय कर्म का उदय सदाकाल एक समान नहीं होता। बचपन में मूर्ख बालक यौवन में बुद्धिमान देखा जाता है।

मतिज्ञानावरणीय कर्म जब मंद हो जाता है, तब बुद्धि के चमत्कार देखने को मिलते हैं। जब मतिज्ञानावरणीय कर्म का उदय मंदतम होता है, तब बीजबुद्धि पदानुसारिणीबुद्धि और कोष्ठबुद्धि का आविर्भाव होता है।

बीज की भाँति विविध अर्थ के बोध रूपी महावृक्ष को पैदा करने वाली 'बीजबुद्धि' होती है। गणधरों में बीजबुद्धि होने से वे केवल त्रिपदी (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) सुनकर उसके आधार पर समग्र द्वादशांगी की रचना करते हैं।[५०]

'पदानुसारिणी' बुद्धिवाले महापुरुष गुरुके मुख से एक सूत्र (पद) सुनते हैं शेष अनेक पद उनकी बुद्धि से स्वयं प्रगट हो जाते हैं। कोठार (गोदाम) में रखे हुए अनाज की भाँति 'कोष्ठबुद्धि' वाले महापुरुष सूत्रार्थ ज्ञान पढ़कर उसे दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकते हैं। बहुत कम मनुष्यों का ऐसा क्षयोपशम होता है, जिन्हें ऐसी बुद्धि प्राप्त हो।

जब मतिज्ञानावरणीय कर्म का अति प्रगाढ़ रूप से उदय होता है, तब एकाग्रता निर्णय शक्ति, जानने की क्षमता और स्मरण शक्ति तीव्र नहीं रहती।

मतिज्ञानावरणीय कर्म बंध के कारण और निवारण

मन और पाँच इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के प्रति राग, द्वेष, मोह, आसक्ति आदि करने से, इन्द्रियों का दुरुपयोग करने से एवं अशुभ विषयों में मन को प्रवृत्त करने से मतिज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। फक्त वह अज्ञान के घोर अंधकार में भटकता रहता है।

भौतिक क्षेत्र हो या आध्यात्मिक संसार का कार्य हो या आध्यात्मिक 'बुद्धि' सर्वत्र चाहिए। बुद्धि से मनुष्य कार्य में सफलता पाता है और यश पाता है। अभयकुमार, वीरबल या चाणक्य के नाम आज स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं, उसका कारण उनकी 'बुद्धि' है।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के निवारण का उपाय जिस प्रवृत्ति से मतिज्ञानावरणीय कर्म बंध हो ऐसे कार्य से निवृत्त होना।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म

शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं अथवा मन की सहायता से शास्त्रों को पढ़ने और सुनने से जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[५१] ऐसी श्रुतज्ञान रूप आत्मशक्ति को जो कर्मशक्ति आच्छादित कर देती है, उसे श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जब श्रुतज्ञानावरणीय कर्म अति प्रगाढ़ होता है, तब आत्मा को न अक्षर ज्ञान होता है और न लिपिज्ञान होता है।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में यद्यपि पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता अपेक्षित है,[५२] तथापि दोनों में अंतर है। किसी भी विषय का श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले उसका मतिज्ञान होना आवश्यक है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[५३] मतिज्ञान मूक है, उसमें शब्दोल्लेख नहीं होता। श्रुतज्ञान में शब्दोल्लेख होता है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है, जबकि श्रुतज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो तो भविष्यकाल का चिंतन करने वाली दीर्घ-दृष्टि प्राप्त नहीं होती, न उपदेश को समझने देती और न शास्त्र को पढ़ने देती।

तीन वर्ष की छोटी उम्र में वज्रस्वामी ने साध्वी जी के श्रीमुख से सुनते-सुनते ग्यारह अंग शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये थे। यह है श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का अद्भूत क्षयोपशम।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्मबंध के कारण और निवारण

श्रुतज्ञानियों की निंदा करने से और उनके साथ अभद्र व्यवहार करने से यह कर्म बंधता है। ज्ञान के उपकरण पेन, पुस्तक, धर्मग्रंथ, अखबार आदि फाडने से, पटकने से, क्रोध या लोभवश जलाने से भी इस कर्म का बंध होता है।

प्रतिदिन नया ज्ञान अर्जित करने का पुरुषार्थ न करने से अध्ययन-अध्यापन में विक्षेप डालने से, कण्ठस्थ ज्ञान का पुनरावर्तन न करने से, श्रुतज्ञान देने की शक्ति होते हुए भी प्रमादवश दूसरों को न पढ़ाने से, ज्ञान का अशुद्ध उच्चारण करने से और पढ़ने के लिए दूसरों को प्रेरित या प्रोत्साहित न करने से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है।

पूर्वजन्म में बाँधे हुए श्रुतज्ञानावरणीय कर्म इस जन्म में कैसे क्षय हो सकते हैं, यह भी जानना आवश्यक है।

१) 'मैनें श्रुतज्ञानावरणीय कर्म बाँधा हुआ है इसलिए मुझे इसका क्षय करना है।' ऐसा संकल्प प्रतिदिन करना चाहिए। संकल्प के माध्यम से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है।

२) श्रुत को विनय और बहुमान से पढ़ना चाहिए। प्रतिदिन पढ़ने पर याद न हो तो भी निराश हुए बिना सतत पढ़ने पर याद न हो तो भी निराश हुए बिना सतत पढ़ना चाहिए।

३) आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने जीवनकाल में १४४४ ग्रंथों की रचना की थी। उस समय लल्लिग श्रावक ने श्रुत साहित्य रचना में पूर्णरूप से सहयोग दिया था।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म

मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त पदार्थ का ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है। अवधि का अर्थ है सीमा या मर्यादा। वह रूपी पदार्थ को ही प्रत्यक्ष करता है, अरूपी को नहीं[५४] वह अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा में ही रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है।

अवधिज्ञान हजारों माइल दूर रहे हुए सजीव, निर्जीव पदार्थों को या घटनाओं को उसी तरह जान देख लेता है। जिस प्रकार खुली ऑखों वाला जानता देखता है। अवधिज्ञान पर कर्मों का आवरण आने से उसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। अवधिज्ञानावरण कर्म के उदय (प्रभाव) से आत्मा की अतीन्द्रिय ज्ञानक्षमता का अभाव हो जाता है।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म बंध के कारण बताते हुए कर्मग्रंथ में कहा है- आत्मा की अतीन्द्रिय ज्ञानशक्ति का अपलाप करने से उसके प्रति अश्रद्धा रखने से, आत्मा की ज्ञानशक्ति का निरर्थक एवं अनर्थकारी कार्यों में व्यय करने से, आत्म ज्ञानी पुरुषों की अविनय अशातना करने से तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति में रोडा डालने से यह कर्म बंधता है।

विशेषावश्यक भाष्य में अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम हेतु के दो उपाय बताये हैं।

१) अवेदी बनना अर्थात् मन, वचन, काया से वासना रहित बनना।

२) अल्पकषायी बनना अर्थात् कषायों की तीव्रता नहीं रखना।

मन:पर्यायज्ञान

इन्द्रियों और मन की अपेक्षा न रखते हुए, मर्यादा लिए हुए, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मन:पर्यायज्ञान कहलाता है। संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिंतन, मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष जाना जाता है, उसे मन:पर्यायज्ञान कहते हैं।[५५] जब मन किसी वस्तु का चिंतन करता है, तब चिंतनीय वस्तु के भेदानुसार चिंतनकार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियाँ धारण करता है, वे ही आकृतियाँ मन की पर्याय हैं। मन:पर्यायज्ञानी किसी बाह्य वस्तु को, क्षेत्र को, काल को तथा द्रव्यगत पर्यायों को नहीं जानता, किन्तु जब वे किसी के चिंतन में आ जाते हैं, तब मनोगत भावों को जानते हैं।[५६]

मन:पर्यायज्ञान ज्ञान को आच्छादित करनेवाला कर्म मन:पर्याय-ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। अप्रमादी विशुद्ध संयमी आत्मा ही इस कर्म का क्षय कर सकती है। यह ज्ञान

सातवें गुणस्थान में होता है, परंतु बाद में छट्ठे गुणस्थान में भी रहता है। इस सृष्टि में जितने भी मनुष्य है उन सभी के मनोगत भावों को मन:पर्याय-ज्ञानी जानता है। जबतक इन्द्रियाँ स्वच्छंदी हैं और कषायों की प्रबलता है, तब तक दूसरों के मनोगत भावों को या विचारों को नहीं जाना जा सकता।

मन:पर्यायज्ञान की विशेषता

अवधिज्ञान का विषय भी रूपी है और मन:पर्यायज्ञान का विषय भी रूपी है, क्योंकि मन भी पौद्गलिक होने से रूपी है, फिर अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायों को क्यों नहीं जान सकता ? तो इसका समाधान यह है कि, अवधिज्ञानी मन को तथा उसकी पर्यायों को भी प्रत्यक्ष जान सकता है किन्तु उसमें झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है।

जैसे कि सैनिक दूर रहे अपने साथियों को दिन में झण्डियों की विशेष प्रक्रिया द्वारा और रात्रि में प्रकाश की प्रक्रिया द्वारा अपने भावों को समझाते हैं, और उनके भाव समझते हैं, किन्तु अप्रशिक्षित व्यक्ति झण्डियाँ, प्रकाश आदि को देख सकता है और उनकी प्रक्रियाओं को भी देख सकता है, किन्तु उनके द्वारा व्यक्त मनोभावों को नहीं समझ सकता है। अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायों को प्रत्यक्ष तो जान सकता है, किन्तु मनोगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है, जबकि मन:पर्यायज्ञानी जान सकते हैं। यह उनका विशेष विषय है। यदि यह विशेषता न होती तो मन:पर्यायज्ञान को अलग से मानना ही व्यर्थ है।[५७]

केवलज्ञान

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियों में केवलज्ञानावरणीय अंतिम उत्तर प्रकृति है। जो शक्ति केवलज्ञान की ज्योति को आवृत्त करती है, उसे केवल ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। केवलज्ञान वह है, जो मन और इन्द्रिय की सहायता के बिना त्रिकालवर्ती समस्त मूर्त-अमूर्त ज्ञेय पदार्थों को एक साथ हस्तकामलवत् (हथेली पर रहे हुए आँवले की भाँति) प्रत्यक्ष जानने की शक्ति रखता है। यह ज्ञान अन्य सभी से विलक्षण, प्रधान, उत्तम और प्रतिपूर्ण है। यह समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने पर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों के नि:शेष हो जाने पर केवलज्ञान प्रकट होता है।

इस प्रकार प्रतिदिन उत्साहपूर्वक नया तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से, ज्ञान के साधनों का बहुमान करने से और नि:स्वार्थ भाव से ज्ञान की विशेष आराधना करने से ज्ञानावरण कर्म का संपूर्ण क्षय होता है। यही ज्ञानावरणीय कर्म को समझने की प्रक्रिया है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचों ज्ञान दो प्रमाणों में विभक्त हैं। उनमें पहले दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं[५८] क्योंकि इन दोनों ज्ञान के होने में इन्द्रियों और मन के सहयोग की अपेक्षा होती है और अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ये तीनों ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं।[५९] तत्त्वार्थसूत्र में[६०] यही कहा है।

यद्यपि अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान आत्मा की शक्ति के द्वारा मूर्त पदार्थों का ज्ञान करते हैं, किन्तु चेतनाशक्ति के अपूर्ण विकास के कारण उनकी समग्र पर्यायों और भावों को जानने में असमर्थ है, इसलिए इन दोनों ज्ञान को 'विकल प्रत्यक्ष' कहते हैं। जब कि केवलज्ञानी संपूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत् जानते हैं। अत: केवलज्ञान को 'सकल-प्रत्यक्ष' कहते हैं। केवलज्ञान में अपूर्णताजन्य कोई भेद प्रभेद नहीं होता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ और तज्जन्य पर्याय ऐसे नहीं है जो केवलज्ञान के द्वारा न जाने जाय।

ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव

ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप से दृष्टि गोचर होता है। पूर्वाचार्यों ने ज्ञानावरणीय कर्मबंध का दुष्प्रभाव बताते हुए कहा है 'जो मूढ़ मति मन, वचन, काया से ज्ञान एवं ज्ञानी की अशातना करते हैं, वे दुर्बुद्धि, मूर्ख, रोगी तथा गूंगे होते हैं तथा ज्ञान की विराधना करने से उनमें आधि-व्याधि उत्पन्न होती है।

कुछ विद्यार्थी बार-बार पढ़ते हैं तथा समझने का कठोर परिश्रम करते हैं फिर भी समझ नहीं पाते हैं। बार-बार रहने पर भी उन्हें याद नहीं रहता। पढ़ने बैठे तो उन्हें नींद आती है अथवा मन भटकता है। कुछ लोगों को ज्ञान के प्रति रुचि नहीं होती। ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव को दिग्दर्शित करने वाले जैन जगत् में **माष तुष मुनि** का उदाहरण प्रसिद्ध है। जिनके ज्ञानावरणीय कर्म का प्रगाढ़ उदय होने के कारण गुरु के द्वारा दिये गये केवल दो शब्द **'मा रुष मा तुष'** उन्होंने **'मास तुस'** अशुद्ध शब्द रूप में बारह वर्ष तक रहा। मुनि की विशेषता यह थी कि उद्वेग और क्षोभ रहित होकर श्रद्धा एवं तन्मयता के साथ रहते रहे थे। इससे ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव धीरे-धीरे समाप्त होने लगा और बारह वर्ष पश्चात् उन्हें मास तुस शब्द के अर्थानुसार (माष्) अर्थात् उडद और तुष अर्थात् छिलका, उडद के छिलके के पृथक्त्व की तरह शरीर व आत्मा का भिन्नत्व सिद्ध हो गया। फलत: उन्हें (मुनिको) केवलज्ञान प्रगट हो गया। यह था ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का दुष्प्रभाव और उससे सर्वथा मुक्त होने के पुरुषार्थ का प्रबल एवं सफल प्रभाव।[६१]

ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की, उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की, अबाधा काल तीन हजार वर्ष का।[६२]

दर्शनावरणीय कर्म का निरूपण

यह संसार आत्मा और कर्म के संयोग का फल है। न अकेली आत्मा संसारी हो सकती है और न अकेला कर्म कुछ कर सकता है। कर्म के साथ मिलने से ही आत्मा की संसारी अवस्था होती है। कर्म का मुख्य कार्य आत्मा को संसारी बनाना है। संसार की विभिन्न अवस्थाओं में आत्मा को परिभ्रमण कराने का कार्य कर्म कैसे करता है, इसे समझाने हेतु कर्मों का आठ भागों में वर्गीकरण किया है।

ज्ञानावरणीय कर्म के पश्चात् दर्शनावरणीय कर्म बताया गया है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण अर्थात् सामान्य बोध को आवृत करता है।[६३] अतः सामान्य बोध को आवृत्त करने वाले कर्म पुद्गल को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।[६४] बोध के सामान्य और विशेष दो रूप होते हैं। विशेष बोध को शास्त्रीय भाषा में 'ज्ञान' और सामान्य बोध को 'दर्शन' कहा है, अर्थात् सामान्य रूप से देखना दर्शन है। गोम्मटसार (कर्मकांड)[६५] और स्थानांगसूत्र[६६] में भी यही बात आयी है।

सामान्य बोध का अर्थ है, पदार्थों की सभी अवस्थाओं का बोध न होकर किसी एक अवस्था का बोध होना। एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं, जैसे सामने घड़ी पडी है तो सर्वप्रथम यह बोध होगा कि यह घड़ी है। उस समय उसके आकार, प्रकार, रंग, निर्माण, स्थान आदि बातों की जानकारी नहीं होती, केवल इतना ही जानना कि यह घड़ी है, इस सामान्य बोध को दर्शन कहते हैं और जब यह बोध विशाल रूप धारण कर ले तो यह बोध दर्शन न होकर ज्ञान कहलाएगा। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डालकर उसे प्रकट होने से रोकता है या सामान्य बोध पर पर्दा बनकर छा जाता है और पदार्थों की साधारण जानकारी भी नहीं होने देता है।

दर्शनावरणीय कर्म को द्वारपाल की उपमा दी गई है। जिस प्रकार राजा के दर्शन के लिए उत्सुक व्यक्ति को द्वारपाल रोक देता है। उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शन शक्ति पर पर्दा डालकर वस्तु के सामान्य धर्म का दर्शन (बोध) होने से रोक देता है और दर्शन शक्ति को प्रगट नहीं होने देता।[६७]

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति को कैसे आच्छादित करता है? उसके कौन-कौन से कारण है? इस कर्म के फल भोग (अनुभाव) कैसे होते हैं? आदि बातों का विश्लेषण ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही जानना क्योंकि दोनों ही कर्म ज्ञान को आवृत्त करते है। ज्ञान और दर्शन दोनों आत्मा के गुण हैं। एक विशेष बोध कराता है और एक

सामान्य बोध कराता है। दोनों की सभी बातें प्रायः समान है। अंतर इतना है कि दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के भेदों में अवश्य अंतर है।

दर्शनावरणीय कर्म छः प्रकार से बांधे

१) **दंसण पडिणियाए** -सम्यक्त्वी का अवर्णवाद बोले तो दर्शनावरणीय कर्म बांधे।

२) **दंसण निण्हवणियाए**- बोध बीज सम्यक्त्व दाता के नाम को छिपावे तो दर्शनावरणीय कर्म बाँधे।

३) **दंसण अंतरायेणं** - यदि कोई समकित ग्रहण करता हो उसे अंतराय दे दें तो दर्शनावरणीय कर्म बाँधे।

४) **दंसण पाउसियाए** - समकित तथा सम्यक्त्वी पर द्वेष करे तो दर्शनावरणीय कर्म बाँधे।

५) **दंसण आसायणाए** - समकित तथा सम्यक्त्वी की असातना करे तो दर्शनावरणीय कर्म बाँधे।

६) **दंसणा विसंवायणा जोगेणं** - सम्यक्त्वी के साथ खोटा व झूठा विवाद करे तो दर्शनावरणीय कर्म बाँधे।[६८]

दर्शनावरणीय कर्म नव प्रकार से भोग

१) निद्रा, २) निद्रा-निद्रा, ३) प्रचला, ४) प्रचलाप्रचला, ५) थीणद्धि (स्त्यानर्द्धि), ६) चक्षुदर्शनावरणीय, ७) अचक्षुदर्शनावरणीय, ८) अवधिदर्शनावरणीय, ९) केवल-दर्शनावरणीय,[६९] उत्तराध्ययनसूत्र,[७०] तत्त्वार्थसूत्र[७१] में और जैनतत्त्वप्रकाश[७२] में भी यही बात आयी है।

दर्शन के आवरण रूप निद्रा के पाँच कारण

१) निद्रा

जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी निद्रा आये कि सुखपूर्वक जाग सके अर्थात् जगाने में मेहनत नहीं पडती है, ऐसी निद्रा को 'निद्रा' कहते हैं। यह निद्रा प्रगाढ़ नहीं है, इस निद्रा वाले मनुष्य को सुखपूर्वक अल्प प्रयत्न से उठाया जा सकता है।

२) निद्रा-निद्रा

जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आये कि सोया हुआ मनुष्य बडी मुश्किल से जागे। उसे जगाने के लिए हाथ पकडकर हिलाना पडे, जोर से चिल्लाना पडे या दरवाजा खटखटाना पडे, ऐसी नींद को 'निद्रा-निद्रा' कहते हैं। ऐसी निद्रा जिस कर्म के प्रभाव से आती है, उसे निद्रा-निद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

३) प्रचला निद्रा

खडे-खडे या बैठे-बैठे ही नींद आ जाने को 'प्रचला' कहते हैं। जब किसी मनुष्य को इस प्रकार की नींद आती है, तब वे प्रवचन श्रवण करते हुए, किसी की बात सुनते हुए या टी.वी. देखते हुए बैठे-बैठे सो जाते हैं। पशु भी खडे-खडे निद्रा लेते हैं। इस कर्म के उदय से खडे-खडे या बैठे-बैठे निद्रा आती है, उसे प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।[७३]

४) प्रचला-प्रचला

जिस कर्म के उदय से चलते-फिरते नींद आ जाये। पशु चलते-फिरते सो जाते हैं। जिस कर्म के प्रभाव से जीव को चलते हुए निद्रा आती है उसे प्रचला-प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

५) स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि निद्रा

जिस कर्म के उदय से जागृत अवस्था में सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट हो जाये, उसे स्त्यानर्द्धि कहते हैं। इस निद्रा के उदय से जीव नींद में ऐसे असंभव कार्यों को भी कर लेता है, जिनका जागृत स्थिति में होना संभव नहीं है और इस निद्रा के दूर होने पर अपने द्वारा निद्रित अवस्था में किये गये कार्य का स्मरण भी नहीं रहता है।

स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है। जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रकट हो जाये। इस निद्रा वाला जीव मरने पर नरक में जाता है।[७४] उत्तराध्ययनसूत्र,[७५] जैनतत्त्वप्रकाश[७६] और तत्त्वार्थसूत्र[७७] में भी यही कहा है।

'सर्वार्थसिद्धिकार' ने इस निद्रा की तीन परिभाषाएँ प्रतिपादित की हैं- १) जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रकट हो जाये। २) जिसके उदय से आत्मा सुप्त अवस्था में रौद्र कर्म करता है। ३) जिस निद्रा में दिन में चिन्तित अर्थ और आकांक्षा का एकीकरण हो जाये, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा कहते हैं।

तीव्र लोभ और उग्र क्रोध इस निद्रा में निमित्त बनते हैं, इसलिए सोने से पूर्व मनुष्य को अपने क्रोध को उपशान्त करके सोना चाहिए। मनोविकारों को उपशांत करने के लिए और सद्विचारों में सोने के लिए ज्ञानियों ने सागारी संथारा ग्रहण करना चाहिए।

पाँच प्रकार की निद्रा का हेतु मुख्य रूप से प्रमाद को बताया है। प्रमाद के कारण दर्शनावरणीय कर्म बंधता है। अति अल्प प्रमाद से निद्रा, अल्प प्रमाद से निद्रा-निद्रा, ज्यादा प्रमाद से प्रचला, अति प्रमाद से प्रचला-प्रचला, तीव्र प्रमाद से स्त्यानर्द्धि निद्रा से

दर्शनावरणीय कर्म बँधता है। इस निद्रा का उदय हिंसा के तीव्र परिणाम के कारण होता है। अत: हिंसा का तीव्र परिणाम आत्मा को अधोगति में ले जाता है।

चक्षुदर्शनावरण

चक्षु के द्वारा जो वस्तु के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे 'चक्षुदर्शन' कहते हैं और चक्षु के द्वारा होने वाले उस सामान्य धर्म के ग्रहण को रोकने वाले कर्म को 'चक्षुदर्शनावरणीय' कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण

चक्षुरिन्द्रिय को छोडकर शेष स्पर्शन आदि चारों इन्द्रियाँ और मन के द्वारा होने वाले अपने-अपने विषय भूत सामान्य धर्म के प्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते हैं। उसके आवरण करने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण

इन्द्रियाँ और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का बोध होने को 'अवधिदर्शन' कहते हैं। उसको आवृत करने वाले कर्म को अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवलदर्शनावरण

संपूर्ण द्रव्यों के सामान्य धर्मों के अवबोध को केवलदर्शन एवं उसके आवरण करने वाले को केवलदर्शनावरण कहते हैं।[७८]

निद्रा मनुष्य के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। कम निद्रा वाला अप्रमादी मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषार्थ कर सकता है। तीर्थंकर भगवंतों ने निद्रा दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम करने हेतु श्रेष्ठ उपाय अभिकथित किया है, अप्रमत्त होकर परमात्मा की भक्ति करना और श्रुतज्ञान की आराधना में सतत संलग्न रहना। जीवन में अप्रमत्त बनना हो तो सदैव जागृत रहना होगा। धर्मपुरुषार्थ में जागृति और तीव्रता आने पर दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होता है।

दर्शनावरणीय कर्म का प्रभाव

दर्शनावरणीय कर्म उदय में आने पर मन और इन्द्रियों से होने वाले घट-पटादि पदार्थों का सामान्य बोध कुण्ठित हो जाता है। इस कर्म के प्रभाव से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को जन्म से ही आँखें प्राप्त नहीं होती। इस कर्म के उदय आने पर चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की आँखें नष्ट हो जाती हैं, या उन्हें अत्यंत कम दिखाई देता है, मोतीबिंदु आता है या नेत्र रोग हो जाते हैं।

इस कर्म के प्रभाव से प्राणियों के कान, नाक, जबान और स्पर्श ये इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं या उनकी इन्द्रियों से उन्हें सामान्य बोध भी स्पष्ट नहीं हो पाता अथवा मूक-बधिर (बहरा) अपंग हो जाते हैं। उन्हें जन्म से ही मन नहीं मिलता या मन मिलता है तो मनन शक्ति, विचार शक्ति और स्मरण शक्ति आदि अतीव मंद हो जाती है।

इसके अतिरिक्त दर्शनावरणीय कर्म उदय में आने पर जीव को निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और थीणद्धी (स्त्यानगृद्धि) इन पाँच प्रकार की निद्राओं में से स्वकर्मानुसार निद्रा आती है। जिसके कारण वस्तु का सामान्य बोध भी नहीं होता।

दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति

दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की, उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की, अबाधाकाल तीन हजार वर्ष की, प्रज्ञापना सूत्र[८०] तत्त्वार्थसूत्र[८१] और कर्मग्रंथ में[८२] भी इसका वर्णन आता है।

वेदनीय कर्म का निरूपण

जो कर्म आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव कराता है, वह 'वेदनीय कर्म' कहलाता है। सांसारिक प्राणियों का जीवन न एकांत सुखमय है और न एकांत दुःखमय वेदन रूप है। वेदनीय कर्म सांसारिक सुख-दुःख का वेदन कराता है। सामान्य रूप से 'वेदनीय' का शब्दशः अर्थ है जिसके द्वारा वेदन यानी अनुभव हो वह वेदनीय कर्म है। आत्मा के सुख-दुःख के उत्पादक कर्म को वेदनीय कर्म कहा है।

वेदनीय कर्म के प्रभाव से जो सुख-दुःख का अनुभव होता है[८३] वह सांसारिक, भौतिक, क्षणिक और पौद्गलिक होता है।[८४] आत्मा के अक्षय अनंत और अव्याबाध आत्मिक सुख से उनका कोई संबंध नहीं है। यह वैषयिक सुख, सुखाभास है और मन का माना हुआ सुख है, जिसमें दुःख मिश्रित है। इसलिए यह सुख-दुःख का लक्षण प्राणियों के मन से विशेष संबंधित है। कहा भी है 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्' अर्थात् अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से जो अनुकूल वेदना का अनुभव किया जाता है, वह सुख है और जिसमें प्रतिकूल वेदन का अनुभव किया जाता है, वह दुःख है।[८५]

वेदनीय कर्म की तुलना शहद से लिपटी हुई तलवार से की गई है जैसे तलवार की धार पर लगे हुए शहद को चाटने से सुख का अनुभव होता है। उसी प्रकार साता वेदनीय कर्म के उदय से सुख का अनुभव होता है; साथ ही मधुलिप्त तलवार को चाटते हुए जिह्वा के कट जाने पर दुःख का अनुभव होता है। उसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म के उदय से दुःख का

अनुभव भी होता है। यद्यपि प्राणियों की अनुभवधारा असंख्य है। तथापि कर्म मर्मज्ञों ने वेदनीय कर्म को सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दो उत्तर प्रकृतियों में समाविष्ट कर दिया है।

वेदनीय कर्म का विस्तार

वेदनीय कर्म के दो भेद - १) सातावेदनीय, २) असातावेदनीय कर्म[८६] उत्तराध्ययनसूत्र[८७] और तत्त्वार्थसूत्र[८८] में भी यही बात आयी है।

वेदनीय कर्म की सोलह प्रकृतियाँ - आठ सातावेदनीय की और आठ असातावेदनीय की इस प्रकार हैं। जब सातावेदनीय कर्म फलोन्मुख होता है, तब आठ प्रकार से आत्मा को फलभोग प्राप्त कराता है।

१) **मनोज्ञशब्द** - कर्णप्रिय, मधुर स्वर, अपने-पराये लोगों से सुनने को मिलते हैं।

२) **मनोज्ञरूप** - स्वपर का मनोज्ञ और सुंदर रूप देखने को मिलता है।

३) **मनोज्ञगंध** - मनोज्ञ सुगंध किसी भी निमित्त से प्राप्त होती है।

४) **मनोज्ञरस**- अत्यंत सरस, स्वादिष्ट मधुर एवं ताजा भोजनादि प्राप्त होता है।

५) **मनोज्ञस्पर्श** - मन पसंद नरम, कोमल, सुखद, संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श प्राप्त होते हैं।

६) **मन सौख्य (इष्ट सुख की उपलब्धि)**- मनोज्ञ मानसिक अनुभूतियाँ, प्रसन्नता एवं चित्त की अनुकूलता मिलती है।

७) **वचन सौख्य (सुखमय वचन की प्राप्ति)** - प्रिय मधुर एवं आदरास्पद प्रशंसनीय वचन चारों ओर से सुनने को मिलते हैं।

८) **काया (सौख्य) (शारीरिक सुख प्राप्ति)** - शरीर की निरोगिता, सुख-सुविधा, स्वस्थता एवं सुखद शारीरिक संवेदनाएँ प्राप्त होती है।[८९] स्थानांगसूत्र[९०] जैनतत्त्वप्रकाश,[९१] जैनागम स्तोक संग्रह,[९२] में भी यही बात कही है।

संक्षेप में जिस कर्म के प्रभाव से आत्मा को मन पसंद विषयों की प्राप्ति और अनुकूलता प्राप्त होती है। उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं।

असातावेदनीय कर्म का फलानुभाव

असातावेदनीय कर्म के प्रकोप से जीवन में जो भी घटना घटती है, वह दुःख, शोक, तनाव और क्लेश का कारण बनती है। असातावेदनीय कर्म जब उदय में आकर फलोन्मुख होता है, तब आठ प्रकार से आत्मा को फलभोग कराता है।

१) **अमनोज्ञशब्द** - अप्रिय या कर्णकटु कर्कश स्वर, अपने या पराये लोगों से सुनने को मिलते हैं।

२) **अमनोज्ञरूप** - स्वपर का अमनोज्ञ और सुंदरतारहित रूप देखने को मिलता है।

३) **अमनोज्ञगंध** - किसी भी निमित्त से अमनोज्ञ गंध की प्राप्त होती है।

४) **अमनोज्ञरस**- बेस्वाद, रुखा, सूखा या अत्यंत खट्टा, खारा, नीरस या बासी भोजनादि प्राप्त होता है।

५) **अमनोज्ञस्पर्श (अप्रिय स्पर्श प्राप्ति)** - अमनोज्ञ कठोर, कर्कश और दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श प्राप्त होती है।

६) **मन दुःख (दुर्भावयुक्त मन की प्राप्ति होती है।)**- अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियाँ, चिन्ता, तनाव, उद्विग्नता आदि की प्राप्ति होती है।

७) **वचन दुःख (अप्रिय वचन की प्राप्ति)** - निन्दा, अपशब्द या अपमानजनक शब्दों के रूप में अप्रिय वचन चारों ओर से सुनने को मिलते हैं।

८) **काया दुःख (अमनोज्ञ शरीर प्राप्ति)** - शरीर में विविध रोग, पीडा, अस्वस्थता, अंग-भंग या अंग विकलता आदि दुःखद शारीरिक संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।

संक्षेप में यदि कहे तो जिस कर्म के उदय से आत्मा को प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति तथा प्रतिकूल इंद्रिय विषयों की प्राप्ति आदि के कारण जीव को दुःख का अनुभव होता है यह सब असाता वेदनीय कर्म है।[९३] प्रज्ञापना सूत्र[९४] में भी यही बात कही है।

सातावेदनीय कर्म दश प्रकार से बांधे

१) **पाणाणुकंपियाए** - प्राणी की अनुकंपा करने से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

२) **भूयाणुकंपियाए** - भूत की अनुकंपा करने से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

३) **जीवाणुकंपियाए** - जीव अनुकंपा करने से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

४) **सत्ताणुकंपियाए** - सत्त्व अनुकंपा करने से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

५) **बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं अदुक्खणीयाए** - बहु प्राणी, भूत, जीव, सत्व को दुःख देना नही।

६) **असोयणियाए** - शोक करना नहीं।

७) **अझुरणियाए** - झूरना नहीं।

८) **अटीप्पणियाए** - अश्रुपात करना नहीं।

९) **अपीट्टणियाए** - पीटना नहीं।

१०) **अपरितावणियाए** - परितापना (पश्चाताप) करना नहीं।[९५]

असातावेदनीय बारह प्रकार से बांधे

१) **परदुक्खणियाए** - दूसरों को दु:ख देने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

२) **परसोयणियाए** - दूसरों को शोक कराने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

३) **परझुरणियाए** - दूसरों को झुराने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

४) **परटीप्पणियाए** - दूसरों के आँसू गिरवाने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

५) **परपीट्टणियाए** - दूसरों को पीटने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

६) **परपरितावणियाए** - दूसरों को परिताप देने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

७) **बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणियाए** - बहु प्राणी, भूत, जीव, सत्त्वों को दु:ख देने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

८) **सोयणियाए** - शोक करने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

९) **झुरणियाए** - झुरने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

१०) **टीप्पणियाए** - आँसू गिराने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

११) **पीट्टणियाए** - पीटने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

१२) **परितावणियाए** - परितापना देने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।[९६]

वेदनीय कर्म की स्थिति

अ) सातावेदनीय कर्म की स्थिति

जघन्य दो समय की[९७] उत्कृष्ट १५ कोडाकोडी सागरोपम[९८] की, अबाधाकाल करे तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त की उत्कृष्ट डेढ हजार वर्ष की होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में यही बात है।[९९]

ब) असातावेदनीय कर्म की स्थिति

जघन्य एक सागर के सात हिस्सों में से तीन हिस्से और एक पल्य के असंख्यातवें भाग गुणी उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की। अबाधाकाल की स्थिति तीन हजार वर्ष की।

साता असाता वेदनीय कर्म का प्रभाव

सातावेदनीय कर्म के प्रभाव से जीव को शरीर और मन से संबंधित सुखानुभाव होता है, जब कि असातावेदनीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को नरकादि गतियों में दु:ख का अनुभव

होता है। सातावेदनीय कर्म का प्रभाव अधिकांश रूप से देवगति, मनुष्यगति में होता है। जबकि असातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त दु:ख का अनुभव विशेषत: नरकगति और तिर्यंचगति में होता है।

सुख और दु:ख के संबंध में यहाँ एक बात अवश्य समझने योग्य है, सुख का अभिप्राय गति, स्थान, संयोग और परिस्थिति के अनुसार भिन्न देखा जाता है। एक प्राणी एक-एक वस्तु में सुख का अनुभव करता है, तो दूसरा प्राणी उसी की प्राप्ति में दु:खानुभाव एवं अरुचि महसूस करता है। जैसे एक राजा को राजवैभव में सुखानुभाव होता है, परंतु एक त्यागी महात्मा को राजसी ठाठ-बाट में कोई रुचि नहीं होती, बल्कि जबरन देने पर उन्हें उसमें दु:खानुभाव होता है। सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म का उदय प्राणी की अनुभूति के आधार पर समझना चाहिए।

संसार के समस्त प्राणियों के सभी प्रकार के दु:ख दूर हों ऐसा मैत्री भाव रखने से आरोग्य तो मिलता ही है, साथ-साथ शारीरिक, मानसिक सुख देने वाला परिवार भी मिलता है। जो रुग्ण है, ग्लान है, दर्दी है, चाहे गृहस्थ हो या संत, मनुष्य हो या पशु, बालक हो या वृद्ध सबकी सेवा करने से उत्कृष्ट सातावेदनीय कर्म बंधता है।

इस प्रकार जीवन की वाटिका में सुख के बीज बोने पर जीवन सुख शान्ति के सुगंधित पुष्पों से महकता रहेगा और दु:ख के बीज बोने पर व्याकुलता, शोक, चिंता आदि असातावेदनीय कर्म के फल प्राप्त होगें। अत: सुख पाने की चाह हो तो दु:ख के बीज कभी भी नहीं बोना चाहिए। सातावेदनीय कर्म के उदय काल में अनासक्तभाव बनाये रखना चाहिए और असातावेदनीय कर्म के उदय में अनाकूलता व समता भाव बनाये रखना ही वेदनीय कर्म के जानने, समझने का सार है।

मोहनीय कर्म का निरूपण

जो कर्म आत्मा को मोहित करके मूढ़ बना देता है, वह 'मोहनीय कर्म' है[१००] जिस प्रकार मदिरा आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से विवेक शक्ति तथा सोचने, विचारने की बुद्धि कुण्ठित एवं अवरुद्ध हो जाती है तथा जिस कर्म पुद्गल परमाणुओं से आत्मा की विवेक शक्ति, विचार शक्ति, आचार की कार्य क्षमता मंद और अवरुद्ध होकर दुष्कृत्य में प्रवृत्त होती है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

आठ कर्मों में सर्वाधिक शक्तिशाली मोहनीय कर्म है। सात कर्म प्रजा है, तो मोहनीय कर्म राजा है। इसके प्रभाव से वीतरागता प्रकट नहीं हो पाती। शेष घाति कर्म आत्मा की हर-एक शक्ति को आवृत करते हैं, जब कि मोहनीय कर्म आत्मा की अनेक प्रकार की

शक्तियों को न केवल आवृत करता है, अपितु उन्हें विकृत, मूर्च्छित और कुंठित भी कर देता है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के कारण आत्मा सम्यक् रूप से जान नहीं पाती, तो दर्शनावरणीय कर्म के कारण यथार्थ को देख नहीं पाती और अंतराय कर्म के कारण विविध शक्तियों को प्रकट नहीं कर पाती। मोहनीय कर्म के कारण आत्मा अपनी शक्ति का उपयोग करने में समर्थ होते हुए भी परभावों में इतनी फँस जाती है, कि यथार्थ आचरण नहीं कर पाती। यही कारण है कि मोहनीय कर्म दृष्टि में भी विकार पैदा करता है और आचरण में भी विकृति पैदा करता है।

इस संसार में प्राणियों के जीवन को सबसे अधिक मोहित करने वाला मोहनीय कर्म है। जिससे आत्मा अपने शुद्ध आत्म भाव को भूलकर राग-द्वेष में फँस जाती है। इसी कर्म के कारण आत्मा को स्वरूप रमण में बाधा उपस्थित होती है। आत्मा का सच्चा शत्रु मोहनीय कर्म ही है, ~~क्योंकि वह केंद्रीय कर्म है~~।

यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट होने पर भी अघाती कर्मों की सत्ता कुछ समय तक शेष रहती है, इसलिए उन अघाती कर्मों को मोहनीय कर्म के आधीन कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान देते हुए कर्म मर्मज्ञ कहते हैं कि मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण परंपरा रूप संसार के उत्पादन का सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं होने से उन कर्मों की सत्ता भी असाता के समान ही हो जाती है। यही कारण है, मोहनीय कर्म को जन्मरणादि दु:खरूप संसार का मूल कहा है।

आगमों में मोहनीय कर्म को सेनापति की उपमा दी गई है। जिस प्रकार सेनापति के चल बसने पर सेना में भागदौड़ मच जाती है, वैसे ही मोहनीय कर्म का नाश होने पर शेष तीन घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं और चार अघाति कर्म भी आयुष्य कर्म के क्षय होते ही समाप्त हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म ने बडे-बडे महापुरुषों को पराजित किया है। चार ज्ञान के धनी, लब्धि निधान गणधर इन्द्रभूति गौतम प्रशस्त मोह के कारण भगवान महावीर की उपस्थिति में केवलज्ञान को उपलब्ध नहीं कर सके थे।[१०१]

जड़ के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता है। नींव के बिना बिल्डिंग टिक नहीं सकती है उसी प्रकार आत्मा के संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण यह मोहनीय कर्म है।[१०२] मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है, क्योंकि सुख-दु:ख के निमित्त एवं संयोग तो वेदनीय कर्म के द्वारा प्रस्तुत हो जाते हैं, किन्तु उन पर राग-द्वेष करके आत्मा को एक को अच्छा और एक को बुरा, एक पर मनोज्ञता और दूसरे पर अमनोज्ञता की छाप मोहनीय कर्म के वशीभूत होकर लगती है।

वेदनीय कर्म आत्मा के सुख-दुःख पर असर करता है, जबकि मोहनीय कर्म आत्मा की आनंद सृष्टि को रोक देता है, इसी कारण सांसारिक सुख-दुःख के करंट का पॉवर हाऊस मोहनीय कर्म है। ऐसे मोहवश प्राप्त होने वाले भौतिक सुख के लिए भगवान महावीर ने कहा है **'खणमित्तसुक्खा बहुकाल दुक्खा'** क्षणमात्र का सुख चिरकाल तक दुःखों का सर्जन करता है।[१०३] रागद्वेषादि विकार मोहनीय कर्म के अंग हैं।

इस बात को स्पष्ट करते हुए 'स्थानांगसूत्र[१०४] में लिखा है, जैसे मदिरा पान किया हुआ मनुष्य अपना नियंत्रण खो देता है, मोहनीय कर्म के कारण अपने हिताहित का, अपने कर्तव्य का, सत्य-असत्य का भान भूल जाता है। हिताहित को कदाचित् समझ भी लें, किन्तु इस कर्म के उदय से आचरण नहीं कर पाता। आत्मा को संसार में रचा पचा रखने वाला एवं आत्मा का पौद्गलिक दुनिया के साथ तादाम्य कर देने वाला और अपने आप को बिल्कुल विस्मृत करके पर भाव को स्वभाव जैसा बना देने वाला मोहनीय कर्म ही है। मोहनीय कर्म के दो रूप हैं। श्रद्धा अर्थात् दर्शन रूप और चारित्र अर्थात् प्रवृत्ति रूप।

मोहनीय कर्म का विस्तार

मोहनीय कर्म के दो भेद - १) दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।[१०५] उत्तराध्ययनसूत्र[१०६] और स्थानांगसूत्र[१०७] में भी यही बात आयी है।

दर्शन मोहनीय कर्म का स्वरूप

जो वस्तु जिस प्रकार की हो उसका तात्त्विक दृष्टि से यथार्थ मूल्यांकन कर के अथवा हेय, ज्ञेय, उपादेय का विश्लेषण करके उसे वैसा जानना 'दर्शन' कहलाता है। जो कर्म ऐसा परिपूर्ण एवं शुद्ध दर्शन न होने दे वह 'दर्शन मोहनीय' कर्म है।

यहाँ पर ध्यान रखना है कि 'दर्शनावरणीय कर्म' के 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'सामान्य बोध' है जबकि दर्शन-मोहनीय कर्म के 'दर्शन' शब्द का अर्थ श्रद्धा या दृष्टि। दर्शन मोहनीय की प्रबलता के कारण शुद्ध देव, गुरु और धर्म के प्रति रुचि नहीं होती और न उन पर श्रद्धा होती है।

चारित्र मोहनीय कर्म का स्वरूप

मोहनीय कर्म का दूसरा भेद चारित्र मोहनीय है। स्वभाव की प्राप्ति या आत्म स्वरूप में रमणता को निश्चय चारित्र कहते हैं और अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति को व्यवहार चारित्र कहते हैं। व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, तप, समिति, गुप्ति आदि व्यवहार चारित्र की कोटि में हैं। आगमों में मोह और क्षोभ से विहीन समता युक्त परिणाम भाव सम्यक् चारित्र है।

दर्शन मोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ[१०८]

१) सम्यक्त्व मोहनीय, २) मिथ्यात्व मोहनीय, ३) मिश्र मोहनीय।

इन तीनों में मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाति है। सम्यक्त्व मोहनीय देशघाति है और मिश्र मोहनीय सर्वघाति है।

१) सम्यक्त्व मोहनीय

यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में व्याघात नहीं पहुँचाता परंतु इसके कारण आत्म स्वभाव रूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो पाता और सूक्ष्म पदार्थों के सोचने में शंका हुआ करती है, जिससे सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती है।

२) मिश्र मोहनीय

इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व-मिथ्यात्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है। और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती। इस रुचि को खट्टीमिट्ठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए।

३) मिथ्यात्व मोहनीय

जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। सन्मार्ग से विमुख रहता है, जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं करता है, अपने हिताहित का विचार करने में असमर्थ रहता है, हित को अहित, अहित को हित समझता है।[१०९] जैनागम थोक संग्रह में भी यही बात है।[११०]

चारित्र मोहनीय कर्म का स्वरूप

१) कषाय चारित्र मोहनीय, २) नोकषाय चारित्र मोहनीय[१११] प्रज्ञापना में भी यही कही है।[११२]

१) कषाय चारित्र मोहनीय

जो आत्मा के गुणों को कष (नष्ट करे) अथवा कष् का अर्थ है जन्म मरण रूप संसार, उसकी आय, अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे 'कषाय' कहते हैं।[११३]

'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में कषाय मोहनीय की परिभाषा देते हुए कहा है **'चारित्र परिणाम कषणात् कषायः'** अर्थात् जिसके कारण चारित्र के परिणाम क्षीण होते हों उसे 'कषाय'

कहते हैं। भगवान महावीर स्वामी ने दशवैकालिक सूत्र के माध्यम से क्रोधादि चारों कषाय संसार रूपी मूल का सिंचन करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ प्राणियों के जीवन का कितना अनिष्ट करते हैं, यह बताते हुए कहा है कि-

क्रोध- प्रीति का नाश करता है।

मान- विनय का, नाश करता है।

माया (कपट)- मित्रता का नाश करती है।

लोभ- समस्त गुणों का विनाश करने वाला है।[११४]

कषाय चारित्र मोहनीय कर्म की १६ प्रकृतियाँ

मूलरूप से कषाय के चार भेद हैं और उनकी तीव्रता-मंदता के आधार पर प्रत्येक कषाय के चार भेद होने से कषाय के कुल सोलह भेद प्ररूपित किये गये हैं। कषाय के मूल चार भेद - क्रोध, मान, माया, लोभ।

कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मंद स्थिति के कारण चार-चार प्रकार होते हैं, जो क्रमशः-

अनंतानुबंधी कषाय की (तीव्रतम स्थिति)

अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति)

प्रत्याख्यानावरण (तीव्रस्थिति) तथा संज्वलन (मंदस्थिति) होती है।

अनंनतानुबंधी कषाय

जो कषाय अनंत संसार का अनुबंध कराने वाला है, उन्हें अनंतानुबंधी कहते हैं। इस कषाय के प्रभाव से आत्मा अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करती है। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है और जीवन पर्यंत रहता है।[११५] सोये हुए साँप की भाँति निमित्त पाकर यह कषाय प्रगट रूप में प्रस्तुत होती है।

१) अनंतानुबंधी क्रोध

पर्वत फटने से पडी हुई दरार कभी नहीं जुडती, इसी प्रकार यह क्रोध परिश्रम और उपाय करने पर भी शांत नहीं होता है, ऐसा क्रोध एक जिंदगी में नहीं अनेक जन्मों तक चलता है।

२) अनंतानुबंधी मान

पाषाण के स्तंभ (खम्भे) के समान है अथवा वज्र स्तंभ के समान है। ऐसा स्तंभ टूट

जाता है, पर किसी भी तरह झुकता नहीं। इस प्रकार के अभिमानी ऐसे कठोर होते हैं, जो जीवन में कभी भी नम्र नहीं बनते।

३) अनंतानुबंधी माया

बांस के मूल की गाँठ के समान है,[११६] जैसे बांस के मूल की गाँठ किसी भी उपाय से सीधी या सरल नहीं हो पाती। इसी प्रकार अनंतानुबंधी माया जिंदगी भर बनीं रहती है। किसी भी उपाय से उसमें सरलता नहीं आ पाती।

४) अनंतानुबंधी लोभ

लोभ को किरमिची के रंग की उपमा दी है। जैसे-जैसे वस्त्र पर किरमिची रंग लग जाने पर उस वस्त्र को हजार बार साबुन से धोने पर भी वह रंग नहीं छूटता।

निष्कर्ष यह है कि, अनंतानुबंधी कषाय जन्म जन्मांतरों तक भी साथ-साथ चलती है। इसके प्रभाव से जीव नरक में ही उत्पन्न होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय

जिस कषाय के उदय से आत्मा यत्किंचित् भी त्याग-प्रत्याख्यान नहीं कर सकती उसे 'अप्रत्याख्यानावरण कषाय' कहते हैं। यह कषाय आत्मा को पापों से विरत नहीं होने देती। इस कषाय की अवधि अधिक से अधिक एक वर्ष की है।[११७] अप्रत्याख्यानावण कषाय में तीव्रता कम होने से मिथ्यात्व दूर होता है और सम्यक्त्व प्रकट होता है।

१) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध

सूखे तालाब में पडी हुई मिट्टी की दरार के समान है, जो शीघ्र नहीं मिटती किंतु उसमें धूल, पत्थर, कचरा आदि गिरता है तो दीर्घ काल में वह दरार भरती है। ऐसे ही यह क्रोध, कठिन उपाय से शांत होता है।

२) अप्रत्याख्यानावरण मान

मान हड्डी के समान है। जिस प्रकार मुडी हुई हड्ही को सीधी करनी हो तो लगभग एक वर्ष तक तेल आदि का मर्दन करने से वह सीधी हो जाती है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानी मान वाला अधिक से अधिक एक वर्ष तक अकडा रहता है, आखिर नम जाता है।

३) अप्रत्याख्यानावरण माया

माया को मेंढे के सिंग से उपमित किया गया है, जैसे मेंढे के सिंग में रही हुई वक्रता कठिन परिश्रम और अनेक उपायों से दूर होती है।

४) अप्रत्याख्यानावरण लोभ

यह लोभ कीचड़ के रंग के समान है। जैसे वस्त्र पर लगा हुआ कीचड़ का दाग कठिनाई से मिटता है। उसी प्रकार लोभ अत्याधिक प्रयत्न करने से दूर होता हो वह अप्रत्याख्यानावरण लोभ कहलाता है।

इस कषाय के उदय से तिर्यंच गति का बंध होता है। अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से श्रावक धर्म अर्थात् देशविरती की प्राप्ति नहीं होती, तथा श्रमण धर्म की भी प्राप्ति नहीं होती।[११८]

प्रत्याख्यानावरण कषाय

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से सर्व विरती रूप प्रत्याख्यान अर्थात् श्रमण धर्म (महाव्रत) की प्राप्ति नहीं होती, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इसकी स्थिति चार मास की है।[११९] इसके उदय से आत्मा मनुष्य गति का बंध करती है। साधु धर्म का पालन नहीं होता।[१२०]

१) प्रत्याख्यानावरण क्रोध

प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध को धूल पर खींची हुई लकीर के समान बताया गया है। जैसे धूल पर खींची हुई लकीर हवा आदि के द्वारा मिट जाती है, वैसे ही प्रत्याख्यानावरण क्रोध भी उपायों से शांत हो जाती है।

२) प्रत्याख्यानावरण मान

यह मान लकड़ी के खंभे के समान है, जैसे लकड़ी का स्तंभ तेल आदि में रखने से जल्दी नम जाता है, उसी प्रकार जो मान साधारण उपायों से मिट जाता है, वह प्रत्याख्यानावरण मान कहलाता है।

३) प्रत्याख्यानावरण माया

चलते हुए बैल के मूत्र की धारा के समान है, जैसे चलते हुए बैल के मूत्र से पडने वाली टेढी मेढी रेखा हवा आदि से सूख जाने पर मिट जाती है, वैसे ही प्रत्याख्यानावरण माया अल्प प्रयास से परिवर्तन हो जाती है।

५) प्रत्याख्यानावरण लोभ

लोभ गाडी के पहिये के खंजन जैसा अथवा काजल के रंग जैसा है जो थोडे से प्रयास से छूट जाता है।

संज्वलन कषाय

इस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती उसे 'संज्वलन कषाय' कहते हैं। यह केवलज्ञान की उत्पत्ति में बाधक बनता है। यह कषाय उपसर्ग या कष्ट आने पर साधु के चित्त में समाधि और शांति नहीं रहने देता, किन्तु इसका असर लंबे समय तक नहीं रहता। इस कषाय की अवधि अधिक से अधिक पंद्रह दिन की है। इस कषाय के वशीभूत हुई आत्मा देवगति में जाने योग्य कर्मों को ग्रहण करती है।[१२१]

१) संज्वलन क्रोध

जल में खीचीं जाने वाली रेखा के समान है यह क्रोध तत्काल शांत हो जाता है।

२) संज्वलन मान

यह मान कषाय बिना परिश्रम के झुकाये जाने वाले बेत के समान है जो अपने आग्रह को क्षणमात्र में छोडकर दूसरों के सामने तुरंत झुकने वाले होते हैं।

३) संज्वलन माया

बाँस के छिलके में रहने वाला टेढ़ापन बिना श्रम किये सीधा हो जाता है, उसी प्रकार यह माया भाव सरलता से दूर होता है।[१२२]

४) संज्वलन लोभ

हल्दी के रंग के समान है। जैसे वस्त्र पर लगा हुआ हल्दी का रंग सहज में उड जाता है, उसी प्रकार जो लोभ विशेष प्रयत्न किये बिना तत्काल अपने आप दूर हो जाता है, वह संज्वलन लोभ है।

२) नोकषाय चारित्र मोहनीय का स्वभाव

चारित्र मोहनीय का दूसरा प्रकार नोकषाय मोहनीय है। यहाँ 'नो' शब्द का अर्थ अल्प अथवा सहायक है। ये कषाय क्रोधादि के साथ उदय में आते हैं और उन्हें उत्तेजित करते हैं। कर्मग्रंथकारों ने नोकषाय की परिभाषा देते हुए कहा है जो कषाय तो न हो किन्तु कषाय के सहवर्ती हो, कषाय के उदय के साथ जिनका उदय होता है, उन्हें नोकषाय कहा है। इसे अकसाय भी कहते हैं।[१२३]

नोकषाय मोहनीय कर्म नौ भेद - १) हास्य, २) रति, ३) अरति,
४) भय, ५) शोक, ६) जुगुप्सा,
७) स्त्रीवेद, ८) पुरुषवेद, ९) नपुंसक वेद।[१२४]

१) हास्य

जिस कर्म के उदय से कारण वश अर्थात् भांड आदि की चेष्टा देखकर अथवा बिना कारण के हंसी आती है, उसे हास्य मोहनीय कर्म कहते हैं।

२) रति

जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों में राग, प्रेम हो, उसे रतिमोहनीय कर्म कहते हैं।

३) अरति

जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण के पदार्थों से अप्रीति, द्वेष होता है, उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं।

४) भय

जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण वश भय हो या डर हो उसे भय मोहनीय कर्म कहते हैं। भय के सात प्रकार हैं।[१२५] आवश्यक सूत्र[१२६] में भी यही बात आयी है।

५) शोक

कारणवश या बिना कारण ही जिस कर्म के उदय से शोक हो, उसे शोक मोहनीय कर्म कहते हैं।

६) जुगुप्सा

जिस कर्म के उदय के कारण या बिना कारण के ही बीभत्स-घृणाजनक पदार्थों को देखकर घृणा पैदा होती है, उसे जुगुप्सा मोहनीय कर्म कहते हैं।

मैथुन सेवन करने की इच्छा को 'वेद' कहते हैं। चिह्न विशेष को 'द्रव्य वेद' और तदनुरूप अभिलाषा को 'भाववेद' कहते हैं। वेद के तीन भेद : स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

७) स्त्रीवेद

जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो उसे स्त्रीवेद कहते हैं।

८) पुरुषवेद

जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो उसे पुरुषवेद कहते हैं।

९) नपुंसक वेद

जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे नपुंसक वेद कहते हैं।[१२७] इस प्रकार नोकषाय मोहनीय कर्म के नौ भेदों का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में आता है।[१२८]

मोहनीय कर्मबंध के ६ कारण

सामान्यतया मोहनीय कर्म का बंध छह कारणों से होता है।

१) तीव्र क्रोध, २) तीव्र मान, ३) तीव्र माया,
४) तीव्र लोभ, ५) तीव्र दर्शन मोहनीय, ६) तीव्र चारित्र मोहनीय।

उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा से दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म बंध के कारण पृथक्-पृथक् बताये हैं। स्थानांगसूत्र के अनुसार दर्शन मोहनीय कर्म के ५ कारण बताये हैं।

१) अरिहंत भगवंतों के अवर्णवाद (निंदा) करने से।
२) अरिहंत प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करने से।
३) आचार्य उपाध्याय का अवर्णवाद करने से।
४) श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से।
५) तपस्वी और ब्रह्मचारी का अवर्णवाद करने से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

क्रोधादि कषाय, हास्यादि नौकषाय में आसक्त आत्मा चारित्र मोहनीय कर्म का बंध करती है।

मोहनीय कर्म पांच प्रकार से भोगे

मोहनीय कर्म सभी कर्मों में प्रबलतम एवं भयंकर है। इस कर्म का फल जीवात्मा पांच प्रकार से भोगता है।

१) सम्यक्त्व मोहनीय

सम्यक्त्व मोहनीय का फलभोग समकित की प्राप्ति नहीं होना।

२) मिथ्यात्व मोहनीय

मिथ्यात्व मोहनीय का फल भोग तत्त्वों का अयथार्थ याने कि विपरीत श्रद्धान होना।

३) मिश्र मोहनीय

मिश्र मोहनीय का फल भोग तात्त्विक श्रद्धान में डावाँडोल होना।

४) कषाय चारित्र मोहनीय

कषाय चारित्र मोहनीय का अनुभाव क्रोधादि कषायों का उत्पन्न होना।

५) नोकषाय चारित्र मोहनीय

नोकषाय चारित्र मोहनीय का अनुभाव है हास्य भयादि जो बाँधा है तदनुसार नोकषायों का उत्पन्न होना।[१२९]

मोहनीय कर्म का प्रभाव

दर्शन मोहनीय कर्म का ऐसा प्रबल प्रभाव है, जिससे आत्मा, पर-पदार्थों में रुचि रखती है। जैसे स्त्री पुत्रादि मेरे हैं, धन-धान्यादि संपत्ति मेरी है, मेरे पन की कल्पना करती हुई आत्मा उनमें इष्ट-अनिष्ट का भाव रखती है, उनके उपभोग में सुख मानती है और वियोग में दुःख मानती है। तात्त्विक विवेक के अभाव में संसारी जीव बाह्य पदार्थों में उलझा रहता है तथा पदार्थों की प्राप्ति के लिए अपना बहुमूल्य समय एवं शक्ति भी खर्च कर देता है।

तत्त्वोपदेश मिलने पर भी उनकी मति एवं गति बाहर से हटकर अन्तर्मुखी नहीं होती। कदाचित् क्षणिक वैराग्य आ जाये, लेकिन लंबे समय तक वैराग्य भावों के टिकना कठिन है। दर्शन मोहनीय के प्रभाव से आत्मा तात्त्विक निरीक्षण परीक्षण में न लग कर निंदा आलोचना करने में अपनी शक्ति लगा देती है, इस प्रकार मिथ्या श्रद्धा रूप मोह को दर्शन मोहनीय कहा गया है।

मोहनीय कर्म को यथार्थ रूप से समझकर इस प्रबलतम कर्म पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए तथा जिन कारणों से इन प्रकृतियों का आगमन और बंध होता है उनसे बचने का अर्थात् नये आते हुए कर्मों को रोकने का और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा (क्षय) करने का पुरुषार्थ सतत करना चाहिए।

मोहनीय कर्म की स्थिति

जघन्य अन्तर्मुहूर्त की, उत्कृष्ट ७० कोडाकोडी सागरोपम की, अबाधाकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट सात हजार वर्ष का[१३०]

आयुष्य कर्म का निरूपण

आयुष्य कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और इसके क्षय होने से मृत्यु का आलिंगन करता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक इन चार गतियों में से किस आत्मा को कितने काल तक अपना जीवन वहाँ बिताना है या उस नियत शरीर से बद्ध रहना है, इसका निर्णय आयुष्य कर्म करता है। यह इस आयु कर्म का प्रभाव है, जिसके कारण आत्मा एक गति और शरीर को छोडकर दूसरी गति व शरीर को धारण करती है।

आयुकर्म का कार्य आत्मा को सुख-दुःख देना नहीं है, अपितु नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में से किसी एक गति में निश्चित अवधि तक बनाये रखना है। जब आयुष्य कर्म

का भोग कर लिया जाता है। तब इस शरीर से छुटकारा मिलता है। चाहे कोई व्यक्ति दु:खद या सुखद स्थिति में क्रमश: मरने या जीने की इच्छा रखें किन्तु आयुष्य कर्म के अस्तित्व तक उन स्थितियों को उसे भोगना ही पडता है।

आयुष्य कर्म का स्वभाव कारागृह के समान बताया है।[१३१] यह कर्म आत्मा के अविनाशित्व गुण को रोक देता है। आयुष्य कर्म का स्वभाव पैर में पडी हुई बेडी के समान बताया है।[१३२] जैसे पैर में बेडी पड जाने पर मनुष्य एक ही स्थान से बंध जाता है, वैसे ही आयुष्य कर्म आत्मा को उसी जन्म में निर्धारित अवधि तक रोक रखता है और उसके उदयकाल में उस जन्म में छुटकारा नहीं मिलता। जैसे जेल में पडा हुआ मनुष्य उससे बाहर निकलना चाहता है, परंतु सजापूर्ण हुए बिना नहीं निकल सकता, वैसे नरकादि गतियों में रही हुई आत्मा आयुष्य पूर्ण हुए बिना उस गति को छोड नहीं सकती।

आयुष्य कर्म का विस्तार

आयुष्य कर्म की चार प्रकृति - १) नरक का आयु, २) तिर्यंच का आयु, ३) मनुष्य का आयु, ४) देव का आयु[१३३]

उत्तराध्ययन सूत्र में[१३४] भी यही कहा है।

आयुष्य कर्म १६ प्रकार से बाँधे

स्थानांग सूत्र[१३५] में नरकायुष्य कर्म बंध के चार कारण बताये गये हैं। प्रज्ञापनासूत्र[१३६] और तत्त्वार्थसूत्र[१३७] में भी यही कहा है।

१) महारंभ, २) महापरिग्रह,
३) मद्यमांस का सेवन, ४) पंचेन्द्रियवध।

१) महारंभ

आरंभ अर्थात् हिंसाजनक क्रिया कलाप। तीव्र क्रूर भावों के साथ अधिक संख्या या अधिक मात्रा में किया गया कार्य महारंभ कहलाता है। जो आत्मा महारंभ में आसक्त रहती है, वह नरक गति का आयुष्य बाँध लेती है। शास्त्र में काल सौरिक कसाई का वर्णन आता है। जो लोग बडे पैमाने पर पार्टी महाभोज आयोजित करते हैं, जिसमें त्रस जीवों की हिंसा होती हो, फलस्वरूप उन्हें नरक गति के मेहमान बनना पडता है।[१३८]

२) महापरिग्रह

महापरिग्रह का अर्थ है वस्तुओं पर अत्यंत मूर्च्छाभाव या आसक्ति रखना। अत्यधिक परिग्रह रखने का भाव यानी अत्यधिक संचय करने की वृत्ति। विशाल धन संपत्ति होने मात्र से कोई महापरिग्रही नहीं हो जाता। भरत चक्रवर्ती के पास छ:खण्ड का साम्राज्य तथा

विशाल वैभव था, किन्तु वे महापरिग्रही नहीं थे, क्योंकि वे अनासक्त थे। जिसके पास संपत्ति न हो परंतु इच्छा आकांक्षा है तो वह भी परिग्रही है संपत्ति, वैभव हो या न हो जहाँ आसक्ति है वहाँ परिग्रह है। **मूर्च्छा परिग्रह**[१३९]

३) मद्यमाँस का सेवन

माँस, मछली और अंडे आदि का सेवन करना करवाना भी तीव्र हिंसाकारक परिणाम होने के कारण नरकायु का बंध कराती है।[१४०]

४) पंचेन्द्रियवध

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय का प्रमत्त योगपूर्वक संकल्प की बुद्धि से वध करना। जो लोग कसाईखाना चलाते हैं, गर्भपात स्वयं करना या दूसरों को भी प्रेरणा देना, उसे नारकीय जीवन प्राप्त होता है।

तिर्यंच आयुष्य कर्म ४ प्रकार से बाँधे

१) माया (कपट) करना, २) गूढ माया (रहस्यपूर्ण कपट),
३) मृषावाद (असत्य भाषण), ४) खोटा तोल, खोटा माप।

१) माया करना (कपट करना)

कुटिलता रखना या छल कपट करना, मन में कुछ और रखना, बहार कुछ और दिखाना अर्थात् ठग और धोखेबाजी करना तिर्यंचायु का कारण है। उदा. ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र में मल्लि भगवती का वर्णन है जिन्होंने माया का सेवन किया था।[१४१]

२) गूढ माया करना (रहस्यपूर्ण कपट करना)

कपट को छिपाना। हृदय में किसी बात को छिपाकर रखना और बाहर में कुछ और दिखाना। धूर्तता और ठगी करने से तिर्यंचायु का बंध होता है।

३) मृषावाद (असत्य भाषण)

क्रोध, लोभ, भय और स्वार्थ के कारण मनुष्य असत्य भाषण करता है। असत्य भाषण का परिणाम पशु जीवन प्राप्त होता है। झूठ बोलते समय अनेक दोषों की और कुसंस्कारों की पुष्टि होती है, वह महाघातक है। इस प्रकार तिर्यंचायु का बंध होता है।[१४२]

४) झूठा तौल-माप करना

अच्छी वस्तु दिखाकर खराब वस्तु देना या तौल माप कर देना। व्यावहारिक जगत में छल कपट करना विश्वासघातक है। धार्मिक जगत में छल कपट महाघातक है। 'सूत्रकृतांग' सूत्र में कहा है 'जो मायापूर्वक आचरण करता है, वह अनन्तबार जन्ममरण करता है।[१४३]

मनुष्य आयुष्य चार प्रकार से बाँधे

१) प्रकृति से भद्र (सरलता), २) प्रकृति से विनय,
३) सानुकोषे (दया), ४) अमत्सर (ईर्षारहित)

१) प्रकृति से भद्र (सरलता)

मन, वचन, काया की एकरूपता को सरलता कहते हैं। जहाँ हृदय की सरलता हो, वहाँ धर्म के बीजों का वपन होता है।[१४४] इसी कारण प्रकृति की भद्रता को मनुष्यायु बंध का कारण कहते हैं।

२) प्रकृति से विनय

विनम्रता का अर्थ दबकर चलना या डर कर रहना नहीं है। नम्रता का अर्थ अन्तस् से झुकना। झुकने से हृदय के द्वार खुलते हैं। विनयभाव ही मनुष्यायु का बंध कराता है। उत्तराध्ययनसूत्र में[१४५] कहा है- 'कि विनय धर्म का मूल है'।

३) दयालुता (सानुकोषे)

दूसरों के दु:ख में दु:खी होना दया है। दयापूर्ण हृदय में सद्भाव एवं सहयोग का जन्म होता है। अपने सुख का त्याग करके भी दूसरों के कष्टों को दूर करने का भाव जिस हृदय में हो वह मनुष्यायु का बंध करता है।

४) अमत्सर (ईर्षारहित होना)

ईर्षा की अग्नि समस्त सुखों की जला देती है। दूसरों के सुखों को देखकर जो व्यक्ति जलता है, कुढता है, उसे मनुष्यायु प्राप्त नहीं होती है।

देवआयुष्य चार प्रकारे बाँधे

१) सराग संयम, २) संयमासंयम,
३) बालतप, ४) अकाम निर्जरा[१४६]

१) सराग संयम

संयम का अर्थ है आत्मा को पापों से संवृत करना, हिंसादि सभी पापों से विरत रूप चारित्र ग्रहण करने पर भी जब तक राग या कषाय का अंश शेष है, तब तक संयम शुद्ध नहीं होने पर उसे सराग संयम कहते हैं। शुद्ध संयम से कर्म क्षय होता है, किन्तु रागयुक्त संयम पालने से देवायु का बंध होता है।

२) संयमासंयम

कुछ संयम और कुछ असंयम। इसे देशविरति चारित्र कहते हैं। श्रावक के व्रत में स्थूल रूप से हिंसा, झूठ, चोरी आदि का प्रत्याख्यान होता है, किन्तु सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की आरंभजा हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं होता। ऐसे संयमासंयम का पालन करने वाला गृहस्थ भी देवायु का बंध करता है।

३) बालतप

इसका अर्थ है अज्ञान युक्त तप या ज्ञान रहित तप। जिस तप में आत्मशुद्धि का लक्ष्य न होकर अन्य कोई भौतिक या लौकिक लक्ष्य हो, उसे बाल तप कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के अभाव में किया गया यह अज्ञान तप भी देवायु का बंध कराता है। आगमों में ऐसे अनेक बाल तपस्वियों का वर्णन है। तामली तापस, कमठ, अग्निशर्मा आदि भी बालतप के फलस्वरूप देवगति में गये।

४) अकाम निर्जरा

अनिच्छा, दबाव, भय, पराधीनता, लोभवश, मजबूरी या भूख आदि के कष्ट को सहन करना अकाम निर्जरा है। यद्यपि नारकी जीव भयंकर कष्ट सहते हैं। उन्हें अनिच्छा से कष्ट सहना पडता है तथापि सम्यक्ज्ञान न होने से वे कष्ट के समय में समभाव एवं आत्मचिंतन नहीं कर पाते। मजबूरी में कष्ट सहने से उनकी अकाम निर्जरा होती है किन्तु साथ ही दुर्ध्यान होने से वे देवायु का बंध नहीं कर पाते। इस प्रकार सोलह कारणों से चार आयु का बंध होता है। उसका फल है उस आयुष्य की प्राप्ति होना।[१४७]

आयुष्य कर्म ४ प्रकार से भोगे

१) **नेरिय** - नरक का आयुष्य भोगते हैं।

२) **तिर्यंच** - तिर्यंच का आयुष्य भोगते हैं।

३) **मनुष्य** - मनुष्य का आयुष्य भोगते हैं।

४) **देव** - देवता का आयुष्य भोगते हैं।[१४८] उत्तराध्ययन सूत्र,[१४९] प्रज्ञापना सूत्र,[१५०] और तत्त्वार्थसूत्र[१५१] में भी यही कहा है।

आत्मा आयुष्य कर्म कब बाँधती है?

इस संसार में चार प्रकार के जीव हैं- देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य। देवों और नारकों का आयुष्य उनकी छह महीने की आयु शेष रहने पर आयु का बंध हो जाता है। मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय का आयुष्य इस प्रकार से बँधता है, वर्तमान जन्म की निश्चित आयु को तीन भागों में बाँटने पर उनमें से दो भाग बीत जाने के बाद जो शेष रहे आयु उस एक

भाग में अगले जन्म की आयु बांध सकती है। यदि उस समय आयु न बँधे तो शेष रहे एक भाग को तीन हिस्सों में बाँटने पर उनमें से दो भाग बीत जाने के बाद जो शेष बचे, उस एक हिस्से में आयु बंधती है। इस प्रकार अंतिम अन्तर्मुहूर्त में आयुष्य अवश्य ही बँधती है।

प्रत्येक आत्मा अपने जीवनकाल में प्रतिक्षण आयुकर्म भोगती है। और प्रतिक्षण आयु कर्म के परमाणु भोगने के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान जीवन के पूर्वबद्ध आयुकर्म के समस्त परमाणु क्षीण होकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, उस समय प्राणी को अपना वर्तमान शरीर छोडना पडता है। वर्तमान शरीर को छोडने से पूर्व, भावी शरीर के आयु कर्म का बंध हो जाता है।

एक प्रश्न सभी के मस्तिष्क में उभरता है, जब आयुष्य कर्म की कालावधि बिल्कुल नियत है तो अकाल मरण और आकस्मिक मरण कैसे और क्यों होता है? इनका समाधान जैन कर्म विज्ञान वेत्ताओं ने दो प्रकार का आयुष्य समझाकर स्पष्ट किया है। आयुष्य दो प्रकार का है, अपवर्तनीय आयुष्य, और अनपर्वतनीय आयुष्य।

अनपवर्तनीय आयुष्य वह है जो बीच में टूटती नहीं और अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है, अर्थात् जितने काल के लिए बंधी है उतने काल तक भोगी जाये वह 'अनपवर्तनीय आयुष्य' है।[१५२] इसमें आयुष्य कर्म का भोग स्वाभाविक एवं क्रमिक रूप से धीरे-धीरे होता है। देव, नारकी, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवादि उत्तमपुरुष चरम शरीरी और असंख्यात वर्षजीवी अकर्मभूमि के मनुष्य और कर्मभूमि में पैदा होने वाले यौगलिक मानव और तिर्यंच ये सब अनपर्वतनीय आयुष्य वाले होते हैं।

अपर्वतनीय आयुष्य वह है जो आयुष्य किसी शस्त्र आदि का निमित्त पाकर बाँधे गये नियत समय के पहले भोग ली जाती है। इसमें आयुष्य कर्म शीघ्रता से एक साथ भोग लिया जाता है। अर्थात् आयु का भोग क्रमिक न होकर आकस्मिक रूप से होता है उसे अपर्वतनीय आयुष्य कहा जाता है। इसे व्यावहारिक भाषा में अकाल मृत्यु अथवा आकस्मिक मरण भी कहते हैं। बाह्य कारणों का निमित्त पाकर बाँधा हुआ आयुष्य अन्तमुर्हूत में अथवा स्थितिपूर्ण होने से पहले शीघ्रता से एक साथ भोग लिया जाता है।

अपवर्तनीय और अनपर्वतनीय आयुष्य को क्रमशः सोपक्रम और निरुपक्रम आयुष्य कहा जाता है।[१५३] सोपक्रम आयुष्य कर्म बीच में भी कभी पूर्ण हो सकती है। अनपर्वतनीय या निरुपक्रम आयुष्य वाले मनुष्यों को आघात तो लगते हैं, परंतु आयुष्य कर्म नहीं टूटता। 'स्थानांगसूत्र' में आयुष्यपूर्ण किये बिना बीच में मृत्यु हो जाने के सात कारण बताये हैं[१५४] अध्यव्यवसाय, निमित्त, आहार, वेदना, परागात, स्पर्श, श्वास निरोध इन सात कारणों से अपर्वतनीय आयु के हैं। जीव का आयु नियत समय के पूर्व पूर्ण हो जाता है।

आयुष्य कर्म का प्रभाव

आयुष्य कर्म के प्रभाव से जीवात्मा को विविध अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। लोग असह्य वेदना से छुटकारा पाने के लिए शीघ्र मृत्यु चाहते हैं, परंतु आयुष्य कर्म पूर्ण न हो तब तक मौत नहीं आ सकती है। देवगति के देवों को अपना अपार सुख वैभव छोडने की इच्छा नहीं होती और मनुष्यगति के मनुष्य भी अपनी समृद्धि छोडना नहीं चाहते, फिर भी उन्हें आयुष्य कर्म पूर्ण होने पर विवशता से बरबस सब छोडना पडता है। उसी प्रकार नारकी पल-पल मौत की इच्छा करते हैं, परंतु जब तक आयुष्य कर्म पूरा न हो तब तक मर नहीं सकता।

आयुष्य कर्म की स्थिति

नरक व देव की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और अन्तर्मुहूर्त की उत्कृष्ट तेतीस सागर और करोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक। मनुष्य, तिर्यंच की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्य कोडपूर्व का तीसरा भाग अधिक।[१५५]

नामकर्म का निरूपण

नाम कर्म को चित्रकार की उपमा दी गई है।[१५६] जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे चित्र बनता है, उनमें विभिन्न रंग भरता है, उनकी विविध आकृतियाँ बनाता है, वैसे नाम कर्म आत्मा के अच्छे-बुरे विभिन्न प्रकार के रूप बनाता है। इसी कर्म के कारण किसी जीव में सुंदरता और किसी में असुंदरता के दर्शन होते हैं।

चाण्डाल पुत्र हरिकेशी[१५७] के बीभत्स शरीर का तथा ऋषिवर अष्टावक्र की शरीरगत वक्रता का कारण नामकर्म ही था। स्थानांगसूत्र की टीका में कहा गया है, 'नामकर्म आत्मा के अरूपित्व शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देवरूप प्रदान करता है। यह नाम कर्म का चमत्कार है कि, वह किसी की आकृति निग्रो जैसी बना देता है, तो किसी की चाइनीज जैसी बना देता है। आत्मा के अरूपित्व गुण को ढँक कर रूपी शरीर और उससे संबंधित अंगोपांगादि प्रदान करना नाम कर्म का कार्य है।[१५८]

नाम कर्म का विस्तार

नाम कर्म के दो भेद - १) शुभ नाम, २) अशुभ नाम।[१५९]

शुभ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पापरूप हैं।[१६०] अपेक्षा भेद से नाम कर्म के ४२, ९३ और १०३ और ६८ भेद हैं। प्रज्ञापना,[१६१] तत्त्वार्थसूत्र[१६२] और समवायांग[१६३] गोम्मटसार[१६४] में भी यही कहा है।

नाम कर्म के अपेक्षा भेद के कारण ४२ और ९३ भेदों में कुछ प्रकृतियाँ अवान्तर भेदवाली हैं और कुछ अवांतर भेदवाली नहीं हैं। जिस प्रकृति के अवान्तर भेद होते हैं उन्हें

पिण्ड प्रकृति और जिनके अवांतर भेद नहीं होते हैं उन्हें प्रत्येकप्रकृति कहते हैं। सबसे पहले ४२ भेदों का कथन करते हैं।

पिण्ड प्रकृतियाँ १४ हैं

१) गति, २) जाति, ३) शरीर, ४) अंगोपांग,
५) बंधन, ६) संघातन, ७) संहनन, ८) संस्थान,
९) वर्ण, १०) गंध, ११) रस, १२) स्पर्श,
१३) आनुपूर्वी, १४) विहायोगति।[१६५]

प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ हैं

१) पराघात, २) उच्छ्वास, ३) आताप, ४) उद्योत,
५) अगुरुलघु, ६) तीर्थंकर, ७) निर्माण, ८) उपाघात।[१६६]

त्रस दशक

१) त्रसनाम, २) बादरनाम, ३) पर्याप्तनाम, ४) प्रत्येकनाम,
५) स्थिरनाम, ६) शुभनाम, ७) सुभगनाम, ८) सुस्वरनाम,
९) आदेयनाम, १०) यशःकीर्तिनाम।

स्थावर दशक

१) स्थावरनाम, २) सूक्ष्मनाम, ३) अपर्याप्तनाम, ४) साधारणनाम,
५) अस्थिरनाम, ६) अशुभनाम, ७) दुर्भगनाम, ८) दुःस्वरनाम,
९) अनादेयनाम, १०) अयशःकीर्तिनाम।

इस प्रकार १४ पिण्ड प्रकृतियाँ, ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ, त्रस दशक और स्थावर दशक कुल ४२ प्रकृतियों का वर्णन किया है। त्रस दशक की प्रकृतियों की गणना पुण्य प्रकृतियों में और स्थावर दशक की प्रकृतियों की गणना पाप प्रकृतियों में की जाती है।

अपेक्षा भेद से बनने वाले ९३ भेदों को कहने के लिए १४ पिण्ड प्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियों की संख्या एवं परिभाषायें इस प्रकार हैं।

१) गतिनामकर्म के ४ भेद

१) नरकगति, २) तिर्यंचगति, ३) मनुष्यगति, ४) देवगति[१६७]

२) जातिनामकर्म के ५ भेद

१) एकेन्द्रिय, २) द्वीन्द्रिय, ३) त्रीन्द्रिय, ४) चौरेन्द्रिय, ५) पंचेन्द्रिय।

३) शरीर के पांच भेद

१) औदारिकशरीर, २) वैक्रियकशरीर, ३) आहारकशरीर,
४) तैजसशरीर, ५) कार्मणशरीर।

४) शरीर अंगोपांग के तीन भेद

१) औदारिकशरीर अंगोपांग, २) वैक्रिय अंगोपांग, ३) आहारक शरीर अंगोपांग।

५) शरीर बंधन नाम के पांच भेद

१) औदारिकशरीर बंधन, २) वैक्रियकशरीर बंधन,
३) आहारकशरीर बंधन, ४) तैजस् शरीर बंधन, ५) कार्मणशरीर बंधन

६) शरीर संघात करण नाम के पांच भेद

१) औदारिक शरीर संघात करण, २) वैक्रियक शरीर संघात करण,
३) आहारक शरीर संघात करण, ४) तैजस् शरीर संघात करण,
५) कार्मण शरीर संघात करण।

७) संघयण नाम के छः भेद

१) वज्रऋषभनाराच संघयण, २) ऋषभनाराच संघयण, ३) नाराच संघयण,
४) अर्धनाराच संघयण, ५) कीलिका संघयण, ६) सेवार्त संघयण।

८) संस्थान नाम के छः भेद

१) समचतुरस्त्र संस्थान, २) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान,
३) सादिक संस्थान, ४) कुब्ज संस्थान,
५) वामन संस्थान, ६) हुंडक संस्थान

९) वर्ण नाम के पांच भेद

१) कृष्ण, २) नील, ३) रक्त, ४) पीत, ५) श्वेत[१६८]

१०) गंध के दो भेद

१) सुरभिगंध, २) दुरभिगंध

११) रस के पांच भेद

१) तीखा, २) कडूवा, ३) कसैला, ४) खट्टा, ५) मीठा

१२) स्पर्श के आठ भेद

१) लघु - हल्का, २) गुरु - भारी, ३) कर्कश - कठोर,
४) कोमल - मृदु, ५) शीत - ठंडा, ६) उष्ण - गरम,
७) रूक्ष - रूखा, ८) स्निग्ध - चिकना

१३) अगुरुलघु नाम का एक भेद

१४) उपघात नाम का एक भेद

१५) पराघात नाम का एक भेद

१६) आनुपूर्वी के चार भेद

१) नरकानुपूर्वी, २) तिर्यंचानुपूर्वी,
३) मनुष्यानुपूर्वी, ४) देवानुपूर्वी[१६९]

१७) उच्छ्वास नाम नाम का एक भेद

१८) उद्योत नाम का एक भेद

१९) आतापं नाम का एक भेद

२०) विहाय गति नाम के दो भेद

१) प्रशस्त विहाय गति : गंध हस्ती के समान शुभ चलने की गति।

२) अप्रशस्त विहाय गति : ऊँट के समान अशुभ चलने की गति।

नाम कर्म की चौदह पिंड प्रकृतियों के उक्त प्रभेदों को मिलाने से उत्तर भेदों की समस्त संख्या ६५ होती है। २८ प्रकृतियों को मिलाने से ९३ भेद होते हैं। त्रस दशक + स्थावर दशक + पराघात नाम, उच्छ्वास, आताप, उघोत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण, उपाघात इसमें बंधन के १५ भेद मिलाने से १०३ भेद होते हैं।[१७०]

नाम कर्म ८ प्रकार से बाँधे

शुभ नाम कर्म चार प्रकार से बाँधा जाता है-

१) काया की सरलता अर्थात् काया के द्वारा कोई कपटपूर्वक प्रवृत्ति न करना।
२) भाषा की सरलता अर्थात् बोलते समय कपट का आश्रय न लेना।
३) भावों की सरलता यानी मनोभावों को छल कपट से दूर रखना।
४) अविसंवादन योग अर्थात् मन, वचन, काया के व्यापारों में एक रूपता होना। मन से सोचना कुछ, वचन से कहना कुछ और काया से करना कुछ इस प्रकार की कुटिलता विसंवादन योग है तथा इसके विपरीत अविसंवादन योग कहलाता है।

अशुभ नाम कर्मबंध के चार कारण

१) काया की वक्रता, २) भाषा की वक्रता,
३) भावों की वक्रता, ४) विसंवाद योग

तात्पर्य यह है, मन-वचन-काया द्वारा मायावी बनने से जीव के अशुभ नाम कर्म का बंध होता है।

नाम कर्म २८ प्रकार से भोगे

शुभ नाम कर्म १४ प्रकार से भोगे

१) इष्ट शब्द, २) इष्ट रूप, ३) इष्ट गंध,
४) इष्ट रस, ५) इष्ट स्पर्श, ६) इष्ट गति,
७) इष्ट स्थिति, ८) इष्ट लावण्य, ९) इष्ट यशोकीर्ति,
१०) इष्ट उत्थान, ११) इष्ट स्वर, १२) कान्त स्वर,
१३) प्रिय स्वर, १४) मनोज्ञ स्वर।

अशुभ नाम कर्म १४ प्रकार से भोगे

१) अनिष्ट शब्द, २) अनिष्ट रूप, ३) अनिष्ट गंध, ४) अनिष्ट रस,
५) अनिष्ट स्पर्श, ६) अनिष्ट गति, ७) अनिष्ट स्थिति,
८) अनिष्ट लावण्य, ९) अनिष्ट यशोकीर्ति, १०) पराक्रम शक्तिहीनता,
११) अनिष्ट स्वर, १२) अक्रान्त स्वर, १३) अप्रिय स्वर,
१४) अमनोज्ञ स्वर।[१७१]

नाम कर्म की स्थिति

जघन्य आठ मुहूर्त की, उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की। अबाधा काल दो हजार वर्ष का।[१७२]

नाम कर्म का प्रभाव

इस संसार में एक मनुष्य काला-कलूटा, बेडौल, बीभत्स आकृति वाला है, तो एक मनुष्य गुलाब के फूल जैसा सुंदर एवं चित्ताकर्षक आकृति वाला क्यों है? इसका कारण नाम कर्म है। शरीर और शरीर से संबंधित अंग प्रत्यंग के कण-कण की रचना करने वाला नाम कर्म है। इन्द्रियाँ, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, यश-अपयश, सुस्वर-दुस्वर, सौभाग्य और दुर्भाग्य आदि देनेवाला नाम कर्म है। इसी कर्म के उदय से जीव विविध गतियों को प्राप्त करता है। शुभ कर्म का उदय हो तो जीव को इष्ट वस्तु का संयोग प्राप्त होता है और अशुभ नाम का उदय हो तो अनिष्ट वस्तु का संयोग (निमित्त) मिलता है।

इस प्रकार नाम कर्म का स्वरूप और कारण बताकर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, कि समस्त जीवों को शरीर और शरीर संबंधित जो भी वस्तुएँ मिली हैं वे किसी परमात्मा द्वारा नहीं अपितु अपनी आत्मा के द्वारा किये गये कर्मों से प्राप्त हुई है। यदि आत्मा इन कर्मों से

मुक्त होने का पुरुषार्थ करे तो अवश्य ही सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो सकती है।

गोत्र कर्म का निरूपण

इस संसार में जातियाँ उच्च हैं, तो कुछ जातियाँ नीच हैं। यह उँच-नीच का भेद भी कर्मकृत है, मनुष्यकृत नहीं है। आत्मा को प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित, सम्मान-असम्मान या निंद्य-अनिंद्य कुल में जन्म प्राप्त कराने वाला गोत्र कर्म है।[१७३] कर्म प्रकृति[१७४] में भी यही कहा है।

गोत्र कर्म का स्वभाव अच्छे-बुरे घड़े के समान होने से इस कर्म की तुलना कुंभार से की गई है, जैसे कुंभार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है।[१७५] गोत्र कर्म के कारण आत्मा श्लाघ्य-अश्लाघ्य बनती है।

गोत्र कर्म का विस्तार

गोत्र कर्म के दो भेद : १) उच्च गोत्र, २) नीच गोत्र[१७६] तत्त्वार्थसूत्र[१७७] में भी यही कहा है।

जिस कर्म के उदय से आत्मा उच्च प्रशस्त एवं श्रेष्ठ कुल में जन्म लेती है, उसे 'उच्च गोत्र कर्म' कहते हैं। नीति, धर्म की उपेक्षा और उपहास करता है तथा जिनका भाव और व्यवहार भी दूषित व अप्रशस्त है, वह नीच कुल कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में उच्चजाति-कुलादि आठ बातें उच्च गोत्र कर्म के उपभेद तथा नीच जाति कुलादि आठ बातें नीच गोत्र के उपभेद माने गये हैं।[१७८]

गोत्र कर्म १६ प्रकृतियाँ

१) जाति मद न करने से।

२) कुल मद न करने से आत्मा उच्च गोत्र का बंध करती है। जैसे भगवान महावीर ने मरीचि के जन्म से कुलमद किया था। जिससे उनके नीच गोत्र कर्म का बंध हो गया। फलतः उन्हें अंतिम जन्म में देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षी में अवतरित होना पडा। भिक्षुक कुल में आना ही नीच गोत्र कर्म का फल था।

३) बलमद न करने से

४) रूपमद न करने से।

५) तपोमद न करने से।

६) लाभमद न करने से।

७) श्रुतमद यानि ज्ञान का मद न करने से।

८) ऐश्वर्यमद न करने से।

इसके विपरीत जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य का मद अर्थात् अभिमान करने से जीव नीच गोत्र कर्म बाँध लेता है।[१७९]

गोत्र कर्म १६ प्रकार से भोगे

उच्चगोत्र कर्म बंध का फलभोग आठ प्रकार से होते हैं।

१) जाति का अभिमान न करने से लोकप्रिय उच्च जाति की प्राप्ति होती है।

२) कुल का मद न करने से सम्मानित और प्रतिष्ठित कुल की प्राप्ति होती है।

३) बल का मद न करने से शरीर बलिष्ठ और स्वस्थ मिलता है।

४) रूप का अभिमान न करने से उत्तम रूप सौंदर्य की प्राप्ति होती है।

५) तप का मद न करने से व्यक्ति को बाह्य आभ्यंतर तप करने का सुंदर अवसर प्राप्त होता है।

६) ज्ञान का मद न करने से श्रुतज्ञान की संपदा प्रचुरमात्रा में प्राप्त होती है।

७) लाभ मद न करने से व्यक्ति को सदैव सर्वत्र उत्कृष्ट लाभ का सर्वोत्तम अवसर मिलता है।

८) ऐश्वर्य का अभिमान न करने से ऐश्वर्य सामग्री अनायास प्राप्त हो जाती है।

उपर्युक्त उच्चगोत्र के फलस्वरूप सभी वस्तुएँ सहजरूप से प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार नीच गोत्र कर्म के फलस्वरूप पुरुषार्थ करने पर भी उन वस्तुओं का योग प्राप्त नहीं होता।[१८०]

गोत्र कर्म का प्रभाव

मनुष्य आठ प्रकार के अहंकार के जितना निकट जाता है, उतना ही वह आत्म भावों से दूर चला जाता है और अहंकार से जितना दूर रहता है उतनाही वह सत्यादि आत्म गुणों के निकट जाने का प्रयास करता है। अत: अभिमान से दूर रहने की प्रेरणा लेना ही गोत्र कर्म को विस्तृत रूप से जानने का सार है।

गोत्र कर्म की स्थिति

गोत्र कर्म की स्थिति- जघन्य आठ मुहूर्त की, उत्कृष्ट- बीस कोडाकोडी सागरोपम की, अबाधाकाल - दो हजार वर्ष का[१८१]

अंतराय कर्म का निरूपण

आत्मा में अनंत शक्ति है। उस आत्मशक्ति को प्रकट करने के लिए जो शक्ति चाहिए उसमें बाधा डालने वाला अंतराय कर्म है। अंतराय शब्द का अर्थ है दानादि में विघ्न, बाधा, रुकावट या अडचन आदि देना।[१८२]

निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा में अनंत शक्ति होते हुए भी अपंगता, व्याधि, आलस्य, पराधीनता, आसक्ति, अरुचि या मानसिक विक्षिप्तता आदि के कारण आत्मा की शक्ति इस कर्म के द्वारा अवरुद्ध हो जाती है और उसकी वीरता कुण्ठित हो जाती है। यही कारण है अंतराय कर्म आत्मा की सभी शक्तियों पर और दानादि क्षमताओं पर अंकुश लगाने वाला कर्म है।[१८३]

अंतराय कर्म का कार्य है- आत्मा को लाभ आदि की प्राप्ति में, शुभ कार्यों को करने की क्षमता में और तप, शील आदि की साधना करने के सामर्थ्य में अवरोध खडा कर देना।[१८४] आत्मा जब कर्म योग्य परमाणुओं को आकर्षित करके आत्म प्रदेशों से आबद्ध करती है, तब उनमें ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न होता है जो आत्मा की शक्ति को प्रकट होने में रुकावट डालता है। फलतः दान, लाभ, भोग या उपभोग आदि कार्यों में सफलता या कार्य-सिद्धि नहीं हो पाती। इस विघ्न-बाधा को उपस्थित करने वाला अंतराय कर्म है।

इस कर्म का स्वभाव दुष्ट भंडारी के समान है।[१८५] जिसे राजा के द्वारा आदेश देने पर भी भंडारी धन प्रदान करने से मना करता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी राजा के लिए वीतराग परमात्मा द्वारा अनंत शक्तियाँ प्राप्त करने का संदेश होने पर भी अंतराय कर्म रूपी भंडारी दान, लाभ, भोग, उपभोग की इच्छा प्राप्ति में तथा तप, संयम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि करने की क्षमता को कुंठित कर देता है एवं रुकावट डालता है।

अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ

१) दानान्तराय, २) लाभान्तराय, ३) भोगान्तराय,
४) उपभोगान्तराय, ५) वीर्यान्तराय।[१८६]

१) दानान्तराय

दान देने की आकांक्षा है तथा दान की सामग्री, पात्र, विधि और फल का ज्ञान भी है परंतु दान देने का उत्साह नहीं है अथवा किसी अपरिहार्य या आकस्मिक कारणवश दान देने में विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, वह दानान्तराय कर्म है।

दान का अर्थ है अपने या दूसरे के कल्याण के लिए अपने अधिकार की वस्तु का त्याग कर देना। स्थानांगसूत्र में दान के १० प्रकार बताये हैं।[१८७]

१) अनुकंपादान, २) संग्रहदान, ३) भयदान, ४) कारुण्यदान,
५) लज्जादान, ६) गौरवदान, ७) अधर्मदान, ८) धर्मदान,
९) करिष्यतिदान, १०) कृतदान।

इसके अतिरिक्त ज्ञानदान, अभयदान और औषधदान भी हैं।

२) लाभान्तराय

लाभांतराय की अप्राप्ति का मूल कारण लाभान्तराय कर्म है। इच्छित या प्रिय वस्तु की अप्राप्ति से मनुष्य अशांत, संतप्त और उद्विग्न रहता है। महान पुरुषार्थ को भी लाभान्तराय कर्म निष्फल कर देता है।

भगवान ऋषभदेव ने लाभान्तराय कर्म बाँधा था। फलतः जब वे अनगार बने और आहार लेने के लिए घर-घर गये तो उनको कोई आहार नहीं देता था। सोना, चांदी, हीरे, मोती देने को लोग तत्पर थे, परंतु भोजन कोई नहीं देता था। एक वर्ष से अधिक समय तक आहार न मिलने पर भी उनके मन में हस्तिनापुर के लोगों के प्रति द्वेष या दुर्भाव पैदा नहीं हुआ, क्योंकि भिक्षा की अप्राप्ति का सही कारण वे जानते थे। 'मेरे ही लाभान्तराय कर्म के कारण मुझे आहार नहीं मिल रहा है, जब लाभान्तराय कर्म नष्ट होगा, तब सहजता से आहार मिल जायेगा।'

३) भोगान्तराय

भोग की परिभाषा करते हुए बताया गया- एक बार जिस वस्तु का भोग कर लेने के बाद दुबारा जिसका भोग नहीं हो सकता है ऐसी भोजन, पानी आदि वस्तुओं को भोग कहा जाता है। यदि मन पसंद भोजन नहीं मिलता है या जिस समय भोजन मिलना चाहिए उस समय नहीं मिलता हो तो दूसरों को दोष नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह तो मात्र निमित्त है, मूल कारण 'भोगान्तराय कर्म' ही है।

४) उपभोगान्तराय

जो वस्तु बार-बार भोगी जाती है, वह उपभोग्य कहलाती है। वस्त्र, आभूषण, मकान, फर्नीचर आदि। उपभोग्य सामग्री मिल जाने पर भी और उपभोग करना चाहते हुए भी प्राप्त न होना उपभोगान्तराय कर्म जानना चाहिए।[१८८]

५) वीर्यान्तराय

युवावस्था में शरीर स्वस्थ एवं शक्तिशाली होने पर भी यदि मनुष्य अपने को सत्त्वहीन, कमजोर एवं वृद्ध व्यक्ति के समान समझता है अथवा कार्य विशेष में पुरुषार्थ नहीं कर पाता और स्वयं को असमर्थ महसूस करता है तो यह वीर्यांतराय कर्म का प्रभाव जानना चाहिए।

कर्म ग्रंथकारों ने आध्यात्मिक दृष्टि से वीर्यान्तराय कर्म के तीन भेद किये हैं-

१) बाल वीर्यान्तराय कर्म

समर्थ होने पर भी तथा कार्य करना चाहते हुए मनुष्य इस कर्म के उदय से सत्कार्य या नैतिक सांसारिक कार्य नहीं कर पाता।

२) पण्डित वीर्यान्तराय कर्म

मोक्ष की इच्छा होते हुए भी, त्याग वैराग्य की दृढता होते हुए भी, साधु-साध्वी इस कर्म के उदय से मोक्ष प्राप्ति के योग्य पुरुषार्थ नहीं कर पाते।

३) बालपण्डित वीर्यान्तराय कर्म

सम्यक्दृष्टि श्रावक, श्राविका देशविरती चारित्र में पुरुषार्थ करना चाहते हुए भी इस कर्म के उदय से नहीं कर पाते, वह बाल पण्डित वीर्यान्तराय कर्म है।[१८९]

अंतराय कर्म बंध के ५ कारण

भगवतीसूत्र[१९०] और तत्त्वार्थसूत्र[१९१] में अंतराय कर्म बंध के पाँच कारण बताये हैं।

१) दाने देने में रुकावट डालना,

२) लाभ में अंतराय डालना,

३) भोग्य पदार्थ की प्राप्ति में विघ्न डालना,

४) उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति में विघ्न डालना,

५) शक्ति को कुंठित कर देना।

अंतराय कर्म बंध ५ प्रकार से भोगे

१) दान का अवसर हाथ न आना,

२) लाभ का अवसर न मिलना,

३) भोग्य पदार्थ का सेवन न कर पाना,

४) उपभोग्य सामग्री का न मिलना,

५) शक्ति प्राप्त न होना।

अंतराय कर्म का प्रभाव

अंतराय कर्म के कारण उपलब्ध सामग्री एवं शक्ति का समुचित उपयोग न कर पाना और किसी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग व शक्ति के उपयोग में बाधक बनना, यह अन्तराय कर्म का कारण है। वीर्य याने शक्ति, सामर्थ्य या बल। जो कर्म आत्मा की शक्ति को, सामर्थ्य को बढने नहीं देता, आत्मा की अनंत शक्ति को यह कर्म दबा देता है। इस कर्म के उदय से व्यक्ति अशांत संतप्त जीवन जीता है। धर्मध्यान इत्यादि में विघ्न डालना यह वीर्य अंतराय है।[१९२] तत्त्वार्थसूत्र[१९३] जैनतत्त्वादर्श[१९४] और सर्वार्थसिद्धि[१९५] में भी यही कहा है। डिप्रेशन का मूल कारण भी वीर्य अंतराय कर्म है। ऐसी स्थिति में कोई बात, कोई वस्तु या कोई व्यक्ति उसे सुख नहीं दे सकता।

अंतराय कर्म की स्थिति

जघन्य- अंतर्मुहूर्त की, उत्कृष्ट- तीस कोडाकोडी सागरोपम की, अबाधाकाल - तीन हजार वर्ष का[१९६]

इस प्रकार कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ एवं उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव एवं बंध के कारणों को समझकर उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कर्मबंध की परिवर्तनीय अवस्था के १० कारण

जैन कर्मशास्त्र[१९७] में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। ये अवस्थाएँ कर्म के बंधन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से संबंधित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं-

१) बंध, २) उद्वर्तना, ३) अपवर्तना, ४) सत्ता, ५) उदय, ६) उदीरणा, ७) संक्रमण, ८) उपशम, ९) निधत्ति, १०) निकाचना[१९८]

गोम्मटसार में इनको दश करण की संज्ञा दी गई है। जीवों के शुभ-अशुभ आदि परिणामों की करण संज्ञा है।[१९९] धवला में भी यही कहा है।[२००] ये अवस्थाएँ जैनों के कर्म सिद्धांतों के विकास की सूचक हैं।[२०१]

बंध

अनेक पदार्थों का एक हो जाना बंध कहलाता है।[२०२] राजवार्तिक में कहा है जिनसे कर्म बंधे वह कर्मों का बंधना बंध है।[२०३] जो बंधे या जिसके द्वारा बाँधा जाये उसे बंध कहते हैं।[२०४] जैन कर्म सिद्धांत, अध्यात्म और विज्ञान[२०५] में डॉ. नारायण लाल ने कहा है कर्मबंध केवल मनुष्य और तिर्यंच योनि में ही होता है। जो कर्म योनि है। द्वेष व नारकी भोग योनि है।

उमास्वाति ने कहा है- कषाय भाव के कारण जीव का कर्म पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बंध है।[२०६] 'आत्मा जिस शक्ति वीर्य विशेष से कर्म परमाणुओं को आकर्षित करके उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीव प्रदेशों से संबंधित करता है तथा कर्म परमाणु और आत्मा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं वह बंध है।'

जीव और कर्म के संश्लेष को बंध कहते हैं।[२०७] जीव अपनी वृत्तियों से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का बंधन या संयोग बंध है। आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार - 'बेडी का बंधन द्रव्य बंध है और कर्म का बंधन भाव बंध है'।[२०८]

श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने कहा है 'जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बंधता है वह भावबंध है तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एक दूसरे में मिल जाना, एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्यबंध है'।[२०९]

उद्वर्तना

उद्वर्तना को उत्कर्षण भी कहते हैं। बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-रस का निश्चय बंधन के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता मंदता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थिति विशेष- अध्यवसाय विशेष के कारण उस स्थिति में वृद्धि हो जाना ही उद्वर्तना या उत्कर्षण कहलाता है। धवला में कहा गया है- 'कर्म प्रदेशों की स्थिति (व अनुभाग) को बढाना उत्कर्षण कहलाता है।[२१०] स्थिति और अनुभाग की वृद्धि को उत्कर्षण कहते हैं। उद्वर्तना के द्वारा कर्म स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।[२११] जैन कर्म सिद्धांत के अनुसार आत्मा कर्मबंध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को बढा भी सकती है, यही कर्म परमाणुओं की काल मर्यादा और तीव्रता को बढाने की क्रिया उद्वर्तना कही जाती है।[२१२]

अपवर्तना

अपवर्तना का दूसरा नाम अपकर्षण भी है। अपकर्षण का अर्थ है घटना। बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय विशेष से कम कर देने का नाम अपवर्तना है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के कारण स्वतः अथवा तपश्चरण के द्वारा साधक पूर्वोपार्जित कर्मों की स्थिति व अनुभाग घटाता हुआ आगे बढता है। इसी का नाम मोक्षमार्ग में अपकर्षण है। संसारी जीवों के प्रतिपल शुभ या अशुभ परिणामों के कारण पुण्य या पाप प्रकृतियों का अपकर्षण हुआ करता है।

स्थिति और अनुभाग की हानि अर्थात् जो पहले बंधी थी, उससे कम करना 'अपकर्षण' है।[२१३] जैन दर्शन में कर्मवाद में भी यही बात कही है।[२१४]

सत्ता

'अस्तित्व को सत्ता कहते हैं।'[२१५] बद्ध कर्म परमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा से संबंद्ध रहते हैं, इसी अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए विद्यमान रहते हैं।[२१६] धान्य संग्रह के समान जो पूर्व संचित कर्म हैं, उनके आत्मा में स्थित रहने को सत्ता कहते हैं।[२१७] सत्ता को सत्व भी कहते हैं।[२१८]

कर्मों का बंध हो जाने के बाद उनका विपाक भविष्य में किसी भी समय में होता है। प्रत्येक कर्म अपने सत्ता काल के समाप्त होने पर ही फल (विपाक) दे पाता है। जितने समय तक काल मर्यादा परिपक्व न होने के कारण कर्मों का आत्मा के साथ संबंध बना रहता है, उस अवस्था को सत्ता कहते हैं।

उदय

जीव[२१९] के पूर्वकृत जो शुभ या अशुभ कर्म अपने अपने समय पर परिपक्व दशा को प्राप्त होकर जीव को फल देकर क्षय हो जाते हैं इसे ही कर्म का उदय कहते हैं। कर्म के विपाक को उदय कहते हैं।[२२०] द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के निमित्त के वश कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय है।[२२१]

उदीरणा

जिस प्रकार समय से पूर्व कृत्रिम रूप से फल को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियतकाल के पूर्व ही प्रयासपूर्वक उदय में लाकर कर्मों के फलों का भोग लेना उदीरणा है। साधारण रूप से यह नियम है कि जिस कर्म प्रकृति का उदय या भोग चल रहा है, उसकी सजातीय कर्म प्रकृति की उदीरणा संभव है।[२२२] नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है, अथवा न पके हुए कर्मों को पकाने का नाम उदीरणा है।[२२३]

संक्रमण

संक्रमण का अर्थ है- बदलना। 'एक अवस्था से धीरे-धीरे बदलते हुए दूसरी अवस्था में पहुँचना'।[२२४] जीव के परिणामों के प्रयत्न विशेष से कर्म प्रकृति को बदलकर अन्य प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है। जो प्रकृति पूर्व में बंधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप में परिणमन हो जाना संक्रमण है।[२२५]

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म प्रकृति का बंध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बद्धमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिवर्तित कर देता है, वह संक्रमण है।[२२६] संक्रमण चार प्रकार का होता है। १) प्रकृति संक्रमण, २) स्थिति संक्रमण, ३) अनुभाग संक्रमण, ४) प्रदेश संक्रमण।

संक्रमण किसी एक मूलप्रकृति का उसकी उत्तर प्रकृतियों में ही होता है दूसरे शब्दों में सजातीय संक्रमण प्रकृतियों में ही संक्रमण माना गया है विजातीय प्रकृतियों में नहीं, इस नियम से अपवाद है आयुकर्म की चार उत्तर उपप्रकृतियों में तथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय तथा दर्शन मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता।[२२८]

उपशम

कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक लेना, उपशम कहलाता है।[२२९] कर्मों के उदय के अभाव में उतने समय के लिए जीव के परिणाम अत्यंत शुद्ध हो जाते हैं, परंतु अवधि हो जाने पर नियम से कर्म पुनः उदय में आ जाते हैं और जीव के परिणाम पुनः गिर जाते हैं।

उपशम करण का संबंध मोह कर्म व तज्जन्य परिणामों से ही होते हैं, ज्ञानादि व अन्य भावों से नहीं क्योंकि रागादि विकारों में क्षणिक उतार चढाव संभव है। जैसे कतक फल या निर्मली डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसी तरह परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रकट न होना उपशम है।[२३०] दूसरे शब्दों में 'आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारण वश प्रकट न होना उपशम है'। जैसे कतक आदि के संबंध से जल में कीचड का उपशम हो जाता है।[२३१]

निधत्ति

कर्म की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है, जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है, किन्तु इस अवस्था में उद्वर्तना तथा अपवर्तना की संभावना रहती है।[२३२] जो कर्म उदयावलि प्राप्त करने से व अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण करने में समर्थ हो वह निधत्ति कहलाता है। इसके विपरीत जो उदयावलि प्राप्त करने में या अन्य प्रकृति रूप संक्रमण करने में अथवा उत्कर्ष करने में समर्थ न हो उसे निकाचित कहा जाता है।

निकाचना

जिन कर्मों का जिस रूप में बंध हुआ है, उनका उसी रूप में अनिवार्यतः फल भोगना निकाचना कहलाता है। निकाचना की स्थिति में उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा ये चारों अवस्थाएँ नहीं होती। इसमें कर्मों का बंधन इतना प्रगाढ़ होता है कि उनकी काल मर्यादा एवं तीव्रता (परिणाम) में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यह निकाचना के विषय में सामान्य और सर्व प्रचलित मत है, किन्तु अर्हत्दर्शनदीपिका में निकाचित दशा में भी परिवर्तन होने का संकेत पाठ मिलता है।

शुभ परिणामों की तीव्रता से सभी कर्म प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी अवक्रमण ह्रास होता है।[२३३] प्रवचनकार पू. गणिवर्य भी युगभूषण जी म.सा. ने अपने अनेकांतवाद में कहा है- प्रायश्चित से निकाचित कर्म क्षय नहीं होता, किंतु उनके साथ रहे हुए अनिकाचित कर्मों क्षय होता है। निकाचित कर्म अकेला कभी नहीं बंधता, साथ में अनिकाचित कर्म भी बंधता है। जैसे डाकुओं की टोली होती है यदि उसे तोडा जाय तो उनकी शक्ति कम हो जाती है। उसी प्रकार अनिकाचित कर्म क्षय होने से निकाचित कर्म का बल (शक्ति) कम हो जाता है।[२३४]

इसका विशेष रहस्य विचार और शोध का विषय है। धवला के अनुसार भी जिनबिंब के दर्शन से निकाचित रूप मिथ्यावादी कर्म कलाप का क्षय होता है।[२३५]

अन्य परंपरा में तीन अवस्थाएँ

वैदिक परंपरा में कर्मों की क्रियमाण,[२३६] संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं। ये जैन दर्शन की क्रमशः बंध, सत्ता और उदय समानार्थक है।[२३७] बौद्ध दर्शन में [२३८] नियत विपाकी कर्म, जैन दर्शन की निकाचना के लिए प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार कर्म फल के संक्रमण की धारणा स्वीकार की गई है। बौद्ध दर्शन भी यह मानता है, कि यद्यपि कर्म (फल) का विप्रणाश नहीं है, तथापि कर्मफल का सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है।

बौद्ध कर्म विचारणा में जनक, उपस्थंभक, उपपीलक और उपघातक। ऐसे चार कर्म माने जाते हैं। जनक कर्मसत्ता (जैन कर्मशास्त्र) से तुलनीय है। उपस्थंभक उत्कर्षण की प्रक्रिया में सहायक माने जाते हैं। उपपीलक कर्मशक्ति क्षीण करते हैं अतः अपकर्षण के समान है, उपघातक कर्म शक्ति रोकने के कारण उपशमन के समान है।

कर्मबंध का मूल कारण : राग-द्वेष

आगमों में कर्मबंध के मुख्य दो कारण बताये हैं- राग, द्वेष।[२३९] उत्तराध्ययनसूत्र,[२४०] समवायांगसूत्र,[२४१] और उत्तराध्ययनसूत्र[२४२] में भी कहा है। राग-द्वेष परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। राग-द्वेष की प्रवृत्ति से मोहनीय कर्म उत्पन्न होता है। मोहनीय कर्म के उदय में आने पर इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष होते हैं फिर इससे नवीन कर्म बंध होते हैं और कर्म बंध के उदय से पुनः राग-द्वेष होते हैं, इस भाँति बंध व उदय का चक्र चलता रहता है। राग-द्वेष का पहिया बंध एवं उदय के रूप में घूमता रहता है। ऐसे बंध और उदय के चक्र में अनंतकाल से आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रही है। राग से द्वेष को, द्वेष से राग को पुनः-पुनः ग्रहण कर रही है। इसलिए कहना होगा कि राग-द्वेष परस्पर सहभावी हैं।

व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति, विषय, विचार आदि के प्रति यदि मन में अनुकूलता महसूस होती है, तो उसके साथ राग-रूप संबंध जुड़ जाते हैं और प्रतिकूलता महसूस होती हो तो उसके साथ द्वेष रूप संबंध जुड़ जाते हैं। यह संबंध ही बंधन है।[२४३] राग और द्वेष के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बताये हैं- इच्छा, मूर्च्छा, कामना, गृद्धि, स्नेह, ममता, अभिलाषा, लालसा, तृष्णा आदि तथा ईर्ष्या, दोष-दृष्टि-निंदा, चुगली आदि द्वेष के पर्यायवाची शब्द हैं।

शास्त्रों में राग तीन प्रकार के बताये हैं। स्नेह राग-व्यक्तियों के प्रति होता है, काम राग-इन्द्रियों के विषय में होता है और दृष्टि राग कुप्रवचनादि या सिद्धांत से विरुद्ध मत स्थापन के प्रति होता है।[२४४] जीवों की इच्छा के अनुसार वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता, बल्कि मोहवश रुचि के अनुसार वह अच्छा बुरा माना जाता है। जैसे नीम कटु होते हुए भी किसी को रुचिकर लगता है और किसी को रुचिकर नहीं लगता, किन्तु नीम किसी को

रुचिकर होने मात्र से अपनी कटुता छोडकर मधुरता में परिणत नहीं हो जाता।

दशवैकालिकसूत्र में कहा है, 'जहाँ उद्वेग या क्लेश पैदा होता हो, उस स्थान को दूर से त्याग कर देना चाहिए।' अतः राग-द्वेष के मूल कारणों से बचना आवश्यक है। जैसे-जैसे प्रबल निमित्त मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे कभी राग का पलडा भारी होता है तो कभी द्वेष का पलडा भारी हो जाता है। इसलिए राग और द्वेष की न्यूनाधिकता का नाप तोल करना बहुत कठिन है।[२४५]

वैदिक परंपरा में परशुराम ने क्षत्रिय जाति के प्रति तीव्र द्वेषवश इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन बनाया था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि इस पृथ्वी पर एक भी क्षत्रियपुत्र नहीं रहना चाहिए। परशुराम का यह द्वेष किसी एक दो क्षत्रियों पर नहीं अपितु समस्त क्षत्रिय जाति के प्रति था। रोम का सम्राट नीरो, हिटलर, मुसोलीनी, चर्चिल, चंगेज खाँ, नादिरशाह आदि ऐसे क्रूर कर्मा हुए हैं। जिनकी द्वेष बुद्धि प्रचंड रूप में सामूहिक नरसंहार करने को आतुर थी, जिसे मानवजाति कभी माफ नहीं कर सकती।

रागबुद्धि की अपेक्षा द्वेषबुद्धि अत्यंत भयानक है। प्रायः राग सीमित रहता है, किन्तु द्वेष बहुत शीघ्र बढकर प्रचंड दावानल की भाँति असीमित बन जाता है।

राग या द्वेष में नुकसानकारक कौन?

जिस वैभाविक भाव से आत्मा के गुणों का घात तीव्र या शीघ्र रूप से हो उसे अधिक नुकसान कारक समझना चाहिए। राग-द्वेष से आत्मिक हानि होती है। जिस आत्मा में राग-द्वेष जितने कम या ज्यादा होंगे, कर्मबंध उतना तीव्र-मंद रस तथा न्यूनाधिक स्थिति वाला होगा। तीव्र राग वृत्ति से और तीव्र द्वेष वृत्ति से तीव्र कर्मबंध होता है। अतः दोनों का तीव्र बंध नुकसानकारक एवं हानिकारक है, फिर भी दोनों की हानिकारक मात्रा का हिसाब लगाने पर यह कहा जा सकता है कि रागवृत्ति की अपेक्षा द्वेषवृत्ति अधिक हानिकारक है। द्वेषवृत्ति वाले में रौद्र ध्यान की तीव्र क्रूर परिणति अधिक होने के कारण उसकी लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर बनती जाती हैं। यद्यपि राग-भाव जीवन में प्रतिक्षण कर्मों को निमंत्रण देता है, किन्तु उसकी लेश्याएँ इतनी क्रूर और घातक नहीं होती।

द्वेष दाहक और भस्म करने वाला है। अग्नि को शांत करने के लिए जितनी सावधानी रखनी पडती है उससे भी अनेक गुणी अधिक सावधानी द्वेष को शांत करने के लिए आवश्यक है। द्वेष, क्षमा, समता से शान्त होता है।

कोई भी धर्मक्रियाएँ तीव्र राग-द्वेष के परिणाम से की जाये तो उनका सत्व नष्ट हो जाता है। जैसे तीर्थंकर महावीर ने विश्वभूति के जन्म में मासखमण की तपस्या के दौरान अपने चचेरे भाई विशाखानंदी को मारने हेतु तीव्र द्वेष से प्रेरित होकर नियाणा (निदान)

किया था। अतः उनकी वह तपस्या उसी भव में कर्म मुक्ति का हेतु नहीं बन सकी।

मन एक पक्षी है। राग और द्वेष उसके दो पंख हैं। जो उसे विकल्पों के जगत् में उडाए ले चलते हैं। पक्षी के जब पंख कट जाते हैं तो वह उड नहीं पाता, उसी तरह जब राग और द्वेष हट जाते हैं तो मन निर्विकल्प-सुस्थिर हो जाता है।[२४६] जब योगी आत्मा पराक्रम द्वारा राग-द्वेष का पराभव करने में सक्षम हो जाते हैं। तो उनके मन से विषमता निकल जाती है, समता का अभ्युदय होता है तब वह ऐसी स्थिति पा लेता है जहाँ उसके लिए सुख और दुःख, हानि और लाभ, जीवन और मृत्यु, इष्ट और अनिष्ट सब एक समान हो जाते हैं। न लाभ से प्रसन्न होता है और न हानि से दुःखी होता है। गीता[२४७] में ऐसे पुरुष को स्थित प्रज्ञ कहा है।

प्रशस्त राग

राग और द्वेष सर्वथा त्याज्य होते हुए भी जब तक इनका सर्वथा त्याग न किया जाए तब तक अप्रशस्त राग-द्वेष का त्याग करके प्रशस्तराग अपनाना चाहिए। शुभ -अशुभ परिणती के कारण 'नियमसार'[२४८] में राग-द्वेष भी प्रशस्त और अप्रशस्त बताये गये हैं।

शुभ हेतु, शुभाशय या प्रशस्त संकल्प बुद्धि से किये गये राग-द्वेष कथंचित् इष्ट हैं। अरिहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु और शुद्ध धर्म के प्रति आत्म कल्याण की दृष्टि से किया गया राग प्रशस्त है। मेरी आत्मा का कल्याण हो, मेरे कर्मों की निर्जरा हो, मेरा संसार परिभ्रमण कम हो और मेरी आत्मा का विकास होकर मुझे शीघ्र मोक्ष मिले, ऐसी पवित्र भावना से देव, गुरु और धर्म के प्रति तीव्र अनुराग रखना और प्रशस्त भावों से भक्तिकरना, प्रशस्त राग है। मोक्ष प्राप्ति की भावना रखना भी प्रशस्त राग कहलाता है।

देव के प्रति प्रशस्त-राग

'प्रवचनसार'[२४९] में कहा गया है- प्रशस्त राग जब देव, गुरु और धर्म के प्रति होता है तब कषाय में बुद्धि नहीं होती। जैसे गणधर गौतम स्वामी का भगवान महावीर के प्रति प्रशस्त राग था, जिसमें संसार की पद-प्रतिष्ठा या लौकिक आकांक्षा की कोई कामना नहीं थी। उनकी अनुरक्ति का उद्देश केवल अपना आत्म कल्याण और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा का था। इसलिए एक क्षण भी प्रभु महावीर से बिछुडना गौतम स्वामी के लिए असह्य था। यदि उनका राग प्रशस्त न होकर अप्रशस्त कोटिका होता, तो उन्हें जन्म मरण के चक्र में भटकना पडता।

गुरु के प्रति प्रशस्त राग

निर्ग्रंथ गुरु के प्रति आचार्य, उपाध्याय या साधु-साध्वी के प्रति जो राग-भाव होता है उसमें गुरु का शिष्य के प्रति और शिष्य का गुरु के प्रति कल्याण कामना का प्रशस्त राग होता है। जंबूस्वामी को अपने गुरु सुधर्मास्वामी पर प्रशस्त राग था, अतः जंबूस्वामी भी उसी भव में मोक्ष गये।

सद्धर्म के प्रति प्रशस्त राग

सद्धर्म का अर्थ है श्रुत एवं चारित्ररूप धर्म अथवा रत्नत्रयरूप धर्म या दशविध उत्तम धर्म के प्रति कल्याण कामना से प्रेरित होकर श्रद्धा भक्ति और अनुराग रखना।

अप्रशस्त राग और उनके प्रकार

देव के प्रति प्रशस्त राग लाने के लिए तथा कथित कुदेव का त्याग, गुरु के प्रति प्रशस्त राग लाने के लिए तथा कथित कुगुरु का त्याग तथा धर्म के प्रति प्रशस्त राग लाने के लिए, कुधर्म का त्याग करना जरूरी है। वीतराग परमात्मा के प्रति प्रशस्त राग जगाने के लिए सांसारिक राग को क्षीण करना होगा। अप्रशस्त राग से कषायों की वृद्धि होती है। सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति प्रशस्त राग रखने से कषाय की मात्रा कम होती है। 'भगवती आराधना' [२५०] में जिन शासन प्रेमिओं के लिए चार प्रकार के अनुराग बताये हैं- भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग और धर्मानुराग।

१) भावानुराग

वीतराग परमात्मा कथित तत्त्वस्वरूप कभी असत्य नहीं होता, ऐसी श्रद्धा जहाँ हो उसे 'भावानुराग' कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान ने जो कहा है वही सत्य और निःशंकित है, ऐसी तटस्थ श्रद्धा रखना भावानुराग है।

२) प्रेमानुराग

जिन पर प्रेम एवं वात्सल्य है उन्हें बार-बार तत्त्व एवं सन्मार्ग की महत्ता समझाकर सन्मार्ग पर संलग्न करना 'प्रेमानुराग' है।

३) मज्जानुराग

जिनके रग-रग में, हड्डियों में और मज्जा-तंतु में सद्धर्म के प्रति राग है वे धर्म से विपरीत आचरण कभी नहीं करते। जिन्हें अहिंसादि धर्म प्राणों से प्रिय हो, उसे 'मज्जानुराग' कहते हैं।

४) धर्मानुराग

साधार्मिकों के प्रति वात्सल्य, गुणीजनों के प्रति प्रेम और त्यागियों के प्रति भक्ति रखना 'धर्मानुराग' है।

राग-द्वेष रहित होकर वीतराग बनना सर्वोत्तम है, किन्तु वर्तमान में वीतरागता की प्राप्ति कठिन लगती है, फिर भी शनैः शनैः उस दिशा में क्रमशः गति प्रगति करने का पुरुषार्थ जारी रखना चाहिए। वीतरागता प्राप्त करने का लक्ष्य रखते हुए अप्रशस्त से बचकर ज्ञाताद्दष्टाभाव का सतत अभ्यास करती हुई आत्मा क्रमशः सही दिशा में अग्रसर हो तो एक दिन अवश्य वीतरागता प्राप्त कर सकती है।

* * *

संदर्भ

१. कर्म संहिता (श्रुतप्रेमी साध्वी युगल निधिकृपाश्री), पृ. १६८

२. आत्म-तत्त्वविचार - (विजय लक्ष्मण सूरीश्वरजी म.), पृ. ३०८, ३०९

३. कर्म प्रकृति (मलयगिरिकृत टीका), पृ. २

४. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र १४, अ. ६, सूत्र २६

५. पन्नवणा सूत्र (संपा. मधुकरमुनिजी), पद. २३, उ. १

६. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. मधुकरमुनिजी), अ. २३ गा. २,३

७. अट्ठकम्म..... अंतराइयं।

प्रज्ञापना सूत्र (संपा. मधुकरमुनिजी), पद २१, उ. १, सूत्र २२८

८. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः।

तत्त्वा.सूत्र (उमास्वाती) अ. ८, सू. ५

९. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ५६

१०. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. १५

११ जैन तत्त्व स्वरूप (युवा. प्रणेता श्री. धीरजमुनिजी म.सा.), पृ. ७१

१२. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. १०, सूत्र १

१३. जैन दर्शन- स्वरूप और विश्लेषण (देवेंद्रमुनि शास्त्री), पृ. ४६०

१४. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २

१५. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ५५

१६. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ५७

१७. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ६२

१८. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य अमोलकऋषि म.सा.), पृ. ३६६, ३६७

१९. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ६५

२०. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २

२१. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ८९

२२. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २

२३. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. ९३

२४. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २

२५. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. १४२

२६. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य अमोलकऋषि म.सा.), पृ. ३६९

२७. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र १३

२८. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. १४५
२९. तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भा. १ पृ. ४४
३०. श्री बृहद जैन थोक संग्रह (सं. जसवंतलाल शांतिलाल शाह), पृ. १२७
३१. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२२
३२. श्री बृहद जैन थोक संग्रह (सं. जसवंतलाल शांतिलाल शाह), पृ. १२७
३३. श्री बृहद जैन थोक संग्रह (सं. जसवंतलाल शांतिलाल शाह), पृ. १२७
३४. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२२
३५. श्री बृहद जैन थोक संग्रह (सं. जसवंतलाल शांतिलाल शाह), पृ. १२७
३६. श्री बृहद जैन थोक संग्रह (सं. जसवंतलाल शांतिलाल शाह), पृ. १२८
३७. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२२
३८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भा. १, अ.१, सू. ९, पृ. ४४, सूत्र ९
३९. श्री बृहद जैन थोक संग्रह (सं. जसवंतलाल शांतिलाल शाह), पृ. १२८
४०. ज्ञान का अमृतसार (ज्ञानमुनिजी म.सा.), पृ. २४९-२५१
४१. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), गा. ९, पृ. ५६
४२. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३/ गा. ४/ पृ. ६००
४३. जैन तत्त्व स्वरूप (युवा. प्रणेता श्री. धीरजमुनिजी म.सा.), पृ. ३६५
४४. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २३/२
४५. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र ६-७,११
४६. मइ सुय ओही मण केवलाणी नाणाणि तत्थ मइनाणं।
कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), गा.४,पृ.१६
४७. पंचविहे णाणे पणपाते तं जहा- अभिनिबोहियणाणे.... केवलणाणे।
स्थानांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), स्थान ५ उ. ३, सूत्र. ४६३
४८. मतिश्रुतावधिमनःपर्याय केवलाणिज्ञानम्। तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. १, सूत्र ९
४९. जैन दर्शनातील नवतत्त्वे (जैन साध्वी धर्मशीलाजी म.), पृ. ६३०
५०. आवश्यकनिर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहुस्वामी), गा. - १९२
५१. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. १६, १७
५२. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. १, सूत्र १४
५३. श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेक द्वादशभेदम्। तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. १, सूत्र -२०
५४. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. १८
५५. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. १८
५६. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा.मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. १८
५७. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. १९

५८. जैन दर्शनातील नवतत्त्वे (जैन साध्वी धर्मशीलाजी म.), पृ. ४४३
५९. दुविहे नाणे पण्णत्ते ..... आभिनिबोहियणाणे चेव सुयनाणे।
स्थानांगसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी) स्थान २, उ. १, सूत्र. ७१
६०. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. १, सूत्र - ९, १०, ११, १२
६१. मोक्षमार्ग (रतनलाल दोशी), पृ. १४७
६२. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२३
६३. सामान्य ग्रहणात्मको बोधो दर्शन तदाव्रियतेऽनेनेति दर्शनावरण।
कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
६४. दंसणचउ पणनिद्दा..... दंसणावरणं॥
कर्मग्रंथ भाग- १(मिश्रीमलजी म.), गा. ९, पृ. ५५,
६५. गोम्मटसार (कर्मकांड) (श्री. नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवती), गा. २१
६६. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २/४/१०५
६७. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ५७
६८. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मेघराजजी म.), पृ. १२३-१२४
६९. णवविहे दीरसणावरणिज्जे..... केवलदर्शन दंसणावरणे।
स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), स्था. ९ सूत्र - ६६८
७०. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३ / गा. ५,६
७१. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र - ८
७२. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६६
७३. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), स्थान. ९ सूत्र - ६६८
७४. चक्षुरचक्षुरवधि केवला नं निद्रानिद्रा प्रचला.... स्थानगृद्धयश्च॥
तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भाग- २ अ. ८, सूत्र- ७
७५. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३ / गा. ५,६
७६. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६५-३६६
७७. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र - ६
७८. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ५९
७९. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३ / गा. १९. २०
८०. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद. २९ उ. २, सूत्र २९३
८१. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र - १५
८२. कर्मग्रंथ, भाग- ५ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), गा. २६
८३. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
८४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भाग- २ अ. ८, सूत्र- ८ पृ. ५७३

८५. कर्मसंहिता (साध्वी युगल कृपाजी), पृ. १९१
८६. साया वेयणिज्जे य असायावेयणिज्जे।
प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद. २३ उ. २, सूत्र २९३
८७. वेयणियं पि य दुविहे सायमसाय च आहियं।
उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३, गा. ७
८८. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र - ९
८९. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
९०. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), स्थान. ८ सूत्र - ४८८
९१. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६६
९२. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२४
९३. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
९४. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २३/३/१५
९५. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६६
९६. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२५, १२६
९७. भगवतीसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), ६/३
९८. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २३/२/२१-२९
९९. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), ३३/१९-२०
१००. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६६-३६७
१०१. कर्मसंहिता (साध्वी निधि कृपाजी), पृ. १९८-१९९
१०२. जैनविज्ञान (मुनिश्री रत्नसेन विजयश्री म.सा.), पृ. ७१
१०३. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. १४/ गा. १३ पृ. २२७
१०४. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २/४/१०५
१०५. मोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते? गोयमा दुविहे पण्णत्ते तं जहा.....
चरित्तमोहणिज्जे। प्रज्ञापनासूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद- २३ उ. २
१०६. मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तहा।
उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवा. मधुकर मुनिजी), अ.३३/गा.८
१०७. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २/४/१०५
१०८. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ.३३/गा. ९
१०९. कर्मग्रंथ, भाग- ५ (मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ६५-६६-६७
११०. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२६
१११. चरित्त मोहणं कम्मं ..... तहेव य।
उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ.३३/१०

११२. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद २३, उ. २
११३. कम्म कसो भवो वा ..... कसं कसायति॥
विशेषावश्यक भाष्य (संपा. दलसुखभाई मालवणीया), गा. १२२७
११४. दशवैकालिक सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ.८,गा. ३८
११५. अनंतानुबंधी सम्यक्दर्शनोपघाती ..... प्रतिपतति।
तत्त्वा.सूत्र (उमास्वाति), अ. ८/सूत्र-१०
११६. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.) पृ. १२६-१२७
११७. कर्मग्रंथ, भाग- ५ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), गा. १८
११८. गोम्मटसार (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. २८३
११९. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती)ल पृ. २८३
१२०. तत्त्वा.सूत्र (उमास्वाति), अ. ८/सूत्र-१०
१२१. संज्वलन कषायोदय यथाख्यात चारित्रलाभो न भवति।
तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र-१०
१२२. कर्मग्रंथ, भाग- ५ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ८४
१२३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव), ८/९-१०
१२४. नोकषाय वेयणिज्जे ..... हासे अरती भए सोगे दुगुंछा।
प्रज्ञापनासूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद- २३ उ. २
१२५. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), ७/५४९
१२६. आवश्यक सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), श्रमणसूत्र ४, पृ. ३९
१२७. प्रज्ञापनासूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद- २३ उ. २
१२८. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३, गा. ११
१२९. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२८
१३०. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३, गा. २१
१३१. जीवस्य अवट्ठाण करेदि आऊ हडिव्व णारं।
गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. ११
१३२. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
१३३. नारकतैर्यग्योनमानुष दैवानि।
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव), अ.७.,सूत्र १०, पृ. ५७५
१३४. नेरइय तिरिक्खाउ..... आउकम्मं चउव्विहं॥
उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), अ. ३३, गा. १२
१३५. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), चतुर्थ स्थान, ३-४ पृ. ४३८
१३६. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी). पद २३, उ. १

१३७. नारकतैर्यग् योन मानुष दैवानि।
तत्त्वार्थसूत्र (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), अ.८, सूत्र११
१३८. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०६ का सारांश
१३९. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ७, सूत्र १२
१४०. सच्चित्र पच्चीस बोल (आलोक ऋषिजी म.), पृ. १३
१४१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), प्रस्ता. पृ. २९
१४२. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२८
१४३. सूत्रकृतांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. २,अ.२, सूत्र ७०५ पृ. ६५, ६६
१४४. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३, गा. १२
१४५. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. १, गा. १
१४६. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२९
१४७. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६७–३६८
१४८. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १२९
१४९. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. १२
१५०. प्रज्ञापना सूत्र (युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद २३, उ. २
१५१. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र ११
१५२. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ९०
१५३. सुधर्म सुवास (राजेन्द्रकुमार सखपरा), पृ. १४५
१५४. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), चतुर्थ स्थान, ७ पृ.५९६
१५५. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. २२
१५६. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
१५७. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. १२, गा. १
१५८. स्थानांगसूत्र टीका, २/४/१०५
१५९. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. १३
१६०. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६८, ३६९
१६१. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद २३, उ. २, पृ. २९३
१६२. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र १२
१६३. समवायांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), समवाय - ४२
१६४. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती), पृ. २२
१६५. प्रज्ञापना सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद २३, उ. २, पृ. २९३
१६६. समवायांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), स्थान - ४२
१६७. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ९५

१६८. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. ११७
१६९. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. १२५
१७०. नवतत्त्व प्रकरणम् - ७ (देवगुप्तसूरि अभयदेव), भाष्य सहित- ३७
१७१. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १३१-१३२
१७२. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. २३
१७३. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २/४/१०५
१७४. कर्मप्रकृति (मलयगिरि कृत - टीका १), पृ. २
१७५. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६८-३६९
१७६. गोए णं भंते! कम्मे कई विहे पण्णत्ते ? गोयमा दुविहे पन्नत्ते तं जहा उच्चागोयेय नीच्चा गोए य॥ प्रज्ञापनासूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), पद २३, उ. २, सू. २८८
१७७. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र १३
१७८. उत्तसध्ययनसूत्र (युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. १४
१७९. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १३२
१८०. व्याख्याप्रज्ञप्ति (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श. ८, उ. ९ सूत्र - ३५१
१८१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. २३
१८२. कर्मप्रकृति (मलयगिरिकृत - टीका १), पृ. २
१८३. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र १४, अ. ६, सूत्र. २६
१८४. पंचध्यायी (राजमलजी), २/१००७
१८५. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनिजी), २/४/१०५
१८६. जैनागम स्तोक संग्रह (संग्राहक : प्र. पं. मुनि श्री मगनलालजी म.), पृ. १३३
१८७. स्थानांग सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनिजी), स्थान- १० दानसूत्र- ९७ पृ. ७१९
१८८. कर्म संहिता (साध्वी युगल निधिकृपाश्री), पृ. २४२
१८९. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मरुधर केसरी प्र. पू. मिश्रीमलजी म.), पृ. १४५
१९०. भगवतीसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि),
१९१. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ६, सूत्र २६
१९२. जैन तत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य पू. श्री अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३६९
१९३. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. २, सूत्र ४
१९४. जैनतत्त्वादर्श (विजयानंदसूरि), भा. १, पृ. ९
१९५. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य), अ. ८, सूत्र - १३ पृ. २३१
१९६. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३३, गा. १९
१९७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग- ४ (जगदीशचंद्र जैन), पृ. २२
१९८. गोम्मटसार कर्मकांड (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती), पृ. ४३७-५९१

१९९.जैनेन्द्रसिद्धांत कोश (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), भा. २, पृ. ४
२००. धवला, पु.१/१/१; १६/१८०/१
२०१. जैन दर्शन-मनन और मीमांसा (मुनि नथमल), पृ. ३०२
२०२. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (क्षु. जिनेन्द्रवर्णी), भा. ३, पृ. १६७
२०३. बध्यतेऽनेन बन्धन मात्रं वा बंधः। राजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव), १.४.१०.२६.४
२०४. राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), अ. १/४/१०/२६/३
२०५. बध्नाति बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन बंधनामात्रं वा बंधः।
राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), अ. ५/२४/१/४८५/१०
२०६. तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र २,३
२०७. उत्तराध्ययनसूत्र (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), टीका अ. २८, गा. १४
२०८. ठाणांगसूत्र (अभयदेवसूरि टीका), १,४,९
२०९. द्रव्यसंग्रह (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), २, ३, २
२१०. धवला (वीरसेनाचार्य), १०/४,२,४,२१/५२-४
२११. गोम्मटसार कर्मकांड (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. ४३८-५९१
२१२. जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन
(डॉ. सागरमल जैन), पृ. ३१९
२१३. 'स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकषणं णाम'।
गोम्मटसार कर्मकांड (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. ४३८-५९१
२१४. जैन दर्शन में कर्मवाद (गौतममुनि प्रथम), भाग- २, पृ. ६३
२१५. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति (कुंदकुदाचार्य), ३४
२१६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग- ४ (जगदीशचंद्र जैन), पृ. २३
२१७. धण्णस्य संगहो वा सत्तं। पंचास्तिकायसंग्रह, ३/३
२१८. पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध), १५३
२१९. गोम्मटसार कर्मकांड (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. ३८
२२०. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (क्षु. जिनेन्द्रवर्णी), भा. १, पृ. ३६३
२२१. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य), ६/१४/३३२
२२२. जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन
(डॉ. सागरमल जैन), पृ. ३२०
२२३. धवला (वीरसेनाचार्य), १५/४३/७
२२४. नालंदा विशाल शब्द सागर, पृ. १३७२
२२५. गोम्मटसार कर्मकांड (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. ४३८/५९१
२२६. जैन दर्शन-मनन और मीमांसा (मुनि नथमल), पृ. ३२१

२२७. ठाणांगसूत्र (संपा. युवा. मधुकर मुनि), ४/२९७
२२८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग- ४, (जगदीशचंद्र जैन), पृ. २५
२२९. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (क्षु. जिनेन्द्रवर्णी), भा. १, पृ. ४३५
२३०. राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), २/१/१/१००/१०
२३१. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य), २/१/१४९/५
२३२. गोम्मटसार कर्मकांड (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती), पृ. ४४०/५९३
२३३. आर्हत् दर्शन दीपिका, पृ. ८९
२३४. धवला (वीरसेनाचार्य), ६/१-९-९/२२/४२७/९
२३५. अनेकांतवाद- प्रवचनकार पू. युगभूषणविजयजी, पृ. ७५
२३६. योगदर्शन तथा योग विंशिका (पं. सुखलालजी), प्रस्ता. पृ. ५४
२३७. जैन धर्म और दर्शन (मुनि नथमल), पृ. २६५
२३८. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ३२१
२३९. सुत्तागमे (ठाणांगसूत्र) संपुप्फभिक्षु भाग- । स्थान- २, उ. ४, पृ. २००
२४०. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ३२, गा.- ७
२४१. सुत्तागमे (समवाय), भा. १, सः २, पृ. ३१७
२४२. उत्तराध्ययन सूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ३०, गा.-१
२४३. जैन दर्शन के नव तत्त्व (जैन साध्वी डॉ. धर्मशीला म.), पृ. २९३
२४४. 'कर्मसंहिता' (साध्वी युगल निधिकृपाश्री), पृ. २६६
२४५. दशवैकालिक सूत्र
२४६. ज्ञानार्णव (साध्वी डॉ. दर्शनलता), २१/२७ पृ. १५२
२४७. श्रीमद्गीता, २/५६,५७
२४८. नियमसार (कुंदकुंदचार्य)
२४९. प्रवचनसार (कुंदकुंदचार्य)
२५०. भगवती आराधना

* * *

पंचम प्रकरण

कर्मों की प्रक्रिया

पंचम प्रकरण

कर्मों की प्रक्रिया

कर्म पुद्गल जीव को परतंत्र बनाते हैं	२३६
जीव को परतंत्र बनानेवाला शत्रु : कर्म	२३६
कर्म विजेता : तीर्थंकर	२३६
कर्म बंध का व्युत्पति लभ्य अर्थ	२३७
आत्मा शरीर संबंध से पुनः पुनः कर्माधीन	२३७
जीव कब स्वतंत्र और परतंत्र	२३८
कर्म जीव को क्यों परतंत्र बनाता है ?	२३८
कर्मों द्वारा जीवों का परतंत्रीकरण	२३८
सुख-दुःख जीव के कर्माधीन	२४१
मिथ्यात्वी आत्मा में तप त्याग की भावना कैसे ?	२४५
प्रत्येक आत्मा स्वयंभू शक्ति संपन्न है	२४६
आत्मा की इच्छा बिना कर्म परवश नहीं होते	२४६
आत्मा का स्वभाव स्वतंत्र	२४६
कर्मराज का सर्वत्र सार्वभौम राज्य	२४७
कर्मरूपी विधाता का विधान अटल है	२४७
कर्म : शक्तिशाली अनुशास्ता	२४८
मुक्ति न हो तब तक कर्म छाया की तरह	२४९
कर्म का नियम अटल है	२४९
कर्मों के नियम में कोई अपवाद नहीं	२४९
जड़ कर्म पुद्गल में भी असीम शक्ति	२५०
कर्म शक्ति से प्रभावित जीवन	२५०
कर्म और आत्मा दोनों में प्रबल शक्तिमान कौन ?	२५१
कर्म शक्ति को परास्त किया जा सकता है	२५२
आत्म शक्ति, कर्म शक्ति से अधिक कैसे ?	२५३
कर्म मूर्तरूप या अमूर्त आत्मा गुणरूप	२५४
कर्म को मूर्त रूप न मानने का क्या कारण ?	२५४
गणधरवाद में कर्म मूर्त है या अमूर्त	२५४
मूर्त का लक्षण और उपादान	२५५
षड्द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त है	२५६

गणधरवाद में कर्म की मूर्तत्व सिद्धि २५६
जैन दार्शनिक ग्रंथों में कर्म की मूर्तता सिद्धि २५६
आप्त वचन से कर्म मूर्त रूप सिद्ध होता है २५७
कर्मों के रूप कर्म, विकर्म और अकर्म २५७
क्या सभी क्रियाएँ कर्म है ? २५८
पच्चीस क्रियाएँ : स्वरूप और विशेषता २५८
सांपरायिक क्रियाएँ ही बंधकारक, ऐर्यापथिक नहीं २५९
क्रिया से कर्म का आगमन अवश्य, सभी कर्म बंधकारक नहीं २५९
कर्म और अकर्म की परिभाषा २६०
बंधक, अबंधक कर्म का आधार बाह्य क्रियाएँ नहीं २६०
अबंधक क्रियाएँ रागादि कषाययुक्त होने से बंधकारक २६१
साधनात्मक क्रियाएँ अकर्म के बदले कर्मरूप बनती हैं २६१
कर्म का अर्थ केवल प्रवृत्ति नहीं, अकर्म का अर्थ निवृत्ति नहीं २६२
भगवान महावीर की दृष्टि से प्रमाद कर्म, अप्रमाद अकर्म २६२
सकषायी जीव हिंसादि में अप्रमत्त होने पर भी पाप का भागी २६३
कर्म और विकर्म में अंतर २६४
भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म का स्वरूप २६५
बौद्ध दर्शन में कर्म, विकर्म और अकर्म विचार २६६
कौन से कर्मबंध कारक, कौन से अबंधकारक ? २६६
तीनों धाराओं में कर्म, विकर्म और अकर्म में समानता २६६
कर्म का शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप २६७
शुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण २६८
अशुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण २६८
शुभत्व और अशुभत्व के निर्णय का आधार २६९
बौद्ध दर्शन में शुभाशुभत्व का आधार २६९
वैदिक धर्मग्रंथों में शुभत्व का आधार : आत्मवत् दृष्टि २७०
जैन दृष्टि से कर्म के एकांत शुभत्व का आधार : आत्मतुल्य दृष्टि २७१
शुद्ध कर्म की व्याख्या २७१
शुभ अशुभ दोनों को क्षय करने का क्रम २७२
अशुभ कर्म से बचने पर शेष शुभ कर्म प्राय: शुद्ध बनते हैं २७२
संदर्भ-सूची २७४

पंचम प्रकरण

कर्मों की प्रक्रिया

कर्म पुद्गल जीव को परतंत्र बनाते हैं

जैन दर्शन में जीवन और जगत के संचालन के संबंध में छह द्रव्य माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। तत्त्वार्थ सूत्र[१] और समयसार में भी इन छः द्रव्यों का वर्णन आता है।[२] इन सभी द्रव्यों का अपना-अपना पृथक्-पृथक् स्वभाव है। इनका अपना स्वभाव कभी निर्मूल नहीं होता। विभाव ही स्वभाव को विकृत और आवृत करता है। उसे स्वभाव के प्रगटीकरण में बाधक बनता है। किन्तु वह किसी द्रव्य के स्वभाव को निरस्त नहीं कर सकता, न ही सर्वथा लुप्त या विनष्ट करता है।

पूर्वोक्त छह द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो आत्मा से स्वभावतः अलिप्त और तटस्थ हैं। ये जीव की गति, स्थिति, अवकाश और समयादि व्यवहार में सहायक निमित्त बनते हैं, किन्तु जीव को बाँधने और परतंत्र बनाने का इनका स्वभाव या सामर्थ्य नहीं है। इसके विपरीत ऐसा भी कहा जा सकता है कि जीव और पुद्गल दोनों में चैतन्यशील ज्ञानवान जीव ही है, पुद्गल तो जड़ और ज्ञानशून्य है, इसलिए जीव (आत्मा) जब अपने स्वभाव को भूलकर परभाव या विभाव में रमण करता है, उसे ही अपना स्वभाव समझता है और मन, वचन, काया में प्रवृत्त होता है, तब कर्म पुद्गल पर हावी हो जाते हैं और उसके आत्म प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं और जीव को परतंत्र एवं विकृत कर देते हैं।

जीव को परतंत्र बनानेवाला शत्रु : कर्म

पद्मनंदि ने पंचविंशतिका में कहा है- 'धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य मेरा अहित नहीं करते। ये चारों गमनादि कार्यों में मेरी सहायता करते हैं। एक पुद्गल द्रव्य ही कर्म और नोकर्म रूप होकर मेरे समीप रहते हैं। यह बाँधने में, जकड़ने और परतंत्र बनाने वाला मेरा शत्रु है। अतः मैं अब उस कर्मरूपी शत्रु को भेद-विज्ञानरूपी तलवार से विनष्ट करता हूँ'।[३] समयसार में कहा है- जीव के लिए कर्म संयोग ऐसा है जैसा स्फटिक के लिए तमालपत्र।[४]

कर्म विजेता : तीर्थंकर

अरिहंतों, तीर्थंकरों के लिए आगमों तथा उनकी व्याख्याओं एवं ग्रंथों में यत्र-तत्र कर्मरूपी अरि-शत्रुओं को नष्ट करने वाली, कर्म शत्रु का ध्वंस करने वाले कहा गया है।[५]

वस्तुतः कर्मों को '**बंधविहाणे**' (बंधविज्ञान) में आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंद एवं शक्तिरूपी धन को लुटनेवाले लूटेरे कहा है।[६]

कर्म बंध का व्युत्पति लभ्य अर्थ

कर्मबंध का व्यत्पत्तिमूलक अर्थ करते हुए '**बंधविहाण**' में कहा गया है- 'जो बाँध देता है अर्थात् परतंत्रता में डाल देता है, वह (कर्म) बंध है'।[७]

'कर्म' का अर्थ बताते हुए आप्त परीक्षा में इस प्रकार कहा है कि, जो जीव को परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किये जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं।[८]

कर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने कर्माधीन अथवा कर्म विपाक परवशता को भलीभाँति जान लिया। इसलिए वे कहते हैं- 'दुःख तो तीर्थंकरों, ज्ञानीपुरुषों और निर्ग्रंथ मुनियों पर भी आते हैं; परंतु वे यह जानते हैं कि सारा संसार कर्म विपाक के आधीन है, न तो दुःख पाकर दीन बनते हैं और न ही सुख को पाकर विस्मित होते हैं'।

हीन स्थान क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि, 'संसारी जीव का शरीर ही हीन स्थान है। क्योंकि यह शरीर ही दुःख (कर्मोत्पत्ति) का कारण है। जैसे कारागार दुःख प्रद होने के कारण हीनस्थान माना जाता है, उसी प्रकार कर्मों के कारण प्राप्त यह शरीर भी हीन स्थान है।[९] महाबंधों में भी यह दर्शाया है।[१०]

आत्मा शरीर संबंध से पुनः पुनः कर्माधीन

शरीर से संबद्ध सजीव निर्जीव पर पदार्थों के प्रति रागद्वेषाविष्ट या कषायाविष्ट होता है। अतः पुनः पुनः कर्मबंधन से बद्ध होकर परतंत्र बनता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, कर्मों के द्वारा जीव बार-बार परतंत्र और विवश कर दिया जाता है।[११] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में बताया गया है कि, वह (कर्म) आत्मा को परतंत्र करने में मूल कारण है।[१२] आप्त परीक्षा में भी कहा गया है कि, कर्म जीव को परतंत्र करने वाले हैं।[१३]

निष्कर्ष यह है कि, जीव की कर्म परतंत्रता का आदि बिंदु शरीर है। आत्मा के साथ शरीर का संयोग होने से ही कर्म आत्मा को प्रभावित कर लेते हैं। जहाँ शरीर है, वहाँ वीतराग न होने तक राग-द्वेष के परिणाम आत्मा के साथ जुडा रहता है। राग-द्वेष की धारा सतत प्रवाहित होती रहने से आत्मा में कर्मयोग्य पुद्गल आकर्षित होते हैं, कर्म परमाणु जुड़ते हैं। आत्मा के साथ शरीर है वहाँ तक मानव एक या दूसरे प्रकार से प्रभावित और परतंत्र रहता है। यह पौद्गलिक शरीर ही संसारस्थ प्राणी की परतंत्रता का द्योतक है। इस परतंत्रता का मूल कारण कर्म है। अतः जब तक शरीर है, तब तक आत्मा स्वतंत्र नहीं, कर्म परतंत्र रहता है।

जीव कब स्वतंत्र और परतंत्र ?

वस्तुत: देखा जाये तो शुद्ध चैतन्य के कारण जीव में स्वतंत्रता की धारा सदैव प्रवाहित रहती है, किन्तु जब वह चैतन्य, राग द्वेषादियुक्त होता है तो, परतंत्रता की धारा भी साथ-साथ प्रवाहित होती रहती है। इसलिए छद्मस्थ जीव (आत्मा) में इन दोनों ही पक्षों- स्वतंत्रता और परतंत्रता का संगम बना रहता है। उसे किसी एक पक्ष में बाँटा नहीं जा सकता। शरीर, कर्म और राग-द्वेष से बँधा होने के कारण जीव स्वतंत्रता की अपेक्षा परतंत्रता का अधिक अनुभव करता है। इस प्रकार परतंत्रता के कारण उसकी स्वतंत्रता टिक नहीं पाती। स्वतंत्रता चलती है, पर परतंत्रता आवृत कर देती है, परंतु पूर्णतया नहीं।[१४] जिनवाणी विशेषांक में भी यही बात बताई है।[१५]

कर्म जीव को क्यों परतंत्र बनाता है ?

कर्म जीव (आत्मा) को परतंत्र क्यों बनाता है? इस विषय में गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि, आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और शक्तिसंपन्न है। आत्मा (जीव) जब ज्ञानादि स्वभाव या स्वरूप को छोडकर, विस्मृत करके राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, माया-कपट, विषयासक्ति आदि पर भावों या विभावों में रमण करने लगता है; तब उन वैभाविक परिणामों से कर्म पुद्गल आकृष्ट होकर बंध जाते हैं।[१६]

जैनाचार्य कुंदकुंद के शब्दों में - 'जब आत्मा अपने स्वभाव को छोडकर रागद्वेषादि परिणामों (विभावों) से युक्त होकर शुभ या अशुभ कार्यों (योगों) में प्रवृत्त होती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीयादि रूप से उसमें प्रविष्ट हो जाती है'। ऐसी स्थिति में आत्मा निज स्वरूप को भूल जाती है, विभावों के कारण विमूढ़ होकर कर्माधीन बन जाती है। संक्षेप में कहे तो आत्म-विस्मृति से या स्वभाव की विस्मृति से कर्म आत्मा को परतंत्र बना देता है। यह परतंत्रता जब अधिकाधिक जटिल होती है, तब उसे स्वभाव का भान नहीं होता; तथा वह कर्म के पाश में जकडने वाले मिथ्यात्वादि मूल कारणों को छोडने का पराक्रम नहीं करता। जब तक आत्मा संवर और निर्जरा द्वारा आने वाले कर्मों को स्थगित और पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण नहीं कर देती, तब तक आत्मा की कर्म परतंत्रता मिट नहीं सकती।

कर्मों द्वारा जीवों का परतंत्रीकरण

ज्ञानावरणीय कर्म

आत्मा का मूल लक्षण उपयोग है।[१७] उपयोग के दो भेद हैं- साकार और अनाकार। साकार उपयोग को ज्ञान और अनाकार उपयोग को दर्शन कहा गया है। यहाँ पर साकार का अर्थ सविकल्प है और अनाकार का अर्थ निर्विकल्प है। जो उपयोग वस्तु के विशेष अंश

को ग्रहण करता है, वह सविकल्प है और जो उपयोग सामान्य अंश को ग्रहण करता है, वह निर्विकल्प है। इस प्रकार आत्मा की ज्ञान शक्ति और दर्शन शक्ति दोनों असीम अनंत हैं।

संसारी छद्मस्थ आत्मा की ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति दोनों ही आवरण से मुक्त नहीं हैं। एक ओर ज्ञानावरणीय कर्म छाया हुआ है, दूसरी ओर दर्शनावरणीय कर्म। आत्मा की अनंत (असीम) ज्ञानशक्ति किस प्रकार आवृत है ? इस संबंध में गोम्मटसार में[१८] एक उपमा द्वारा समझाया गया है कि, जिस प्रकार किसी के नेत्र पर कपडे की पट्टी बाँध देने से उसे किसी वस्तु का विशेष ज्ञान नहीं हो पाता। उसी प्रकार आत्मा के असीम ज्ञान पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण लगा हुआ है अथवा दर्पण खुला हो (आवरण रहित हो या धुंधला न हो) तो उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रतिबिंब हूबहू देख सकता है, परंतु उस पर पर्दा पडा हो अथवा वह धुंधला हो तो उसमें प्रतिबिंब यथार्थ रूप से नहीं दिखाई दे सकता। इसी प्रकार आत्मारूपी दर्पण पर ज्ञानावरणीय कर्मरूपी पर्दा पडा होने से आत्मा का असीम ज्ञान प्रगट नहीं हो पाता। सम्यग्ज्ञान का अधिकांश भाग आवृत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, संसारी छद्मस्थ आत्मा का स्वभाव ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत है। उसका ज्ञानकर्म परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म

इसी प्रकार संसारस्थ आत्मा की दर्शनशक्ति भी स्वतंत्र नहीं है। वह भी दर्शनावरणीय कर्म से आवृत है। आत्मा की दर्शनशक्ति किस प्रकार आवृत है ? इसे भी गोम्मटसार में एक रूपक द्वारा समझाया गया है - एक व्यक्ति राजा से साक्षात्कार करना चाहता था। राजसभा के द्वार पर आकर जब वह राजा से मिलने के लिए सीधा प्रवेश करने लगा, तभी द्वारपाल ने उसे रोक दिया। इसी प्रकार संसारी छद्मस्थ आत्मा के दर्शन स्वभाव को दर्शनावरणीय कर्मरूपी द्वारपाल रोके हुए हैं। अतः दर्शन आवृत होने के कारण वह भी परतंत्र है, कर्माधीन है।[१९]

मोहनीय कर्म

संसारी छद्मस्थ आत्मा की सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन दोनों की शक्ति भी अवरुद्ध है, कुंठित है। मोहनीय कर्म इस आत्मा के साथ ऐसा लगा हुआ है कि, उसने मनुष्य की सम्यग्दृष्टि और सम्यक्चारित्र दोनों को विपर्यस्त एवं विकृत कर दिया है। आत्मा को परतंत्र बनाकर दुःखी करने में सबसे प्रमुख स्थान मोहनीय कर्म का है। मोहनीय कर्म के कारण जीव का ज्ञान अज्ञान रूप बन जाता है। जीव अपने स्वरूप में स्थित न होकर क्रोधादि विकृत अवस्था को प्राप्त करता है। दर्शनमोहनीय कर्म के कारण देव, गुरु, धर्म, शास्त्र तथा तत्त्वों के विषय में सम्यक्श्रद्धा से वंचित रहता है।

मोहनीय कर्म ने घाति कर्मबद्ध संसारी जीव को इतना परतंत्र बना दिया कि, अपने स्वरूप का तथा स्वरूप की प्राप्ति का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से यथार्थ भान नहीं हो पाता। इस कर्म के कारण न तो जीव आत्मदर्शन कर पाता है और न ही कल्याणमार्ग में लगता है। कषायाविष्ट तथा रागद्वेषाविष्ट होकर वह बार-बार मोह मूर्च्छित होकर या दृष्टि विपर्यास के कारण आत्मा से संबंधित प्रत्येक गुण एवं स्वभाव को विपरीत रूप में जानता मानता है अथवा दृष्टि सम्यक् हो तो भी राग-द्वेष कषायादि के आवेग के कारण उसकी चारित्र पालन की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। यह मोहनीय कर्म है, जो आत्मा को दीर्घकाल तक परतंत्र बनाये रखता है।

गोम्मटसार में इसे मद्यपान की उपमा देकर समझाया है कि, जिस प्रकार मदिरा पिया हुआ मनुष्य अपना भान भूल जाता है, वह मद्य के नशे में चूर होकर न तो किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निश्चय कर सकता है, न ही उसकी चेटा या व्यवहार सही होता है। इसी प्रकार उसकी दृष्टि, समझ, आचरण या व्यवहार सबके सब विपरीत हो जाते हैं।[२०] इसी प्रकार मोहनीय कर्मरूपी मद्य में मोह मूढ होकर व्यक्ति न तो अपनी आत्मा के स्वभाव को समझ सकता है और न ही तदनुरूप, निश्चय तथा सम्यक् चारित्र रूप व्यवहारचारित्र का पालन कर पाता है। प्राय: छद्मस्थ जीव मोहमद्य से मूर्च्छित है। उसकी चेतना प्रमत्त है, मोहकर्म परतंत्र है।

अंतराय कर्म

आत्मा की सबसे बडी विशेषता है- अनंतशक्ति संपन्नता। वह शक्ति क्रमश: पाँच भागों में विभक्त है- दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (पराक्रम)। संसारी जीव की इस विशिष्ट असीम आत्मशक्ति को अंतराय कर्म प्रकटित नहीं होने देता। यह कर्म प्रत्येक कार्य में विध्न उपस्थित करता है। धर्म कार्य में तप, सेवा तथा देव, गुरु, धर्म आदि की भक्ति में बाधा उपस्थित करना अंतराय कर्म का कार्य है। इस कर्म के कारण जीव शक्तिहीन एवं पराधीन बन जाता है। अंतराय कर्म इतना प्रबल आत्मगुण घातक है कि, वह चिरकाल तक आध्यात्मिक दानादि कार्यों को करने में शक्ति लगने ही नहीं देता।[२१] इसलिए कर्मशास्त्रियों ने अंतराय कर्म की तुलना राजा के भंडारी से की है। राजा द्वारा प्रसन्न होकर एक लाख रुपये देने के आदेश को रुखा दिखाने पर भी उसे रुपये देने से मना करता है। इसी प्रकार आत्मरूपी या परमात्मरूपी राजा का अमूक आध्यात्मिक आदेश होने पर भी अंतराय कर्मरूपी भंडारी उस शक्ति के प्रकटीकरण में बाधा उपस्थित करता है। इस प्रकार अंतराय कर्म आत्मा की शक्ति को कुंठित करके परतंत्र बना देता है। यह कर्म अनेक वर्षों तक कार्य में व्यवधान

उत्पन्न करता है। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतरायकर्म ये चार घाति कर्म हैं, जो आत्मा के स्वभाव, आत्मगुणों का घात करते हैं।[२२]

सुख दुःख जीव के कर्माधीन

वेदनीयकर्म

सांसारिक प्राणी के जीवन के दो अभिन्न साथी हैं- सुख और दुःख। ये दोनों जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त होने तक जीव के साथ-साथ रहते हैं, अलग नहीं होते। ऐसा नहीं होता कि सदा सुख ही सुख रहे या सदैव दुःख ही दुःख रहे। सुख और दुःख का संबंध वेदन से है। जीव अगर किसी सजीव या निर्जीव पदार्थ को लेकर सुख का अनुभव (वेदन) करता है तो सुख है, दुःख का वेदन करता है तो दुःख है। ये सुख और दुःख का वेदन भी कर्माधीन है। वेदनीय कर्म से ये दोनों इस प्रकार जुडे हुए हैं कि, वह वास्तविक आत्मिक सुख का भान नहीं होने देता। इसके प्रभाव से जीव सांसारिक सुख दुःख को सुख दुःख अथवा वस्तुनिष्ठ समझता है। वेदनीय कर्म की तुलना कर्मग्रंथ में मधुलिप्त तलवार से की गई है। एक तीखी धार वाली तलवार पर शहद का लेप लगा हुआ है। उस मधु के स्वाद के लोभ में आकर एक व्यक्ति उस तलवार पर जीभ लगाकर शहद चाटता है, परंतु उस प्रक्रिया से उसकी जीभ कटे बिना नहीं रहती। हितैषी पुरुष उसे इस मधु का लोभ छोडने को कहते हैं, किन्तु वह कहता है- एक बूँद मधु और चाँट लूँ। एक-एक बूंद मधु के लिए वह तरसता है। दुःख और विपत्ति की संभावना होते हुए भी वह इसे छोडना नहीं चाहता।

इसी प्रकार का वेदनीय कर्म है, जो सुख और दुःख दोनों का घटक है। मनुष्य क्षणिक सुख के लोभ में दुःख बीज सुख को अपनाता है। जानता है कि, इस विषयसुख या क्षणिक सुख के पीछे जन्म मरणादि के अगणित दुःखों का अंबार लगा हुआ है, फिर भी वह मोहांध होकर छोडता नहीं है।[२३]

अध्यात्मवेत्ता आचार्य कहते हैं कि, सुख भोगा जा रहा है वह दुःख का बीज है। सुखाशक्ति घोर दुःखजनक असातावेदनीय कर्मों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार वेदनीय कर्म जीव को पराधीन बनाकर सांसारिक क्षणिक सुख-दुःख के झूले में झुलाता है। दुःखबीज सुख के मोह से मनुष्य ज्ञानी महापुरुषों की बात को नहीं मानता। राजवार्तिक में कहा गया है कि, सुख-दुःख की उत्पत्ति में कर्म बलवान है।[२४]

आयुष्यकर्म

संसारी जीवों का जन्म और मरण भी आयुष्य कर्म के आधीन है। उसके जन्म-मरण की डोरी आयुष्य कर्म से बँधी हुई है। वह अपने कर्मानुसार जन्म लेता है। स्वकर्मानुसार

मरता है। आयुष्य कर्म जब तक पूर्ण नहीं होता, तब तक न तो उसकी मृत्यु होती है, न ही उसका नया जन्म। जन्म मृत्यु दोनों ही कर्माधीन हैं। आयुष्य कर्म की तुलना कर्ममर्मज्ञों ने एक बंदी से की है, जिसके पैरों में बेडियाँ पडी हैं। सांसारिक जीव कर्मों की गिरफ्त में कैद तो है ही फिर उसके पैरों में आयुष्य कर्म बेडी डालकर उसे सर्वथा परतंत्र बना देता है।[२५]

नामकर्म

नामकर्म को चित्रकार की उपमा दी है। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है।[२६] उसी प्रकार नामकर्म संसार में स्थित ८४ लाख प्रकार के जीव योनिगत जीवों के विविध चित्र-विचित्र शरीरों और उनसे संबंधित अंगोपांग की रचना करता है। वही मस्तिष्क, मन, बुद्धि, चित्त तथा हाथ, पैर, पेट, जीभ, कान, नाक आदि अंगोपांगों का निर्माण उस-उस जीव के कर्मानुसार करता है। जीव का शरीर आत्माधीन नहीं है वह आत्मा की अपनी रचना नहीं है। आत्मा अपना मन चाहा शरीर नहीं बना सकती। शरीर का सृजन तथा शरीर से संबंधित इन्द्रियाँ अंगोपांग मन तथा उसकी आकृति, संस्थान, मजबूती तथा शरीर से संलग्न इन्द्रिय विषय तथा मन से संबंध यश-अपयश, सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि सबकी रचना नामकर्म के आधीन है।

धवला[२७] में कहा गया है- नाम कर्मोदय से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तथा कर्मों की विचित्रता से ही जीव के आत्म प्रदेशों का संघटन का विच्छेद होता है। द्रव्यसंग्रह[२८] (टीका) में कहा गया है- जीव प्रदेशों का विस्तार कर्माधीन है, स्वाभाविक नहीं। तत्त्वार्थसार[२९] में बताया गया है कि, ऊर्ध्वगमन के अतिरिक्त अन्यत्र गमन रूप क्रिया कर्म के प्रतिघात से तथा निज प्रयोग से समझनी चाहिए।

नाम कर्म इतना शक्तिशाली है कि, कोई भी जीव उसकी रचना का प्रतिवाद नहीं कर सकता। उसके निर्माण के अधीन परतंत्र होकर उसे शरीर रूपी कारागार में रहना पडता है। अतः जीवों के शरीर और उससे संबंध सारी रचना नामकर्म के अधीन है। कोई भी जीव इस विषय में स्वतंत्र नहीं है।

गोत्रकर्म

गोत्रकर्म के साथ मानव की सम्मानीयता, असम्मानीयता जुडी हुई है। गोत्रकर्म दो प्रकार का है- उच्चगोत्र और नीचगोत्र। गोत्रकर्म का अर्थ - किसी वर्ण या जाति आदि से नहीं है। उसका अर्थ- लोकदृष्टि में जीव के अच्छे-बुरे व्यवहार, आचरण और कार्य के अनुसार उच्च और नीच शब्दों से पुकारा जाता है। जो जीव अच्छा आचरण करता है, वह अभिजात कहलाता है और नीच कार्य करता है वह अनभिजात कहलाता है। यही उच्च-

नीच गोत्र कर्म का आशय है। गोत्र कर्म को कुम्भकार से उपमित किया गया है।[३०] कुम्भकार बहुमूल्य और कममूल्यवाले घट आदि का भी निर्माण करता है।

इसी प्रकार गोत्रकर्म मनुष्य की उच्चता और नीचता का द्योतक है। इस प्रकार जीव गोत्रकर्म के आधीन होकर अपनी स्वतंत्रता को भी खो देता है।[३१] गोम्मटसार में भी यही बात कही है।

कर्म जीव की शक्तियों को विकृत बनाता है

आठों ही कर्म आत्मा के साथ बंधकर उसकी स्वाभाविक ज्ञानादि शक्तियों को विकृत कर डालते हैं। 'समयसार'[३३] में कहा गया है- 'जिस प्रकार मैल श्वेत वस्त्र को मलिन बना देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय परिणमनरूप कर्ममल ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप शुद्ध आत्मा को मलिन कर देता है।' परमात्म-प्रकाश[३५] में भी कहा गया है कि, 'कर्म आत्मा को परतंत्र करके तीनों लोक में परिभ्रमण कराता है।' धवला[३५] में भी कहा गया है कि, 'कर्म आत्मा की ज्ञानादि स्वाभाविक शक्तियों को घात करता है और उसे परतंत्र कर देता है तथा आत्मा विभाव रूप में परिणमन करने लगती है।' समयसार[३६] परमात्म-प्रकाश[३७] और तत्त्वार्थराजवार्तिक[३८] में भी यही बात आयी है।

आत्मा का स्वभाव विकास : कर्मस्वाभाव अवरोध

आत्मा सत् चित् आनंद स्वरूप है, अनंतज्ञान, दर्शन, अनंतशक्तिमय है। आत्मा अपने चैतन्य का ज्ञान, दर्शन तथा आत्मशक्ति का विकास करने में स्वतंत्र है। आध्यात्मिक दिशा में जितना भी विकास हुआ है उसमें (आत्मा) जीव का स्वतंत्र विकास स्पष्ट परिलक्षित है। आत्मा अपने निजी गुणों का विकास करने में पूर्ण-स्वतंत्र है।[३९]

कर्म का स्वभाव आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना नहीं है। उसका स्वभाव जीव के ज्ञानादि स्वभाव के विकास में अवरोध उत्पन्न करना, जीव के मूल स्वभाव को विकृत करना, ज्ञानादि गुणों को आवृत करना तथा जीव के ज्ञानादि आत्मगुणों के विकास को बाधित करके उसे परतंत्र बनाना है। कोई भी पुद्गल आत्मिक विकास में मूल कारण नहीं बनता। कर्म जीव के निजीगुणों का विकास करने में बाधक बनता है, इसलिए आध्यात्मिक विकास के कर्तृत्व में वह जीव की स्वतंत्रता पर हावी हो जाता है और बाधा डालती है। फिर भी विकास इसलिए होता है कि, जीव (आत्मा) की स्वतंत्र चैतन्यरूप सत्ता है, ज्ञानादि स्वभाव उसका उपादान है, वह कर्म से पृथक् है।

ज्ञाना का विकास आत्मा करती है, कर्म नहीं

उपादान वह होता है, जो उसे द्रव्य का घटक हो, जैसे मिट्टी घड़े का उपादान है। उसमें

घड़ा बनने की योग्यता है। कुंभकार आदि दूसरे साधन, सहायक या निमित्त बन सकते हैं, उपादान नहीं। घड़े के रूप में परिवर्तित होने वाली मिट्टी ही घड़े का उपादान हो सकती है, अन्य साधन नहीं। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानादि पर्यायों के विकास के लिए आत्मा ही घटक है। चैतन्य ज्ञान, दर्शन, आनंद और शक्ति ये आत्मस्वभाव ही उसके (आत्मा के) उपादान हैं। आत्मा में वह शक्ति है, उसका स्वभाव है कि वह ज्ञानादि पर्यायों को उत्पन्न कर सकती है अथवा उनका विकास कर सकती है।[४०] कर्म में वह शक्ति नहीं है कि, वह आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनंद और शक्ति तथा चैतन्य के पर्यायों को उत्पन्न कर सके तथा ज्ञानादि का विकास कर सकें, क्योंकि ये सब कर्म के स्वभाव नहीं है, आत्मा के स्वभाव हैं।

इस दृष्टि से आत्मा में ही अपने ज्ञानादि स्वभाव के पर्यायों को उत्पन्न करने तथा विकसित करने का स्वतंत्र अबाधित कर्तृत्व है।

जैन कर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति कदाचित् यह कहे कि, कर्मों के कारण शरीर तथा शरीर से संबंधित अंगोपांग आदि अच्छे मिलते हैं। यश मिलता है, मनोज्ञ पदार्थ मिलते हैं, इष्ट वस्तुओं का संयोग प्राप्त होता है। क्या यह आत्मा के विकास का परिणाम है? इसका समाधान यह है कि, यह सब आत्मा का विकास नहीं है। ये सब कर्मोपाधिक वस्तुएँ हैं। पौद्गलिक विकास है। जो शुभ नाम कर्म के द्वारा घटित होता है। नामकर्म या कोई भी कर्म आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव के विकास में सहायक नहीं, अवरोधक है, क्योंकि ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं, कर्मों का स्वभाव नहीं है। आत्मा ही अपने ज्ञानादि स्वभाव का विकास करता है।[४१]

दूसरी दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि, कर्म सांसारिक जीव के साथ जुडा हुआ एक माध्यम है जो प्रत्येक जीव को प्रभावित करता है परंतु वही सब कुछ नहीं है। यदि कर्म सबकुछ होता या सर्व शक्तिमान् होता तो व्यक्ति कर्म को काटने के लिए तप, संयम एवं त्याग की आराधना क्यों करता ? कर्म का स्वभाव नहीं है कि, वह प्राणी को तप, त्याग, संयम की ओर ले जा सके। कर्मों का स्वभाव है, व्यक्ति को असंयम, प्रमाद, भोग की ओर ले जाना। चार प्रकार के अघाति कर्म माने जाते हैं- वेदनीय कर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म। ये चारों ही आत्मा (जीव) का पौद्गलिक विकास कराने वाले, उसे असंयम, प्रमाद, मिथ्यात्व, कषाय एवं भोग की ओर ले जाने वाले हैं। आत्मिक विकास इनसे नहीं हो सकता।[४२] आत्मिक विकास होता है- तप, त्याग, संयम और अप्रमाद से।

शेष चार घातिकर्म- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय। ये आत्मा की ज्ञान और दर्शन शक्ति को आवृत करते हैं। मोहनीय कर्म आत्मा की दृष्टि और चारित्र

की शक्ति को कुंठित करता है और अंतराय कर्म आत्मा की दानादि शक्तियों को अवरुद्ध करता है।

मिथ्यात्वी आत्मा में तप त्याग की भावना क्यों ? और कैसे ?

आठ प्रकार के कर्मों में से कोई भी कर्म आत्मा को तप, त्याग एवं संयम की ओर जो जाने में समर्थ नहीं है, तथापि कर्मों के कारण मिथ्यात्व, असंयम, (अत्याग, भोग) प्रमाद एवं कषाय में आकंठ डूबा हुआ जीव तप, त्याग, संयम, नियम की साधना के लिए क्यों प्रेरित होता है ? उसके अंतकरण में तप, त्याग एवं संयम की भावना क्यों जागती है ? इसका कारण कर्म नहीं, आत्मा ही है; आत्मा का स्वभाव ही स्वयमेव कारण है। आत्मा में विशुद्ध चैतन्यशक्ति ऐसी है जो इन विजातीय तत्त्व बाह्य पदार्थों से सतत् संघर्ष करती है। वही चैतन्यशक्ति जीव को परम विशुद्ध परमात्म अवस्था तक ले जाना चाहती है। वह आत्मा के सहज सच्चिदानंद स्वरूप की अवस्था है। प्रत्येक आत्मा में वह चैतन्य की अन्तर्ज्योति सतत् जलती रहती है, वह कभी बुझती नहीं। उसी का प्रकाश जीव को तप, त्याग एवं संयम आदि की ओर ले जाता है। तप, त्याग एवं संयम, संवर आदि किसी कर्म की प्रेरणा से नहीं होता, ये होते हैं सचेतन आत्मा की प्रेरणा से।[४३]

कर्म अचेतन है और उससे प्रेरित व्यक्ति संयम भोग आदि से आसक्त हो जाता है। कर्म प्रेरणा से जीव असंयम भोग आदि से परतंत्र हो जाता है। इसके बावजूद भी आत्मा में अंतर्निहित शुद्ध चैतन्य की ज्योति त्याग परमार्थ एवं संयम की ओर ले जाती है। इसका कारण कर्म नहीं, आत्मा है। आत्मा में स्वबोध की स्वरूप चेतना, आनंद और आत्म शक्ति की सहज प्रेरणा होती है। वही उसे तप, त्याग, परमार्थ एवं संयम की ओर ले जाती है। यदि जीव में यह सहज प्रेरणा न होती तो, वह त्याग, संयम एवं परमार्थ की बात कभी नहीं सोच पाता न ही उस मार्ग की ओर कदम रखता। अनादिकालीन संस्कारों के कारण जीव की इन्द्रियाँ विशेष भोग, असंयम स्वार्थ एवं सुखशांति प्रिय होती है, फिर भी इन्हें त्याग, संयम और संवर करने की भावना जागती है। इसका कारण आत्मा का वह सहज ज्ञानादि स्वभाव है। इस प्रेरणा का मूल स्रोत आत्मा है। उसमें चैतन्य की एक शुद्ध धारा सतत बहती रहती है। वह एक क्षण भी रुकती नहीं, सर्वथा लुप्त भी नहीं होती। चैतन्य धारा सर्वथा लुप्त या अवरुद्ध हो जाए तो आत्मा चेतन से अचेतन बन जाएगी, परंतु ऐसा होना असंभव है।

जीव स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी। जहाँ चेतना का प्रश्न है, वहाँ वह स्वतंत्र है और जहाँ कर्म का प्रश्न है, वहाँ परतंत्र है। जहाँ जीव चेतना के साथ यानी ज्ञानादि स्वभाव के साथ होता है, वहाँ पूर्ण स्वतंत्र होता है, किन्तु जहाँ परभाव-कर्मविभाव, कषायादि के साथ होता है, वहाँ परतंत्र होती है। वहाँ उसकी स्वतंत्रता आवृत्त हो जाती है।[४४]

प्रत्येक आत्मा स्वयंभू शक्ति संपन्न है

पंचास्तिकाय में आत्मा की स्वतंत्रता और परतंत्रता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि, समस्त आत्माएँ स्वयंभू हैं। वे किसी के वशीभूत (परतंत्र) नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का स्वयं स्वामी है। 'वीतरागदेव के द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चलकर जीव समस्त कर्मों को उपशांत तथा क्षीण करके विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके प्रभुत्व शक्तिसंपन्न होकर परमविशुद्ध स्वरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है।[४५] पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति टीका में भी यही बात है।[४६]

आत्मा की इच्छा बिना कर्म परवश नहीं होते

आत्मा की इच्छा (संकल्पशक्ति) के बिना कर्म आदि कोई भी सत्ता उसे न तो अपने आधीन कर सकती, न ही उसके स्वभावों पर हावी होकर आत्मगुणों को आच्छादित विकृत कर सकती है। समग्र जगत के जीवों की कर्म परतंत्रता जानकर भी आत्मा चाहे तो अप्रमत्त एवं समभाव में रहकर स्वतंत्र रह सकती है।[४७] यह सत्य है कि, आत्मा उन इच्छाओं या वासनाओं को सम्यग्दृष्टिपूर्वक रोक सकती है। आत्मा की स्वाभाविक गति, मति, अग्निशिखा की भाँति ऊर्ध्वगामिनी है, परंतु स्वभाव के विरुद्ध इच्छाएँ या विकल्प उठते हैं, तब उसकी गति मति अधोगामिनी हो जाती है। कर्म पुद्गल उसे जकड लेते हैं। उसकी स्वतंत्र विकास की ऊर्ध्वगति को रोक देते हैं। आत्मविस्मृति या जैनपारिभाषिक शब्दानुसार प्रमाद के कारण जब आत्मा बाहर भटक जाती है, तब वह भावकर्म-द्रव्यकर्म के वशीभूत हो जाती है। कर्मों पर शासन करने के बदले कर्म उस पर शासन करने लग जाते हैं। समयसार कलश में कहा गया है, जहाँ तक जीव की निर्बलता है, वहाँ तक कर्म का जोर चलता है।

आत्मा का स्वभाव स्वतंत्र

आत्मा अपने मूल स्वरूप को अप्रमत्त होकर जानले, मानले तो उसकी चेतना शक्ति अतिप्रबल हो जाती है। अतः यदि वह प्रबलरूप से जागृत हो जाए और दृढ संकल्पपूर्वक ज्ञानबद्ध हो जाए कि, मुझे यह कार्य कतई नहीं करना है, तो फिर संस्कार या कर्म कितने ही प्रबल क्यों न हो एक झटके में वह उन्हें तोड सकता है।

स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों सापेक्ष हैं, सर्वथा निरपेक्ष नहीं। जैसे एक व्यक्ति भाँग पी लेता है। वह भाँग पीने में स्वतंत्र है। इच्छा हो तो पिए, इच्छा न हो तो न पिए, किन्तु परिणाम स्वरूप नशा चढा, उसका फल तो उसे भोगना ही पडेगा। उसकी इच्छा न होते हुए भी भाँग अपना चमत्कार दिखाएगी ही।[४८] अतः भाँग पीने में व्यक्ति स्वतंत्र है, परंतु उसका परिणाम भोगने में परतंत्र है।

भगवद्गीता में इसी सिद्धांत की प्ररूपणा की गई है। कहा गया है- 'तेरा कर्म करने में अधिकार है, अर्थात् कार्य (कर्म) करने में तू स्वतंत्र है, किन्तु उसके फल में तेरा अधिकार कदापि नहीं है, अर्थात् उसका फल भोगने में तू परतंत्र है।[४९]

अत: सिद्धांत यह हुआ कि जीव अपने कर्तृत्व में स्वतंत्र है किन्तु फल भोगने में परतंत्र है। अर्थात्- कर्तृत्व काल में वह स्वतंत्र है, किन्तु परिणामकाल में परतंत्र है। निष्कर्ष यह है कि एक बार कर्म करने के पश्चात् जो भी परिणाम बंधन आ पडे, वह जीवात्मा को स्वीकारना ही पडता है। कर्म करने में मनुष्य स्वतंत्र है, इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करना, न करना, कैसे करना, कौनसा कर्म न करना? इत्यादि विचारपूर्वक शुद्ध बुद्धि का उपयोग करके कर्म में प्रवृत्त होने में मनुष्य स्वतंत्र है, परंतु उसका फल भोगने में वह परतंत्र है। उसकी इच्छा, फल भोगने की न हो तो भी उसे वह फल अनिष्छा से भी भोगना पडेगा।[५०]

कर्मकर्ता की जितनी स्वतंत्रता कर्म करने की है उतनी ही जिम्मेबारी उस कर्म के परिणाम भोगने की होती है। कहावत है कि - Freedom implies Responsibility जितनी स्वतंत्रता उतनी ही जिम्मेदारी[५१] इसका यथार्थज्ञान कर्मकर्ता को रखना आवश्यक है। कुछ भी करने के बाद फिर मनुष्य चाहे कि उसका फल न भोगना पडे, यह असंभव है।

निष्कर्ष यह है कि रागादि परिणामयुक्त कर्म बंधकारक, परतंत्रकारक है। ईर्यापथिक कर्म रागादि परिणामों से रहित शुद्ध निष्काम कर्म बंध रहित होने से वे मनुष्य को परतंत्र नहीं बना सकते।

कर्मराज का सर्वत्र सार्वभौम राज्य

कर्म संसारस्थ प्रत्येक प्राणी के साथ लगा हुआ है। संसार की कोई भी गति, योनि, जन्म, स्थान ऐसा नहीं बचा, जहाँ कर्म का सार्वभौम राज्य न हो। संसार में सर्वत्र अबाधगति से इसका प्रवेश और प्रभाव है। पंचतंत्र[५२] में भी कहा गया है- 'मनुष्यों का पूर्वकृत कर्म आत्मा के साथ-साथ रहता है।' उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है- 'कर्म कर्ता के साथ-साथ अनुगमन करता है।'[५३]

कर्मरूपी विधाता का विधान अटल है

विश्व के इस विधाता का विधान अटल है। मानव, दानव, देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरपाल आदि यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीर्थंकर, पैगम्बर, ऋषि, महर्षि, अवतार आदि कोई भी इसके दंड से बचे नहीं हैं, और न ही बच सकते हैं। सभी एक या दूसरे रूप में इसके पाश में जकडे हुए हैं।

कर्मरूपी महाशक्ति को नमस्कार करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि- 'जिस कर्म ने (वैदिक पुराणों के अनुसार) ब्रह्मा को कुंभकार की तरह ब्रह्मांडरूपी भांड (बर्तन) बनाने में नियंत्रित (नियोजित) कर रखा, जिसने विष्णु को दस अवतार ग्रहण करने तथा सृष्टि का पालन करने का गहन कार्य देकर घोर संकट में डाल दिया। जिस कर्म ने रुद्र (महादेव) को खप्पर हाथ में लेकर भिक्षाटन करने का कार्य सौंप दिया। जिस कर्म के प्रभाव से तेजस्वी अंशुमाली सूर्य को नित्य ही गगन मंडल में भ्रमण करना पडता है, उस कर्म को नमस्कार है।[५४]

निष्कर्ष यह है कि, राजा हो या रंक, धनिक हो या निर्धन, सम्राट हो चाहे सेवक, दास हो चाहे स्वामी, श्रमिक हो या अश्रमिक, निरक्षर हो चाहे साक्षर, बुद्धिमान हो चाहे मूर्ख, युवक हो या बालक, युवती हो चाहे वृद्ध सभी कर्म शक्ति के आगे नतमस्तक है।

कर्म : शक्तिशाली अनुशास्ता

कर्म एक ऐसा प्रचंड शक्तिशाली अनुशास्ता है, जो अपने कानून कायदों को भंग करने या मर्यादाओं को तोडने वालों को दंड देता है और शुभ कर्म एवं परोपकारमूलक सुकृत्य करने वालों को पुरस्कार भी देता है। उसे प्रत्येक प्राणी के द्वारा किये जाने वाले क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्मों का लेखा जोखा रखने की जरूरत नहीं पडती। उसने प्रत्येक प्राणी के कृत, भुक्त और क्षीण कर्मों के संस्कारों का संचय करने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपनी ओर से 'कार्मण शरीर' नामक ऐसा साधन प्रदान कर रखा है, जो उसके द्वारा किये गये, भोगे गये या क्षय किये गये समस्त अच्छे-बुरे कृत कर्मों के संस्कारों को टेलीपथी की तरह उस पर अनायास ही अंकित करता रहता है। वे ही कर्मसंस्कार यथासमय उदित होकर उसे दंड या पुरस्कार देते रहते हैं। बाहर दिखाई देने वाला यह स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रिय शरीर) रहे या न रहे, परंतु यह कार्मण शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) मरते या जीते रहते हर समय, प्रतिक्षण संसारी जीव के साथ रहता है और उसकी समस्त कार्यवाही का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण करता रहता है। शास्ता और अनुशास्ता के रूप में समय-समय पर प्रत्येक प्राणी को उसके कर्म का फल देता रहता है।[५५]

हिंदुधर्म के पुरस्कर्ता गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं-

कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करही सो तस फल चाखा।।[५६]

कर्म का शासन कहे या अनुशासन विश्व में सर्वत्र सभी बद्ध जीवों पर चलता है।

मुक्ति न हो तब तक कर्म छाया की तरह

वेदपंथी कवि सिंहलन मिश्रजी ने कहा है- 'आप आकाश में उड जाएं, दिशाओं के परले पार चले जायें, अगाध महासागर के तल में जाकर बैठ जायें, कहीं भी जाकर छिप जायें, जहाँ चाहे वहाँ पहुँच जाएँ लेकिन आपने जन्म जन्मांतर में जो भी शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके फल तो आपकी छाया की तरह आपके साथ ही रहेंगे। वे आपको फल दिये बिना कदापि नहीं छोडेंगे।[५७]

कर्म का नियम अटल है

विश्व के प्रत्येक राज्य में हर डिपार्टमेंट को व्यवस्थित रूप से चलाने और नियंत्रण में रखने के लिए कानून कायदे होते हैं। समाज को सुचारु रूप से संचालन और नियमन करने हेतु नियमोंपनियम होते हैं। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी धर्म संघ को सुव्यवस्थापूर्वक चलाने आचार-संहिता तथा समाचारी बनाते हैं। इस प्रकार विश्व के प्रत्येक प्राणी के अपने-अपने अच्छे-बुरे कर्मों का सार्वभौम तथा अटल नियम (कानून) है। सारा विश्व कर्म के अटल नियम के अनुसार चलता है, इसमें थोडी भी गडबडी नहीं होती।[५८]

कर्मों के नियम में कोई अपवाद नहीं

कर्म के कानून की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें किसी भी प्रकार की लाच, रिश्वत आदि नहीं चलती। विश्व के समस्त कानून कायदों में कोई न कोई अपवाद आदि [Excepition of the Rule Proviso] धार्मिक नियमों और आचार संहिताओं में भी उत्सर्ग और अपवाद होता है, मगर कर्म के कानून में प्राय: अपवाद नहीं होता।[५९]

जड़ कर्म पुद्गल में भी असीम शक्ति

साधारण व्यक्ति यह समझता है कि, कर्म तो पुद्गल है, जड़ है, उनमें क्या शक्ति होगी? परंतु यह उनका भ्रम है। जड़ पदार्थों में भी असीम शक्ति होती है। अणुबम, परमाणु बम बहुत छोटा होता है, क्रिकेट की गेंद के आकार सा छोटे से बम का चमत्कार तो हम सुन चुके हैं। हिरोशिमा और नागासाकी जैसे दो विशाल और सुंदर शहरों को बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। जड़ बम का धमाका लाखों मनुष्यों के लिए विनाशलीला का सृजन कर सकता है। अणुबंब आकार में बहुत ही छोटा होता है, किन्तु शक्ति की अपेक्षा वह सहस्त्रों विशाल बमों से अधिक कार्य करता है। अब तो उससे भी अधिक पाँच सौ गुनी शक्तिवाला हाइड्रोजन बम निकला है। भौतिक विज्ञान वेत्ताओं के प्रयत्न से राइ के दाने से भी छोटा बम बन रहा है। वह एक ही बम सारे विश्व का सर्वनाश कर सकता है। इसलिए पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध में कहा गया है- 'कर्म की शक्ति आत्मा शक्ति में बाधक है।'[६०]

समयसार में कहा गया है- कर्म की बलवत्ता से जीव के रागादि परिणाम अज्ञान-पूर्वक होते हैं।[६१] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है- '(कर्मरूप) पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति दिखाई देती है, जिसके कारण जीव का केवलज्ञान स्वभाव भी विनष्ट हो जाता है।[६२] भगवती आराधना में कर्म की बलवत्ता बताते हुए कहा गया है- 'जगत के सभी बलों में कर्म सबसे बलवान है। कर्म से बढकर संसार में कोई बलवान नहीं है। जैसे हाथी नलिनीवन को नष्ट कर देता है, वैसे ही कर्मबल[६३] समस्त बलों को मर्दन कर देता है। परमात्मप्रकाश में भी स्पष्ट कहा गया है- कर्म ही इस पंगू आत्मा को तीनों लोक में परिभ्रमण कराता है। कर्म बलवान हैं। उसे विनष्ट करना बडा कठिन है। वे चिकने, भारी और वज्र के समान दुर्भेद होते हैं।[६४]

कर्मशक्ति के सम्मुख मनुष्य की बौद्धिक और शारीरिक शक्ति अथवा जितनी भी अन्य भौतिक शक्तियाँ वे सबकी सब धरी रह जाती है। अन्य सब भौतिक शक्तियों को कर्म शक्ति के आगे नतमस्तक होना पडता है। जैनागम, महाभारत आदि धर्मग्रंथों सभी इस तथ्य के साक्षी हैं कि, कर्मरूपी महाशक्ति के आगे मनुष्य की सारी शक्तियाँ नगण्य हैं, तुच्छ हैं।

कर्म शक्ति से प्रभावित जीवन

कर्मशक्ति की प्रतिकूलता या वक्रदृष्टि के कारण ही चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर को साढे बारह वर्ष अनेकानेक असह्य एवं भीषण उपसर्गों और कष्टों का सामना करना पडा। मनुष्यों, तिर्यंचों और देवों ने उनके जीवन में यातनाओं का एक जाल बिछा दिया था। यद्यपि वे चतुर्विध श्रमण संघ के अधिनायक एवं सर्वेसर्वा थे, किन्तु छद्मस्थ अवस्था के दौरान संगम देव द्वारा घोर कष्ट दिया गया। एक ग्वाले ने उनके कानों में कीले ठोके। जब वे अनार्य देश में पधारे, तब तो अनार्यों ने उन्हें कष्ट देने में कोई कसर नहीं रखी। उन पर शिकारी कुत्ते छोडे गये; जिन्होंने उनके शरीर में से माँस नोच-नोच कर खाया। यह सब पूर्वकृत निकाचित कर्मों की अवश्यमेव फलदायिनी शक्ति का प्रभाव था। भगवान महावीर का जीवन एक तरह से प्रचंड कर्मशक्ति से प्रभावित जीवन था।[६५] कल्पसूत्र[६६] भ. महावीर एक अनुशीलन,[६७] भगवतीसूत्र,[६८] महावीरचरियम्[६९] में भी यही बात कही है।

कर्म की दशा और गति अत्यंत गहन है। श्रीकृष्णजी के बाल्यकाल के मित्र सुदामा कर्म की गहनता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं- 'हम दोनों एक ही गुरु के शिष्य, सहपाठी थे किन्तु हम दोनों एक ही गुरु के शिष्य, सहपाठी थे किन्तु हम दोनों में तुम पृथ्वीपति हो और मैं दाने-दाने के लिए मोहताज बन गया। इसलिए कर्म की गति अत्यंत गहन दिखाई देती है।[७०]

कर्म की गति को बडे-बडे ऋषि, मुनि, महात्मा और अवतारी पुरुष भी भलीभाँति जान नहीं सके। संसार में जितने भी दु:ख, क्लेश एवं कष्ट दिखाई देते हैं, जो भी अशांत एवं विक्षुब्ध वातावरण दिखाई देता है, उन सभी के पीछे कर्म की गहन शक्ति और गति काम कर रही है। संक्षेप में कहें जो संसार में सभी छोटे-बडे जीव कर्म के प्रकोप से त्रस्त हैं, दु:खी हैं। कर्मशक्ति की विलक्षणता व्यक्त करते हुए एक कवि ने कहा है-

सीता को हरण भयो, लंका को जरण भयो,
रावण मरण भयो, सती के सराप तें।
पांडव अरण्य भयो, द्रुपद सुता के साथ,
सत्यभामा को डरन भयो, नारद मिलाप ते॥

राम वनवास गयो, सीता अविसास भयो।
द्वारिका विनाश भयो, योगी के दुराप तें॥
बडे-बडे राजा केते, संकट सहे अनेक।
सोहन बखाना, एक कर्म के प्रताप तें॥

कर्मशक्ति का प्रकोप का परिणाम है। वस्तुत: कर्मशक्ति का प्रकोप बडा भयंकर है।[७१]

राजवार्तिक में कर्मशक्ति का परिचय देते हुए कहा गया है- 'सुख-दु:ख की उत्पत्ति में कर्म बलवान है। चक्षुदर्शनावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के बल से चक्षुदर्शन की शक्ति उत्पन्न होती है।[७२] भगवती आराधना में बताया गया है कि, असातावेदनीय का उदय हो तो औषधियाँ भी सामर्थ्यहीन हो जाती हैं।[७३] सर्वार्थसिद्धि में भी समाधान देते हुए कहा है- प्रबल श्रुतावरण के उदय से श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है।[७४] समयसार में भी इसका समर्थन देते हुए कहा है- 'सम्यकदर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतिबंधक क्रमश: मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषाय नामक कर्म हैं।'[७५]

कर्म और आत्मा दोनों में प्रबल शक्तिमान कौन ?

प्रश्न होता है- कर्म में जिस प्रकार अनंतशक्ति है, उसी प्रकार आत्मा में भी अनंत शक्ति है। दोनों समान शक्तिवाले हैं फिर क्या कारण है कि, कर्म आत्मा की शक्ति को दबा देता है, आत्मा के स्वभाव और गुणों पर हावी हो जाता है? क्या आत्मशक्ति कर्मशक्ति से टक्कर नहीं ले सकती ? इसका समाधान देते हुए कहा है कि निश्चय दृष्टि से आत्मा में अनंत शक्ति है।[७६] वे शक्तियाँ दो प्रकार की हैं- १) लब्धिवीर्य (योग्यतात्मक) और २) करणवीर्य (क्रियात्मक शक्ति)। वर्तमान में संसारी आत्मा में योग्यतात्मक शक्ति तो है, लेकिन क्रियात्मक शक्ति उतनी प्रगट नहीं हो सकी इसलिए व्यवहार नय से देखें तो वर्तमान में

आत्मा की अनंत शक्ति बाधित है, अवरुद्ध है, आवृत है, दबी हुई है। वह पूर्णरूप से विकसित नहीं है। आत्मा की शक्ति पूर्णरूप से विकसित होने पर ही अनंत होती है।

इस कारण आत्मा प्रारंभ में अल्पशक्तिमान होता है, किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य जन्म पाकर जब अपनी उन सुषुप्त बाधित या आवृत शक्तियों को जगाता और विकसित करता है और एक दिन उन शक्तियों की परिपूर्णता तक पहुँच जाता है तब वह कर्मशक्ति कितनी ही प्रबल क्यों न हो वह पछाड देता है, परंतु जब तक अपनी अनंत शक्ति को परिपूर्ण विकसित नहीं कर लेता, तब तक वह अल्पशक्तिमान होता है। उस दौरान कर्मशक्ति उसे बार-बार दबा सकती है, उसे बाधित और पराजित कर सकती है।[७७]

समयसार में कहा गया है- 'जहाँ तक जीव की निर्बलता है, वहाँ तक कर्म का जोर चलता है। कर्म जीव को पराभूत कर देता है। यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि, आत्मा की परिपूर्ण विकसित अनंत शक्ति कर्म से कहीं अधिक प्रबल होती है।[७८]

जैसे दो मुनष्यों, दो घोड़े, दो हाथी की बलवत्ता में तारतम्य होती है, अर्थात् एक अनंत महाबली और दूसरा अल्पबली या दुर्बल हो सकता है। जब आत्मा बलवान् होती है तो उसके सामने कर्म की शक्ति नगण्य हो जाती है, और जब कर्म प्रबल होते हैं तब उनके आगे आत्मा को दबना पडता है।

इस तथ्य को भली भाँति समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए- जब जीवकृत कोई कर्म तप, जप, त्याग, संयम, ध्यान, चारित्र साधना आदि आध्यात्मिक साधनों से सत्पुरुषार्थ से नष्ट कर दिये जाते हैं, तब आत्मा बलवान दिखाई देती है, किन्तु जब कोई कर्म तप, त्याग, संयम आदि से क्षीण नहीं किये जाते या वह निकाचित कर्मरूप में बंध जाते हैं तो जीवात्मा के छक्के छुडा देते हैं, तब शक्तिशाली कर्म उसे नरकादि दुर्गतियों में ले जाकर यातनाओं के महासागर में पटक देता है।[७९] ज्ञान का अमृत[८०] में भी यही बात है।

विशेषावश्यकभाष्य-गणधरवाद में कहा गया है- 'कभी कर्म बलवान होते हैं और कभी आत्मा बलवान हो जाती है। आत्मा और कर्म में इस प्रकार पूर्वापरविरुद्ध टक्कर होती रहती है।' आशय यह है कि, कभी जीव काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड देता है और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।[८१]

कर्म शक्ति को परास्त किया जा सकता है

कर्मचक्र की अनवरत गति से यह नहीं समझना चाहिए कि, प्रत्येक आत्मा के लिए यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। तप, त्याग, संयम और समत्व की साधना के द्वारा उत्कृष्ट पात्रता पाकर आत्मा कर्मचक्र की इस गति को समाप्त कर सकती है। आत्मा कर्मचक्र में ग्रस्त तभी

होती है, जब वह राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि कषायों के आवेग के कारण कर्म बंधनों से बद्ध हो जाती है। व्यक्ति चाहे तो स्वयं को इन विकारों से बंधनमुक्त रख सकता है।

भगवान महावीर का यह संदेश उन कर्म मुक्ति गवेषकों के लिए परम प्रेरक है- 'आत्म-हितैषी व्यक्ति कर्मवर्द्धक क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायादि का त्याग कर दे।'[८२] क्रोधादि कषाय ही कर्मों के मूल स्त्रोत हैं। जब ये नष्ट कर दिये जाते हैं, तो इनकी नींव पर स्थित कर्मरूपी प्रासाद स्वत: ही धराशायी हो जाता है। आत्मा में स्वत: ऐसी शक्ति है कि, वह चाहे तो कर्मचक्र को स्थगित कर सकती है, स्वयं बंधन को काट सकती है। कर्म चाहे जितने ही शक्तिशाली हों आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसंपन्न है।[८३] जैसे अग्नि के बढते हुए कणों को रोका जा सकता है, वैसे ही आत्मा में प्रविष्ट एवं वृद्धि पाते हुए विजातीय कर्म परमाणुओं को भी रोका जा सकता है।

आत्म शक्ति, कर्म-शक्ति से अधिक क्यों ?

स्थूल दृष्टि से देखा जाये तो पानी मुलायम और पत्थर कठोर मालूम होता है, किंतु पहाड़ पर से धारा प्रवाह बहने वाला मुलायम पानी बड़ी-बड़ी कठोर चट्टानों को भी भेदकर उनके टुकडे-टुकडे कर डालता है। लोहा पानी से कठोर प्रतीत होता है, किंतु उसी लोहे को पानी के संपर्क में रखने पर वह उस गंज लगे काट को निकाल देता है। इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से कठोर प्रतीत होने वाले कर्मों को आत्मा के तप, त्याग, संयम आदि शस्त्रों से तोडा जा सकता है। कर्म स्थूलदृष्टि से बलवान प्रतीत होता है, किंतु आत्मा ही बलवान है। आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है।[८४]

वास्तव में आत्मा को जब तक अपने स्वरूप और शक्तियों का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह कर्मों को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर उनसे दबी रहती है। ऐसी स्थिति में जब आत्मा अपनी शक्ति के स्त्रोत से विस्मृत हो जाती है, तब कर्म उस पर हावी हो जाता है, परंतु जब आत्मा को अपनी शक्तियों का भान हो जाता है, वह भेद विज्ञान का महान अस्त्र हाथ में ले लेती है, तब आत्मा कर्मों को दबा देती है, नष्ट कर देती है।

अनंत-अनंत तीर्थंकर और वीतराग पथानुगामी अनेकों साधु-साध्वियों की आत्मा ने कर्मशक्ति पर विजय प्राप्त की है। वे लोग सच्चे कर्म विजेता बनकर जन मानस को यह उपदेश एवं संदेश देते हैं कि, 'महर्षिगण तप एवं संयम के द्वारा पूर्वकृत कर्मों को क्षीण कर उन्हें परास्त करके समस्त दु:खों को नष्ट करने का पराक्रम करते हैं।[८५] उन्होंने कहा है, 'दुर्जेय संग्राम में लाखों सुभटों को जीतने वाला सच्चा विजेता नहीं, बल्कि कषायादि विकारों को जीतने वाला ही सच्चा विजेता है'। पाँच इन्द्रियों (विषयों के प्रति राग-द्वेष) को तथा क्रोधादि चार कषायों के कारण अशुद्ध बनी हुई दुर्जय आत्मा और उसके दुर्जेय कर्मों को जिसने जीत

लिया उसने सब कुछ जीत लिया।[८६] यद्यपि कर्म महाशक्तिरूप होते हुए भी पुरुषार्थी जागृत आत्मा के आगे कर्म उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। अतः विजयी होने का श्रेय अनंत आत्मा को है।

कर्म मूर्तरूप या अमूर्त आत्मा गुणरूप

कर्म शब्द इतना गहन और जटिल है कि, उसका यथार्थ रूप और स्वरूप सहसा हृदयंगम नहीं हो सकता। वैसे तो जन जीवन के मन, वचन और काय पर 'कर्म' शब्द चढा हुआ है। भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने 'कर्म' शब्द पर अपने-अपने ढंग से विचार प्रस्तुत किये हैं। परंतु, पूर्ण तटस्थता एवं निष्पक्षता के साथ कहा जा सकता है कि, 'कर्म' के रूप और स्वरूप पर जितनी गहराई और वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण जैन दर्शन ने किया है, उतना अन्य दर्शनों में नहीं मिलता।[८७]

कर्म को मूर्त रूप न मानने का क्या कारण ?

भौतिकवादी तथा चार्वाक आदि प्रत्यक्षवादी दर्शन अपनी अदूरदर्शिता के कारण अथवा केवल बाह्यदर्शिता, प्रत्यक्षदर्शिता को लेकर कर्म के रूप और स्वरूप को मानना तो दूर रहा, कर्म के अस्तित्व तक को मानने से इन्कार करते हैं। 'कर्म इन चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, कर्म का कोई रूप या चिन्ह उन्हें इन स्थूल आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होता, किंतु वे कुछ शब्द या मंत्र अदृश्य होने पर भी उसके प्रभाव या कार्य को जानकर उसे तो प्रत्यक्षवत् मान लेते हैं।' विद्युत् तरंगे स्थूल आँखों से न दिखाई देने पर भी भौतिक विज्ञानी उसके अस्तित्व और स्वरूप को मान लेते हैं। वर्तमान में तो वायरलेस, टेलिविजन, टेलीप्रिंटर, टेलीफोन आदि समस्त दूरसंचार प्रणालियाँ अदृश्य एवं अव्यक्त होते हुए उनके द्वारा होने वाले कार्यों को देखकर उनके अस्तित्व और स्वरूप को मानते हैं फिर सारा प्राणिजगत् कर्म के द्वारा संचालित कार्य प्रत्यक्ष दृश्यमान होने पर भी कर्म को मूर्त-पुद्गल रूप भौतिक रूप, प्रत्यक्षवत् न मानने का क्या कारण ?

गणधरवाद में कर्म मूर्त है या अमूर्त ?

गणधरवाद में भावी गणधर अग्निभूति ने भगवान महावीर के समक्ष यह प्रश्न पूछा है कि, 'कर्म अदृष्ट है- चर्मचक्षुओं द्वारा दिखाई नहीं देता, ऐसे अदृष्ट फल वाला कर्म क्यों माना जाए ?'

इसका समाधान बताते हुए भगवान महावीर ने कहा- 'कृषि व्यापार आदि क्रियाओं का फल अदृष्ट है, फिर भी लोग करते हैं और उन्हें उनका फल अवश्य मिलता है। जो लोग अधर्म को अदृष्ट मानकर अशुभ क्रियाएँ करते हैं, उन्हें उनका फल (वे चाहें या न चाहें) मिले बिना नहीं रहता।

अतः शुभ या अशुभ क्रियाओं का फल कर्म अदृष्ट होने पर भी मिलता ही है। अन्यथा इस संसार में अनंत संसारी जीवों की सत्ता ही संभव नहीं है। क्योंकि अदृष्ट कर्म के अभाव में सभी पापी अनायास ही मुक्त हो जाएँगे और लोग अदृष्ट शुभकर्म को मानकर दानादि क्रियाएँ करते होगें उनके लिए यह संसार सीमित रह जायेगा। इससे सारे संसार में अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी।

यद्यपि अदृष्ट (कर्म) के अनिष्ट रूप फल की प्राप्ति के लिए इच्छापूर्वक कोई भी जीव क्रिया नहीं करना चाहता, फिर भी इस संसार में हिंसादि अशुभ क्रिया करने वाले अत्याधिक लोग अनिष्टफल भोगते नजर आते हैं। अतः मानना चाहिए कि, प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट (कर्म) फल होता ही है। इस प्रकार अदृष्ट (कर्म) के शुभाशुभ फल रूप कार्य को देखकर उसके कारण को मानना चाहिए।[८८]

अग्निभूति गणधर ने पुनः शंका उठाई कि, शरीर आदि कार्य मूर्त होने से उसका कारण रूप कर्म भी मूर्त होना चाहिए। भगवान ने कहा- मैंने कब कहा कि, कर्म अमूर्त है? मैं तो कर्म को मूर्त ही मानता हूँ; क्योंकि उसका कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, फिर भी परमाणु का कार्य घट मूर्त होने से परमाणु भी मूर्त है, वैसे कर्म भी मूर्त है। जो कार्य अमूर्त होता है, उसका उपादान कारण भी अमूर्त होता है। जैसे ज्ञान अमूर्त है, तो उसका समवायी (उपादान) कारण आत्मा भी अमूर्त है। फिर शंका उठाई गई कि सुख-दुःख अमूर्त हैं, वे कर्म के कार्य हैं, कर्म उनका कारण इसलिए उसे अमूर्त मानना चाहिए। भगवान ने समाधान किया- 'यह नियमविरुद्ध है। जो मूर्त है वह कदापि अमूर्त नहीं होता और जो अमूर्त है, वह कदापि मूर्त नहीं होता। मूर्त कार्य का कारण मूर्त होता है, अमूर्त कार्य का अमूर्त, यह सिद्धांत है। इस दृष्टि से सुख-दुःख आदि अमूर्त का समवाय आदि कारण अथवा उपादान कारण आत्मा है और वह अमूर्त है। कर्म तो सुख-दुःखादि का अन्नादि के समान निमित्त कारण है।[८९]

मूर्त का लक्षण और उपादान

जैन दर्शन में कर्म को पौद्गलिक, भौतिक अथवा मूर्त बतलाया गया है। मूर्त का अर्थ है रूपी या पौद्गलिक पुद्गल और मूर्त का लक्षण- जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो। ये ही चार पुद्गल के उपादान हैं। अमूर्त का अर्थ है- जिसमें वर्णादि न हो। आत्मा अमूर्त है। उसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आकार, प्रकार, शरीरादि नहीं होते। आत्मा का मौलिक स्वरूप एवं उपादान है- ज्ञान, दर्शन, आनंद (आत्मिक सुख) एवं शक्ति। पुद्गल, पुद्गल ही रहते हैं और चेतना, चेतना ही रहती है। दोनों अपना मौलिक स्वभाव और स्वरूप नहीं छोडते।[९०] धवला में भी यही बात कही है।[९१]

षड्द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त है

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय इन छह प्रकार के द्रव्यों में एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही वर्ण, गंध, रस, स्पर्श विशिष्ट होने से मूर्तिक है। अतः कर्म मूर्त सिद्ध होने पर उनकी पौद्गलिकता (भौतिकता) तो स्वयं सिद्ध हो जाती है।

गणधरवाद में कर्म की मूर्तत्व सिद्धि

गणधरवाद में कर्म को मूर्तत्व सिद्ध करने के लिए कहा गया है, कर्म मूर्त है क्योंकि आत्मा के साथ उनका संबंध होने से सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है। जैसे मूर्त अनुकूल आहार आदि से सुखानुभूति और मूर्त शस्त्रादि के प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शास्त्र दोनों ही मूर्त हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म भी मूर्त हैं। जो अमूर्त पदार्थ होता है, उससे संबंध होने पर सुखादि का अनुभव नहीं होता। जैसे आकाश। कर्म से संबंध होने पर आत्मा सुख दुःखादि का अनुभव करती है। अतः कर्म मूर्त है।

जैन दार्शनिक ग्रंथों में कर्म की मूर्तता सिद्धि

पंचास्तिकाय[९२] में कर्मों को मूर्त (पौद्गलिक) सिद्ध करते हुए लिखा है- 'जीव कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख के हेतुरूप इन्द्रिय विषयों का, मूर्त इन्द्रियों के द्वारा उपभोग करता है; इस कारण कर्म मूर्त है।' आप्तपरीक्षा[९३] में भी इसी का समर्थन किया है, इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये मूर्त हैं और उनका उपभोग करने वाली इंद्रियाँ भी मूर्त हैं। उनसे प्राप्त होने वाले सुख-दुःख भी मूर्त हैं। अतः उनके कारणभूत कर्म भी मूर्त हैं। 'कर्म - एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' में भी यही बात है।[९४]

पुद्गल की पाँच प्रकार की वर्गणाओं में जो कार्मण वर्गणा है वह आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह राग-द्वेष आदि विकारी भावों का निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप परिणमित हो जाती है।[९५] कार्मण वर्गणा के उस कर्मरूप परिणमन को द्रव्य कर्म कहते हैं। तथा आठ कर्मों के अवांतर भेद १४८ होते हैं। आचार्य गुणधर ने कषायपाहुड में कहा है - कर्म कृत्रिम होते हुए भी मूर्त हैं, क्योंकि मूर्त दवा के सेवन से परिणामंतर होता है, अर्थात् रुग्णावस्था स्वस्थ अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। यदि कर्म मूर्त न होता तो मूर्त औषधि से कर्मजन्य शरीर में परिवर्तन न होता।[९६]

सौ बात की एक बात - कर्म के कार्य को देखकर भी उसका मूर्तिक होना स्वतःसिद्ध होता है। तत्त्वार्थसार में यही कहा है- जिस प्रकार मिट्टी के परमाणुओं से निर्मित घट कार्य

को देखकर उसके परमाणु को मूर्त माना जाता है, उसी प्रकार कर्म के कार्य औदारिक आदि शरीर को मूर्तिक देखकर उनका कारणभूत कर्म भी मूर्तिक सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो अमूर्त पदार्थों से मूर्त पदार्थों की उत्पत्ति माननी होगी, जो सिद्धांत विरुद्ध है, क्योंकि अमूर्त कारणों से मूर्त कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती।[९७] विशेषावश्यकभाष्य[९८] में भी यही कहा गया है।

आप्त वचन से कर्म मूर्त रूप सिद्ध होता है

आगमों और कर्मग्रंथों[९९] आदि से भी कर्म मूर्त सिद्ध होता है। समयसार[१००] में कहा गया है- 'आठों प्रकार के कर्म पुद्गल स्वरूप हैं, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।' नियमसार में भी कहा गया है - 'आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता भोक्ता है, यह सिर्फ व्यवहार दृष्टि है।' पुद्गल मूर्तिक हैं, इसलिए कर्म भी मूर्तिक सिद्ध होते हैं।[१०१] जैन दर्शन में कर्म न तो अमूर्त आत्मगुण रूप है और न तो आत्मा के समान अमूर्त है। अपितु वह मूर्त रूप है, पौद्गलिक है, भौतिक है।

कर्मों के रूप कर्म, विकर्म और अकर्म

वैदिक धर्म परंपरा के मूर्धन्य ग्रंथ भगवद्गीता में कहा है- 'कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी जीव किसी काल में क्षणभर भी कर्म को किये बिना रह नहीं सकता। निःसंदेह संसारी आत्मा परवश होकर कर्म करते हैं।[१०२] अतः कोई भी पुरुष (जीवात्मा) कर्मों के न करने मात्र से' निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हो जाता और न ही (बिना शुभ उद्देश) कर्मों को त्यागने मात्र से सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होता है।[१०३]

भगवद्गीता के अनुसार 'कोई व्यक्ति कर्मेन्द्रिय को रोककर, मन से उन-उन कर्मों (क्रियाओं) का चिंतन, मनन, स्मरण करता रहता है अथवा इंद्रियों के विभिन्न विषयों को प्राप्त करने, भोगने और सुख पाने की मन ही मन कामना करता रहता है। वह मिथ्याचारी (दम्भी) है।' इन्द्रियों को निश्चेष्ट कर देने मात्र से किसी सांसारिक प्राणी का कर्म करना बंद नहीं हो जाता।[१०४] ऐसी निश्चेष्टता की स्थिति में भी वह मन से तो विचार करता रहता है। वह भी एक प्रकार का कर्म है। अतः कोई भी प्राणी बाहर से भले कर्म करता न दिखाई दे, परंतु चेतनाशील होने के कारण अंतरमन से तो कर्म करता ही रहता है। स्थूल रूप से कर्म न करने मात्र से कोई भी प्राणी 'अकर्म' या 'निष्कर्म' नहीं हो जाता।

जैन दर्शन के विद्वान पं. सुखलालजी ने प्रथम कर्मग्रंथ की भूमिका में लिखा है 'साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि कुछ काम नहीं करने से अपने को पुण्य पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड देते हैं; पर बहुधा उनकी मानसिक क्रियाएँ नहीं छूटतीं। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्यपाप के लेप (बंध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते।[१०५]

देहधारी प्राणी जब तक आठों ही कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाते, तब तक वे सर्वथा कर्म रहित नहीं होते। अकर्म भी तब तक नहीं हो पाते जब तक वे रागद्वेष रहित या कषायों से विरत होकर कर्म नहीं करते। अभिप्राय यह है कि, जब तक जीव आत्मशुद्धि के उद्देश्य से, एक मात्र कर्मक्षय करने की दृष्टि से, सहज भाव से कर्म नहीं करता, तब तक एक या दूसरे प्रकार से शुभ या अशुभ रूप में विविध कर्मों से प्रभावित होता रहेगा। वह बाहर से कर्म न करता हुआ भी मानसिक रूप से कर्म करता रहेगा।

क्या सभी क्रियाएँ कर्म है ?

क्या सभी क्रियाएँ कर्म कहलाती हैं ? यदि सभी क्रियाएँ कर्म कहलाती हैं। तब तो कोई भी मनुष्य यहाँ तक कि तीर्थंकर भी, सर्वज्ञ केवली भी कर्मबंध से बच नहीं सकते और न ही कर्म परंपरा से मुक्त हो सकते हैं फिर से कर्म से रहित अवस्था तो एक मात्र सिद्ध मुक्त परमात्मा को ही माननी पडेगी। संसारस्थ आत्मा, चाहे उच्चकोटि का अप्रमत्त साधक हो या वीतराग अर्हत-परमात्मा हो, सभी शरीरगत अनिवार्य क्रियाओं से नहीं बच सकने के कारण किसी न किसी रूप में कर्म के लपेटे में आते रहेंगे।

पच्चीस क्रियाएँ : स्वरूप और विशेषता

जैन दर्शन में मुख्यतया पच्चीस क्रियाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से २४ क्रियाएँ सांपरायिक हैं और पच्चीसवीं क्रिया ऐर्यापथिक है।[१०६] नवतत्त्व[१०७] में भी यही बात कही है।

चौबीस क्रियाएँ इस प्रकार हैं -

१) कायिकी,	२) आधिकरणिकी,	३) प्राद्वेषिकी,
४) पारितापनिकी,	५) प्राणातिपातिकी,	६) आरंभक्रिया,
७) पारिग्रहिकी,	८) माया,	९) राग,
१०) द्वेष,	११) अप्रत्याख्यान,	१२) मिथ्यादर्शन,
१३) दृष्टिजा,	१४) स्पर्श,	१५) प्रातीत्यिकी,
१६) सामन्तोपनिपातिका,	१७) स्वहस्तिकी,	१८) नैसृष्टिकी,
१९) आज्ञापनिका,	२०) वैदारिणी,	२१) अनाभोग ,
२२) अनाकांक्षा,	२३) प्रायोगिकी,	२४) सामुदायिकी।

ये सभी क्रियाएँ रागद्वेषादि युक्त होने से सांपरायिकी कहलाती हैं।[१०८] पच्चीसवीं ऐर्यापथिकी क्रिया है, जो विवेक (यत्नाचार परायण) एवं अप्रमत्तसंयमी व्यक्ति की गमना-गमन तथा आहार विहारादि चर्यारूप होती है।

सांपरायिक क्रियाएँ ही बंधकारक, ऐर्यापथिक नहीं

जैनदर्शन प्रत्येक क्रिया को बंधनकारक नहीं मानता, जो क्रिया या प्रवृत्ति (मन, वचन, काया का व्यापार) राग-द्वेष, मोह से युक्त होती है, वही बंधन में डालती है। इसके विपरीत जो क्रिया कषाय एवं आसक्ति (रागादि) से रहित होकर की जाती है, वह बंधकारक नहीं होती है। अतः बंधन की अपेक्षा से क्रियाओं को दो भागों में बाटा गया है- सांपरायिक क्रियाएँ और ईर्यापथिक क्रियाएँ। पच्चीस क्रियाएँ कर्मबंध के कारण हैं। इसलिए सम्यक्दृष्टि जीव को उनसे दूर रहना चाहिए।[१०९] जैनेन्द्रसिद्धांतकोश[११०] और अत्थागम (भगवती सूत्र)[१११] में भी यही बात आयी है।

क्रिया से कर्म का आगमन अवश्य, सभी कर्म बंधकारक नहीं

जब तक शरीर है और शरीर से संबंध वचन और मन है तथा इन्द्रियाँ और अंगोपांग हैं, तब तक कोई न कोई क्रिया या प्रवृत्ति होना अनिवार्य है और यह भी सत्य है कि, क्रियाओं से कर्म आते हैं, परंतु वे सभी कर्म बंधन में डालते हैं ऐसा नहीं होता।[११२]

क्रियाएँ कर्म, उपयोगे धर्म, परिणामे बंध'।

क्रिया से कर्म आते हैं, उपयोग (शुद्धोपयोग) से धर्म होता है और कर्मबंध परिणामों (रागादि शुभाशुभ भावों) पर आधारित है।[११३]

जैनदर्शन यह स्वीकार करता है, जब तक जीवन है, तब तक शरीर से सर्वथा निष्क्रिय (योगजनित व्यापार से) नहीं रहा जा सकता। सर्वथा अक्रिय अवस्था चौदहवें गुणस्थान में होती है। प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कोई न कोई क्रिया अवश्य रहती है।

मानसिकवृत्ति के साथ ही शारीरिक एवं वाचिक क्रियाएँ भी चलती हैं और क्रिया के फलस्वरूप कर्मों का आगमन (आस्रव) भी होता है। किन्तु रागादियुक्त प्राणियों (जीवों) की क्रियाओं द्वारा होने वाले कर्मास्रव और कषायवृत्ति रहित वीतराग दृष्टि संपन्न व्यक्तियों की क्रियाओं के द्वारा होनेवाले कर्मास्रव में बहुत ही अंतर है। कषाययुक्त प्राणियों की प्रत्येक क्रिया सांपरायिकी होती है, जब कि कषायरहित व्यक्तियों की प्रत्येक क्रिया ऐर्यापथिक होती है।[११४]

इसी तथ्य को व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में व्यक्त किया गया है कि 'सांपरायिकी क्रिया सकषायी और उत्सूत्री (सिद्धांत विरुद्ध प्ररूपणा/आचरण) करने वाले को लगती है, जब कि ईर्यापथिकी क्रिया अकषायी ससूत्री (सूत्रानुसार प्ररूपणा/आचरण करने वाले) साधकों को लगती है।[११५] तथा यह भी कहा है कि- महाव्रती श्रमण निर्ग्रंथ भी यदि ज्ञानदर्शनादि

साधना या महाव्रतादि आचरण की क्रिया में प्रमाद करते हैं या कषाययुक्त प्रवृत्ति करते हैं, तो उक्त योग एवं प्रमाद से उनको भी सांपरायिक क्रियाएँ लगती हैं।[११६]

कर्म और अकर्म की परिभाषा

पूर्वोक्त दोनों क्रियाओं के फल में अंतर यह है कि, दोनों क्रियाओं से कर्मों का आस्त्रव होते हुए भी सांपरायिक क्रिया से होने वाला कर्मास्त्रव बंधनकारक होता है। वह कषाय सहित क्रियाओं से होने वाला सांपरायिक कर्म कहलाता है। जो आत्मा के स्वभाव को आवृत्त करके उसमें विभाव उत्पन्न करता है, किन्तु जो क्रिया कषायवृत्ति से ऊपर उठे हुए वीतराग दृष्टि संपन्न व्यक्तियों द्वारा होती है, उससे होने वाला कर्म ईर्यापथिक कहलाता है, वह कर्मबंधकारक नहीं होता है। जिस प्रकार रास्ते की धूल के सूखे कण पहले समय में सूखे वस्त्र पर लगते हैं और दूसरे ही क्षण में झड जाते हैं। इसी प्रकार भगवान महावीर स्वामी ने अपनी अंतिम देशना, उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है- 'ज्यो ही चार घातिकर्म क्षय करके साधक सयोगी केवली होता है, त्यों ही प्रथम समय में कर्मबद्ध होता है, द्वितीय समय में उसका वेदन होता है और तृतीय समय में वह निर्जीण होकर झड जाते हैं। तत्काल वह अकर्म हो जाता है। कर्म का सूखा स्पर्श केवल दो समय तक रहता है।[११७]

वस्तुतः उक्त दोनों प्रकार की क्रियाओं में जो आस्त्रव के साथ बंध का कारण है, उससे होने वाले कर्म की स्थिति और अनुभाव बंधपूर्वक उदय में आने पर शुभाशुभ फल प्रदान करने वाला होता है, जब कि जो क्रिया अकषायी वृत्ति द्वारा होती है, उससे होने वाला कर्मप्रकृति और प्रदेशोदयरूप होता है। बंधकारक न होने से ऐसी (ऐर्यापथिकी) क्रिया संवर (कर्मनिरोध) एवं निर्जरा (आंशिक क्षय) का कारण बनती है। रागद्वेषादि युक्त न होने से ऐसा कर्म कर्ता को चिपकता नहीं, वह नाम मात्र का कर्म है। ऐसे कर्म अकर्म की कोटि में आते हैं। तात्पर्य यह है कि, बंधक कर्म को 'कर्म' और अबंधक कर्मों का कर्म होते हुए भी 'अकर्म' कहा गया है।

बंधक अबंधक कर्म का आधार बाह्य क्रियाएँ नहीं

बंधक कर्म और अबंधक कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है, अपितु वह कर्ता के परिणाम/मनोभाव अथवा विवेक-अविवेक पर निर्भर है। यदि कर्ता के परिणाम रागादियुक्त नहीं हैं, शारीरिक क्रियाएँ भी अनिवार्य तथा संयमी जीवन यात्रार्थ अप्रमत्त होकर यत्नाचारपूर्वक की जा रही हैं अथवा शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष भाव से स्व-पर कल्याणार्थ प्रवृत्तियाँ की जा रही हैं या कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना अप्रमत्त भाव से की जाती है, तो उससे होने वाले कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बंधकारक नहीं होते, इसलिए अकर्म हैं।[११८] इसी दृष्टि से सूत्रकृतांगसूत्र में प्रमाद को

कर्म और अप्रमाद को 'अकर्म' कहा गया है। प्रमाद में कषाय, विषयासक्ति, विकथा, असावधानी, अयत्ना, मद आदि सभी का समावेश हो जाता है। तीर्थंकरों तथा वीतराग पुरुषों की संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ भी अकर्म की कोटी में आती हैं।[११९] यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप के सम्यक् आचरण-अप्रमत्ततापूर्वक रागादि रहित आचरण को मोक्ष (कर्मों से मुक्त होने का) मार्ग कहा गया है।[१२०]

संक्षेप में सभी क्रियाएँ जो आश्रव एवं बंध का कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो बहुधा संवर और निर्जरा के कारण हैं वे 'अकर्म' हैं।

अबंधक क्रियाएँ रागादि कषाययुक्त होने से बंधकारक

कर्मणा बध्यते जन्तुः। (प्राणी कर्म से बंधा जाता है)

महाभारत[१२१] (शान्तिपर्व २४०) की यह उक्ति अक्षरशः सत्य नहीं है। उसका कारण यह है कि, सभी कर्म या क्रिया एक सी नहीं होती। बंधन की अपेक्षा से उनमें अंतर होता है। क्रिया एक समान होती हुए भी कोई कर्म बंधकारक नहीं होता, कोई कर्म बंधकारक होता है इसलिए कौनसा कर्म बंधन कारक है, कौन सा नहीं, इसका निर्णय केवल क्रिया के आधार पर नहीं होता।

जैनदर्शन इसका निर्णय कर्ता के भावों, परिणामों तथा उस क्रिया के प्रयोजन-उद्देश्य के आधार पर करता है। मानो कि एक साधक अहिंसा-सत्यादि महाव्रतों का पालन कर रहा है, सेवा (वैयावृत्य) कर रहा है, पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन भी कर रहा है, धार्मिक क्रियाएँ भी कर रहा है, परंतु इन सबके पीछे उसकी दृष्टि एवं वृत्ति सम्यक नहीं है या कषाय रहित नहीं है अथवा आडंबरयुक्त प्रदर्शनकारी क्रियाएँ हैं तो पूर्वोक्त कर्म अबंधक कहलाने वाली साधनात्मक क्रियाएँ भी अकर्म के बदले कर्म में ही परिगणित होंगी।

साधनात्मक क्रियाएँ अकर्म के बदले कर्मरूप बनती हैं

साधनात्मक क्रियाएँ भी यदि इहलौकिक पद प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए अथवा महाव्रतादि या रत्नत्रय की साधना भी प्रशस्त रागवश की जायें तो कर्मबंधक हो जायेगी, अर्थात् अकर्म न कहलाकर कर्म कहलायेगी। भले ही वे क्रियाएँ शुभ होने से शुभबंधक हों। दशवैकालिकसूत्र में कर्मक्षय कारक (निर्जरा) व अकर्मरूप तपश्चरण तथा कर्ममुक्ति के लिए पंचविध आचार पाले, परंतु ऐहिक या पारलौकिक कामनापूर्ति के लिए कोई भी क्रिया मत करो।[१२२]

सूत्रकृतांग में भी बताया गया है कि, 'योग्यरीति से किया हुआ कर्मक्षय का कारणभूत

तप भी यदि यश-कीर्ति की इच्छा से किया जाता है, तो वह शुद्ध कर्म अकर्म की कोटि में नहीं होगा'।[१२३]

इस प्रकार शुद्ध कहलाने वाले कर्म भी प्रशस्त रागयुक्त होने से शुद्धोपयोगयुक्त नहीं होते। यही कारण है कि, कर्मक्षय कारक कहलाने वाले शुद्ध कर्म (अकर्म) समान रूप से किये जाने पर भी वे सम्यक्दृष्टि के 'शुद्धपयोगमूलक और मिथ्यादृष्टि के लिए निदान रूप फलकांक्षामूलक होने से पृथक्-पृथक् कोटि के हो जाते हैं।'

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कर्मवीरता दिखाते हुए चाहे समानरूप से आचरण करते हुए दिखाई देते हों, परंतु उनकी दृष्टि में सम्यक्त्व असम्यक्त्व का अंतर होने से एक का पुरुषार्थ शुद्ध (कर्म अबंधक) होता है और दूसरे का अशुद्ध कर्म बंधक होता है। ज्ञान और बोध से युक्त व्यक्ति अप्रमत्त होकर कषाय रहित वृत्ति से एक मात्र निर्जरा (कर्मक्षय) या संवर (कर्मनिरोध) की दृष्टि से पराक्रम करता है। अज्ञानी और सम्यक् बोध से रहित, वृत्ति का पराक्रम सकाम-कामनायुक्त होने से निर्जरा और संवर से रहित होता है, इस कारण वह पराक्रम अशुद्ध और कर्मबंधकारक होता है। उसका फल उसे सर्वथा भोगना ही पडता है।[१२४]

इस संबंध में गीता[१२५] और जैन दर्शन दोनों एकमत हैं। आचारांगसूत्र[१२६] और सूत्र-कृतांग[१२७] में भी कर्म और अकर्म की अर्थात् बंधक और अबंधक कर्म की भिन्नता स्पष्ट रूप से बताई गई है।

कर्म का अर्थ केवल प्रवृत्ति नहीं, अकर्म का अर्थ निवृत्ति नहीं

इस संबंध में गाँधीवादी प्रसिद्ध विचारक स्व. किशोरलाल मश्रुवाला के विचार मननीय हैं- 'शरीर, वाणी और मन की क्रियामात्र कर्म है; यदि कर्म का हम यह अर्थ लेते हैं, तो जब वह देह है तब तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिल्कुल छोड नहीं सकता। जैसे कथा में पढते हैं कि कोई साधक (या संन्यासी) वर्ष भर निर्विकल्प समाधि में निश्चेष्ट होकर पडी रहे, परंतु जिस क्षण उठेगा (समाधि खोलेगा) उस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य करेगा। इसके अलावा हमारी कल्पना ऐसी है कि, हमारा व्यक्तिगत देह से परे जन्म जन्मांतर पाने वाला जीवरूप है, तब तो देह के बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय (अकर्म) न हो सके तो उसका अर्थ यह हुआ कि कर्मक्षय होने की कभी संभावना नहीं है।[१२८]

भगवान महावीर की दृष्टि से प्रमाद कर्म, अप्रमाद अकर्म

भगवान महावीर की दृष्टि में, कर्म का अर्थ-शरीरादि चेष्टा मात्र नहीं है और न ही अकर्म का अर्थ शरीरादि का अभाव या एकांत निवृत्ति है। 'सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान

महावीर के कर्म और अकर्म के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है कि 'प्रमाद को ही कर्म' (बंधककर्म) कहा गया है । तथा अप्रमाद को (अबंधककर्म) कहा गया है।[१२९]

इसका तात्पर्य यह है कि, कर्म केवल सक्रियता या प्रवृत्तिमात्र नहीं हैं, किंतु किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया के पीछे अ-जागृति प्रमाददशा या आत्मस्वरूप के भान का अभाव होना कर्म है। इसी प्रकार अकर्म का अर्थ एकांत निवृत्ति या निष्क्रियता नहीं, अपितु प्रवृत्ति या निवृत्ति के साथ सतत जागृति/अप्रमत्त दशा अथवा आत्मस्वरूप का भान है।

अगर एकांत निष्क्रियता को ही अकर्म कहा जाये, तो मृत प्राणी या पृथ्वीकायादि पाँच प्रकार के स्थावर जीव स्थूलदृष्टि से निष्क्रिय होने से उनकी निष्क्रियता या निवृत्ति को अकर्म कहना पडेगा, जो कर्म सिद्धांत से संमत नहीं है।[१३०] जैन-कर्म-सिद्धांत की दृष्टि से आत्मा अविनाशी और शाश्वत है। इसलिए स्थूल शरीर चाहे छूट जाए सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर (तैजस और कार्मण) शरीर तो जीव के साथ जन्म जन्मांतर तक, तब तक रहता है जब तक वह कर्मों से मुक्त नहीं हो पाता।[१३१]

सकषायी जीव हिंसादि में अप्रवृत्त होने पर भी पाप का भागी

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[१३२] में कहा गया है कि, कोई व्यक्ति निष्क्रिय अवस्था में है, कुछ भी चेष्टा नहीं कर रहा है, किंतु रागादि के वश है और नहीं, हिंसादि पापों से विरत (निवृत) या विरक्त नहीं है, ऐसा व्यक्ति बाह्यरूप से हिंसादि न करता हुआ भी पाप कर्म के फल का भागी बन जाता है। ऐसे प्राणी हिंसा करें या न करें उसने अपने आत्मा की तो भावहिंसा करली।

भगवतीसूत्र में[१३३] वर्णन आता है कि, एक शिकारी किसी मृग आदि पर बाण (शस्त्र) चलाता है, किन्तु दैवयोग से बाण उस पर नहीं लगता। ऐसी स्थिति में वह प्राणी भले ही उसके बाण से न मरा हो, न ही घायल हुआ हो फिर भी उस शिकारी (व्यक्ति) के प्राणातिपात रूप सांपरायिकी क्रिया लग चुकी। फलतः बाहर से निष्क्रियता की स्थिति होने पर भी उसे प्राणातिपात (हिंसा) की क्रिया लग जाती है और पाप कर्म का बंध भी होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि, दैनिक चर्या में ईर्या समिति नीचे देखकर चलते हुए तो साधु के पैर के नीचे यदि कोई जीव मर जाता है तो साधु को ईर्यापथिक क्रिया लगती है, सांपरायिकी नहीं, अर्थात् उसकी वह क्रिया प्रमाद एवं कषाय युक्त योग से नहीं होती इसलिए कर्मबंध नहीं होता। कर्मबंधक न होने के कारण, वह कर्म होने पर भी अकर्म कहलाती है। बल्कि वीतराग अवस्था में समस्त क्रियाएँ संवर एवं निर्जरा के कारण होने से भी अकर्म की कोटि में आती हैं।[१३४]

सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है- अज्ञानी पुरुष कर्म (पुण्यकर्मों के) अनुष्ठान के साथ रागादि या कषायादि का मैल मिल जाने से कर्मक्षय नहीं कर पाते, जब कि ज्ञानी धीर पुरुष अकर्म (कर्मबंधरहित) संवर, निर्जरा रूप कार्यों से कर्म क्षय करते हैं।[१३५]

कर्म और विकर्म में अंतर

जो मनुष्य अभी छद्मस्थ है, पूर्णतः कषायमुक्त नहीं है, जिसे वीतराग दशा प्राप्त नहीं हुई है, उसके द्वारा शुभ भावों से जो भी दान, शील, तप, भाव, परोपकार, व्रत, नियम पालन आदि की क्रियाएँ होती हैं, वे सब क्रियाएँ शुभ आस्रव एवं शुभ बंध के कारण होने से उन्हें कर्म- पुण्यकर्म कहा जाता है। इसी प्रकार जो क्रियाएँ अशुभ आस्रव एवं अशुभ बंध के कारण है, उन्हें विकर्म (पापकर्म) कहा जाता है।

दशवैकालिकसूत्र में कहा है, जो छद्मस्थ साधक अप्रमत्त होकर यतनापूर्वक सावधानी से चलना, उठना, बैठना, सोना, जागना, खाना, पीना, बोलना आदि कोई भी क्रिया करता है तो, उसकी वह क्रिया पापकर्मबंधक नहीं होती।[१३६] साधक आत्मा को यत्नापूर्वक क्रियाएँ करने से पापकर्म का बंध नहीं होता या तो उन क्रियाओं से पुण्यकर्म का बंध होगा या फिर उन कर्मों का क्षय (निर्जरा) होगा।

कर्म और अकर्म का विवेक करने के लिए आचारांग सूत्र में निर्देश किया गया है कि अग्रकर्म और मूलकर्म का सम्यक् परिप्रेक्षण (प्रतिलेखन) करके दोनों का अंत राग-द्वेष से बचकर कर्म कर !। यहीं अग्रकर्म से तात्पर्य है- कर्म (शुभकर्म) का और मूलकर्म से तात्पर्य है- विकर्म (पापकर्म) का। इन दोनों से बचकर अबंधक कर्म (शुद्ध कर्म-अकर्म) करने की यही प्रेरणा है।[१३७]

बंध और अबंध की मीमांसा करते हुए पं. सुखलालजी लिखते हैं- 'यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं हैं, तो कोई भी क्रिया आत्मा को बंधन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे यदि कषाय का वेग भीतर विद्यमान है, तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बंधन से छुडा नहीं सकता।[१३८] अतः कषाय (रागादि भाव) से मुक्त साधक ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी अकर्म कहलाता है वह कर्म से लिप्त (बद्ध) नहीं होता।

''वस्तुतः कर्म-विकर्म तथा अकर्म को पहचान ने में क्रिया या व्यवहार प्रमुख तत्त्व नहीं है। प्रमुख तत्त्व है, कर्ता का चेतना पक्ष, यदि कर्ता की चेतना प्रबुद्ध है, विशुद्ध है, जागृत है, कषायवृत्ति रहित या रागादिशून्य है तथा अप्रमत्त और सम्यग्दृष्टि संपन्न है, तो क्रिया या व्यवहार का बाह्य रूप का कोई महत्त्व नहीं होता।''[१३९]

इष्टोपदेश में कहा गया है- 'जो आत्म स्वभाव में स्थिर है, वह बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता, देखते हुए भी नहीं देखता है।[१४०] उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है- 'रागादि भावों से विरक्त व्यक्ति शोक रहित हो जाता है, वह संसार में रहते हुए भी कमल-पत्रवत् अलिप्त रहता है।[१४१]

संक्षेप में जो प्रवृत्तियाँ या कर्म रागादियुक्त होने से शुभ बंधन कारक हैं, वे कर्म हैं। जो अशुभ बंधनकारक हैं, वे विकर्म हैं और जो प्रवृत्तियाँ या कर्म राग-द्वेष रहित होने से बंधनकारक नहीं हैं, वे अकर्म ही हैं।

भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म का स्वरूप

भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप पर गहराई से चिंतन प्रस्तुत किया गया है। 'हे अर्जुन ! कर्म की गति अतीव गहन है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को कर्म और विकर्म (निषिद्ध कर्म) का स्वरूप जानना चाहिए। साथ ही अकर्म के स्वरूप का बोध भी करना चाहिए। इस प्रकार का विवेक करने वाला साधक कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म कहे जानेवाले कार्य में कर्म को भी पहचान जाता है, ऐसा व्यक्ति मनुष्यों में श्रेष्ठ और बुद्धिमान होता है वह सहज और अनिवार्य सभी शारीरिक कर्म करता है।'

गीता के अनुसार कर्म वह है जो फल की इच्छा से किया जाता है, भले ही वह शुभ हो। यज्ञ, दान, तप, त्याग, व्रत, नियम, श्रद्धा, भक्ति आदि शुभ कार्य भी यदि शुभ रागाविष्ट होकर प्रसिद्धि प्रशंसा या प्रतिस्पर्द्धावश किये जाते हैं तो गीता की दृष्टि से कर्म हैं। इन्हें आगे चलकर गीता में राजसकर्म भी कहा गया है।

'कभी-कभी बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म भी कर्ता की बुद्धि अगर आसक्ति आदि से लिप्त नहीं हैं, न ही अहंकार है तो शुद्ध भाव से अथवा किसी को न्याय दिलाने अथवा किसी महिला के शील की रक्षा करने आदि कर्तव्य बुद्धि से किये जाने वाले पापकर्म फलोत्पादक कर्म भी शुभकर्म में अथवा अकर्म में भी परिणत हो जाते हैं[१४२] किन्तु निष्काम बुद्धि से प्रेरित होकर युद्ध तक लडा जा सकता है। 'तिलक[१४३] के इस मत से जैन दर्शन सहमत नहीं है, क्योंकि- अकर्म अवस्था वीतराग अवस्था है, वीतराग अवस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म किया जाना संभव नहीं यह शुभकर्म में परिगणित हो सकता है।

प्रवचनसार[१४४] में जो बात कही है वह गीता[१४५] में प्रतिध्वनित हुई है। बाहर में प्राणी मरे या जीए, जो अयत्नाचारी प्रमत्त है, उसके द्वारा हिंसा (जन्यकर्मबंध) निश्चित है, परंतु जो यत्नाचारशील है, समितियुक्त है, उससे बहार से होने वाली (द्रव्य) हिंसा मात्र से कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि वह अंतर से सर्वतोभावेन हिंसादि सावद्य व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप (निरवद्य) है। उससे होनेवाली स्थूल हिंसा भावहिंसा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि, अनासक्ति और अकर्तव्यदृष्टि से जो कर्म किया जाता है, वह रागद्वेष के अभाव में अकर्म है, किन्तु प्रगट रूप से कोई भी कर्म होता हुआ न दिखाई देने पर भी अगर कर्ता के मन में त्याग का अभिमान या आग्रह है, फलेच्छा है, तो वह कर्म अकर्म प्रतीत होने वाले कर्म को भी कर्म बना देता है।[१४६]

बौद्ध दर्शन में कर्म, विकर्म और अकर्म विचार

बौद्ध दर्शन में भी कर्म, विकर्म और अकर्म का विचार किया है, वहाँ इन्हें क्रमशः कुशल (शुक्ल) कर्म, अकुशल (कृष्ण) कर्म और अव्यक्त (अकृष्ण अशुक्ल) कर्म कहा गया है। जैन दर्शन में जिन्हें पुण्य (शुभ) कर्म और पाप (अशुभ) कर्म कहा है, उन्हें बौद्ध दर्शन में कुशल (शुक्ल) और अकुशल (कृष्ण) कर्म कहा है। बौद्ध परंपरा में प्रायः फल देने की योग्यता-अयोग्यता को लेकर कर्म का विचार किया गया है। जिन्हें जैन परंपरा में क्रमशः (सांपरायिक) विपाकोदय एवं (ईर्यापथिक) प्रदेशोदय कर्म कहा है, उन्हें ही बौद्ध परंपरा में क्रमशः उपचित, अनुपचित कर्म कहा है।[१४७]

महाकर्म विभंग में कृत और उपचित को लेकर चार विकल्प भंग प्रस्तुत किये गये हैं। १) अकृत किन्तु उपचित कर्म, २) कृत भी और उपचित भी, ३) कृत है किंतु उपचित नहीं और ४) कृत भी नहीं और उपचित भी नहीं।

कौन से कर्म बंधकारक, कौन से अबंधकारक

बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि, इनमें से प्रथम दो भंगो में प्रतिपादित कर्म प्राणी को बंधन में डालते हैं। शेष दो भंगों में उक्त कर्म बंधन में नहीं डालते हैं। बौद्ध आचार परंपरा में राग-द्वेष, मोह से युक्त होने पर ही कर्म को बंधकारक माना जाता है। राग-द्वेष रहित होकर किये गये कर्म बंध कर्ता नहीं माने जाते।[१४८] जैनकर्म सिद्धांत तुलनात्मक अध्ययन में भी यही बात है।[१४९]

तीनों धाराओं में कर्म, विकर्म और अकर्म में समानता

निष्कर्ष यह है कि, जैन, बौद्ध और वैदिक (गीता) तीनों धाराओं में कर्म को बंधक और अबंधक इन दो भागों में विभाजित किया गया है। अबंधक कर्म (क्रिया व्यापार) को जैन दर्शन में (ईर्यापथिक कर्म या अकर्म), वैदिक (गीता) दर्शन में अकर्म और बौद्ध दर्शन में अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहा गया है। तीनों धाराओं की दृष्टि में अकर्म का तात्पर्य कर्म का अभाव या मन वचन काया कृत क्रिया का अभाव नहीं अपितु कर्म के संपादन से वासना, इच्छा रागादि से प्रेरित कर्तव्य भाव का अभाव ही अकर्म है, अबंधक शुद्ध कर्म है तथा वासनादि भाव से संपादित कर्म बंधकारक है। बंधककर्म के दो विभाग

किये गये हैं- एक को कर्म (शुभबंधक) कहा तथा दूसरे को विकर्म (अशुद्ध बंधक), यही कर्म-विकर्म, अकर्म का निष्कर्ष है।

कर्म का शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप

कर्मविज्ञान इतना गूढ़, दुरूह तथा अर्थों और रहस्यों से भरा है कि- सहसा, उसका आकलन और हृदयंगम करना आसान नहीं है। जिस प्रकार जल से परिपूर्ण महासमुद्र में ज्वार-भाटे आते रहते हैं, उसी प्रकार विविध कर्मरूपी जल से परिपूर्ण संसारसमुद्र में भी आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा के ज्वारभाटे आते रहते हैं। कर्म जल की महातरंगे भी प्रतिक्षण विविधरूप में तीव्र, मंद, मध्यम गति से उछलती रहती हैं और कभी वे शांत और सुस्थिर भी हो जाती हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि- जो नौका छिद्र युक्त है वह संसार समुद्र से पार नहीं हो सकती, किन्तु जो नौका छिद्र रहित है, वह पार हो सकती है। शरीर नौका है, जीव (आत्मा) नाविक है और (कर्मजल से परिपूर्ण) संसार समुद्र है, जिसे महर्षि पार कर जाते हैं।[१५०]

कर्मजल से परिपूर्ण संसार रूप महासमुद्र में भी तीन प्रकार के नाविक होते हैं। जो अकुशल नाविक होते हैं, उनकी नौका संसार समुद्र में पापों का ज्वार आने से तथा अशुभ कर्मों की उत्ताल तरंगों की मार से जर्जर और सच्छिद्र हो जाती है। और शीघ्र ही संसारसमुद्र में डूब जाती है। दूसरे प्रकार के नाविक अर्धकुशल होते हैं। उनकी जीवन नौका सच्छिद्र होते हुए भी डूबती उतरती रहती है। व्रत नियम आदि पुण्य से अपनी नैया की वे मरंमत करते रहते हैं। तीसरे प्रकार के अतिकुशल नाविक वे हैं, जो शुभ-अशुभ कर्मजल के ज्वार के समय डूबते, उतराते नहीं। कष्टों, परिषहों विपत्तियों के आँधी और तूफानों के समय समभाव रूपी चप्पू से अपनी जीवन नैया को पार करते हुए शुद्ध और प्रशांत कर्मजल में आगे से आगे संवर, निर्जरा के जलमार्ग से बढते रहते हैं। ऐसे महाभाग महर्षि अति कुशल नाविक होते हैं, जो एक दिन संसारसमुद्र को पार करके सर्व कर्म जल से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

संसाररूपी समुद्र में भी त्रिविध नाविकों के अनुरूप तीन प्रकार के कर्म हैं- १) अशुभ, २) शुभ और ३) शुद्ध। जब तक जीव संसार समुद्र में है, तब तक उसे यह जानना और समझना आवश्यक है कि, ये तीन प्रकार के कर्म कैसे-कैसे होते हैं? इनका लक्षण और स्वरूप क्या-क्या है?

शुभ कर्म को 'कर्म' अशुभ कर्म को 'विकर्म' और शुद्ध कर्म को 'अकर्म' के रूप में पहले बतलाया है। इन तीनों को दूसरे शब्दों में कहना चाहे तो क्रमशः पुण्य, पाप और धर्म

शब्द में अभिहित कर सकते हैं। शास्त्र में प्रथम दो को शुभास्त्रव और अशुभास्त्रवरूप तथा अंतिम को संवर, निर्जरारूप बताया गया है। अंतिम अकर्म या शुभकर्म को ईर्यापथिक कर्म भी कहा गया है।

डॉ. सागरमल जैन ने कर्म के इन तीन रूपों का पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से इस प्रकार सामंजस्य बिठाया है। 'जैनदर्शन का ईर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य (शुभ) कर्म नैतिक कर्म है और पाप (अशुभ) कर्म अनैतिक कर्म है।' इसी प्रकार गीता और बौद्ध दर्शन के साथ भी इसकी संगति इस प्रकार बिठाई है- 'गीता का अकर्म अतिनैतिक, शुभकर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध दर्शन में अनैतिक, नैतिक, कुशल, और अव्यक्तकर्म अथवा (दूसरे शब्दों में) कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण अशुक्ल कर्म कहा गया है।[१५१]

शुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण

जैन कर्मविज्ञान के अनुसार शुभ (पुण्य) कर्म शुभ पुद्गल परमाणु हैं, जो जीव के शुभ परिणामों एवं तदनुसार शुभभावपूर्वक दान, परोपकार, सेवा, दया आदि की क्रियाओं के कारण आकर्षित होकर शुभ आस्त्रव के रूप में आते हैं।[१५२] और फिर रागादिवश बंध जाते हैं तत्पश्चात् अपने विपाक (फलभोग) के समय शुभ विचारों, शुभ परिणामों और शुभ कार्यों की ओर प्रेरित करते हैं। इसके अतिरिक्त वे आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक एवं भौतिक विकास के अनुरूप संयोग भी उपस्थित करते हैं। शुभ कर्म के प्रभाव से कभी-कभी आरोग्य, सुख-सुविधा, सुख-सामग्री, भौतिकसंपदा तथा अनुरूप परिवार, मित्रजन समाज भी उपलब्ध होते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि धर्माचरण की भावना भी वे जागृत कर देते हैं।[१५३] व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में शुभकर्म (पुण्य) के उपार्जन में दान, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों के कारण बताये हैं।[१५४] स्थानांगसूत्र में पुण्योपार्जन के अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार भी बताये हैं।[१५५] सूत्तागमे में यही बात आयी है।[१५६]

अशुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण

अशुभकर्म (पाप) का स्वरूप जैनदृष्टि से इस प्रकार है- जिनसे आत्मा का पतन हो, जो आत्मा को बंधन में डालें, आत्मा के आनंद का शोषण करें तथा आत्म शक्तियों का घात करें, वे पापकर्म अशुभकर्म हैं। वास्तव में जिस विचार और आचरण से स्व-पर का पतन, अहित हो एवं अनिष्ट फल प्राप्त हो, वह अशुभकर्म पाप है और वह दूसरों के लिए तथा अपने लिए पीड़ा, विपत्ति, दुःख और विनाश का कारण है। अशुभ कर्म के अंतर्गत हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रहवृत्ति, अतिलोभ, द्वेष एवं अज्ञानता आदि कारण आते हैं। इसलिए दुर्भावना, दुर्विचार एवं दुष्कर्म अशुभ कर्म हैं।[१५७]

शुभत्व और अशुभत्व के निर्णय का आधार

कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का आधार क्या है? इस विषय पर गहराई से सोचने पर तीन आधार प्रतिफलित होते हैं।

१) कर्ता का आशय, २) कर्ता या अच्छा, बुरा बाह्यरूप तथा, ३) उसके सामाजिक जीवन पर पडने वाले बाह्य प्रभाव ।

भगवद्गीता[१५८] एवं धम्मपद[१५९] में कर्मों की शुभाशुभता का आधार कर्ता के आशय को माना है। गीता का आशय है कि- शुद्ध कर्म तो सात्त्विक भाव से किये जाने वाले यज्ञ, तप, त्याग, दान आदि हैं, परंतु राजस और तामस भाव से किये जाने पर ये क्रमशः शुभ-अशुभ कर्म होने से शुभकर्मबंध और अशुभकर्मबंध हो सकते हैं।[१६०]

गीता में कर्ता के अभिप्राय को ही मुख्यता दी है परंतु कहीं-कहीं तत्कालीन समाज में प्रचलित यज्ञ, दान और तप कर्म पर चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के नियत कर्म करने को कहा है।[१६१]

बौद्ध दर्शन में शुभाशुभत्व का आधार

बौद्ध धर्मदर्शन में धम्मपद[१६२] में कहा है- शुभाशुभत्व का आधार कर्ता के आशय को मानते हुए कहा है कि 'कायिक या वाचिक कर्म कुशल (शुभ) है या अकुशल (अशुभ)? इसका निर्णय करने की कसौटी मानस कर्म है।'

कहीं-कहीं शुभाशुभता का आधार परिणाम क्रिया के फल को माना है। **'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्'** ।[१६३] परोपकार पुण्य है और दूसरों को पीडा देना पाप है। यह चिंतन भारतीय मनीषियों का है। जैन विचारकों ने पुण्यबंध (शुभबंध) को भी अन्न पुण्य आदि नौ पुण्य का कारणाश्रित बताया और पाप कर्म को प्राणातिपात आदि अष्टादश पापस्थान का कारण बताया है। वस्तुतः पुण्य-पाप (शुभाशुभ कर्म) के संबंध में आगमों में प्रमुख रूप से उल्लेख किया गया है। कर्म के शुभत्व और अशुभत्व के पीछे एक और दृष्टिकोण है- दूसरों को अपने तुल्य मानकर व्यवहार करना है।[१६४]

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अपने को प्रतिकूल आचरण या व्यवहार दूसरों के प्रति भी मत करो यही कर्म के शुभत्व का मूलाधार भारतीय ऋषियों ने बताया है।[१६५] महाभारत[१६६] में भी यही बात कही है।

सूत्रकृतांगसूत्र[१६७] में शुभाशुभत्व (धर्म-अधर्म) के निर्णय में अपने समान दूसरे को मानने का- आत्मोपम्य का दृष्टिकोण स्वीकृत किया गया है। अनुयोगद्वारसूत्र में भी बताया गया है कि- 'जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को भी दुःख प्रिय

नहीं है, ऐसा जानकर जो स्वयं हिंसा नहीं करता, नहीं करवाता है, वही समत्वोपयोगी सम-मना श्रमण है।[१६८]

जैन विचारकों ने कर्म के हेतु (उद्देश्य) और परिणाम के आधार पर भी उसके शुभाशुभत्व का विचार किया है, परंतु मुख्यता कर्ता के अभिप्राय को ही दी है। एक व्यक्ति अंधे को अंधा, काने को काना और चोर को चोर कहता है। स्थूल दृष्टि से यह सत्य होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से असत्य माना गया है क्योंकि ऐसा कहने (कथन क्रिया) के पीछे वक्ता का आशय, उसके हृदय को चोट पहुँचाना है, उसे हेय या तिरस्कृत दृष्टि से देखकर उसकी आत्मा का अपमान करना है, इसलिए ऐसा वाचिक कर्म बाहर से शुभ प्रतीत होने पर भी अंतरंग से आध्यात्मिक एवं नैतिक दृष्टि से अशभु है।[१६९]

यद्यपि बंध और अबंध की दृष्टि से विचार करने पर एक मात्र शुद्ध कर्म ही अबंध है, शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मबंध है। शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों में रागभाव तो होता ही है। राग के अभाव में किया हुआ कर्म शुभाशुभत्व की भूमिका से ऊपर उठकर शुद्धत्व की भूमिका में पहुँच जायेगा।

वैदिक धर्मग्रंथों में शुभत्व का आधार : आत्मवत् दृष्टि

भगवद्गीता और महाभारत में कर्म के शुभत्व का प्रमाण व्यवहार दृष्टि से समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है। यह आधार व्यक्ति सापेक्ष, समाज सापेक्ष भी है। भगवद्गीता में कहा गया है- जो व्यक्ति सुख और दुःख में समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है, वही गीता की भाषा में परमयोगी और परम शुभकर्मा है। महाभारत में कहा है - 'जो जैसा अपने लिए चाहता है, वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे।' इसी प्रकार आगे कहा गया है- 'त्याग, दान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के तुल्य मानकर व्यवहार करो।' जो दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करता है, वही स्वर्ग के दिव्य सुखों को प्राप्त करता है।

जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है, वही व्यवहार दूसरे के प्रति किया जाए, यही धर्म (शुभ) और अधर्म (अशुभ) की पहचान है।[१७०] महाभारत शान्तिपर्व[१७१] और महाभारत अनुशासन पर्व[१७२] में भी यही बात कहीं है।

बौद्ध धर्मग्रंथों में कर्म शुभत्व का आधार : आत्मौपम्य दृष्टि

बौद्ध धर्म में कर्म के शुभत्व का आधार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' को ही सर्वत्र माना गया है। धम्मपद[१७३] बुद्ध ने स्पष्ट कहा है। 'सभी प्राणी दंड (मरणांत कष्ट) से डरते हैं। मृत्यु से भी लोग भयाविष्ट हो जाते हैं। सबको जीवन प्रिय है। अतः सभी प्राणियों को आत्मतुल्य

समझकर न मारें, न मारने की प्रेरणा दें। सुखाभिलाषी प्राणियों को जो अपने सुख की चाह को लेकर दुःख देता है, वह मारकर सुख प्राप्त नहीं करता। इसके विपरीत जो सुखाभिलाषी जीवों को अपने सुख की लिप्सा से कभी दुःख नहीं देता, वह मरकर सुख प्राप्त करता है।' तथागत बुद्ध ''सुत्तनिपात[१७४] में स्वयं कहते हैं- 'जैसा में हूँ वैसा ही ये अन्य जीव भी हैं; जैसे ये अन्य जीव हैं, वैसे ही मैं हूँ।' इस प्रकार सभी को आत्मतुल्य समझकर किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए'' यही कर्म के एकांत शुभत्व का मूलाधार है।

जैन दृष्टि से कर्म के एकांत शुभत्व का आधार : आत्मतुल्य दृष्टि

जैनदर्शन के अनुसार भी कर्म के एकांत शुभत्व का मूलाधार आत्मोपम्य दृष्टि है। अनुयोगद्वारसूत्र में बताया गया है- 'जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर सम्यक्त्वयुक्त (सम) रहता है, उसी की सच्ची सामायिक (समत्वयोग) की साधना होती है, ऐसा वीतराग केवली भगवान का कथन है।' संसार के समस्त षट्कायिक प्राणियों को आत्मतुल्य मानो। प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य व्यवहार करो।[१७५] इत्यादि आगमवचन कर्म के एकांत शुभत्व के सूचक हैं। सांसारिक और छद्मस्थ मनुष्य के जीवन में शुभाशुभ कर्मों की धूप-छाँव चलती रहती है, परंतु एक बात निश्चित है कि, जो व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टिकोण रखकर व्यवहार करता है और प्रतिक्षण प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या चर्या करते समय अप्रमत्त, सावधान, यत्नाशील रहता है, उसके अशुभकर्म का बंध उस समय नहीं होता, क्योंकि वह प्रतिपल सावधान होकर कर्मों के आगमन (आस्रव) के द्वारों को बंद कर देता है और मन इन्द्रियों को संयम में रखकर चलता है। वह प्रत्येक क्रिया का ज्ञाता द्रष्टा रहता है तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ, प्रियता-अप्रियता, संयोग-वियोग के प्रति राग-द्वेष नहीं करता। वह प्रत्येक परिस्थिति में समभाव से भावित रहता है। उसमें ज्ञान चेतना रहती है, कर्मफल चेतना की आकांक्षा नहीं रखता है।[१७६]

निष्कर्ष यह है कि, ऐसा सावधान छद्मस्थ साधक शुद्धोपयोग में रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है, परंतु प्रशस्त रागवश बीच-बीच में अशुभयोग में विरत होने अथवा अशुभयोग का निरोध करने हेतु शुभयोग में प्रवृत्त रहता है। पूर्वबद्ध शुभ-अशुभ कर्म उदय में आने पर भी वह सावधान होकर समभाव से उन्हें भोगता है या संक्रमण करके अशुभ को शुभ रूप में परिणत कर लेता है।

शुद्ध कर्म की व्याख्या

जैन कर्मविज्ञान की दृष्टि से शुद्धकर्म तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है, जिसमें किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति के पीछे रागद्वेष नहीं होता, व्यक्ति केवल उस क्रिया या प्रवृत्ति का ज्ञाताद्रष्टा होता है। ऐसा शुद्ध कर्म आत्मा को बंधन में नहीं डालता। वह अबंधक कर्म (अकर्म) है। जैनदर्शन ने साधक का लक्ष्य शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल से ऊपर

उठकर शुद्ध कर्म की ओर बढना बताया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) दोनों को बंधकारक एवं हेय बताया है। आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता शुभ-अशुभ से ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित होने में है और ऐसा तभी हो सकता है, जब साधक अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध परिणती में स्थिर हो जाता है। जब तक शुभ-अशुभ का विकल्प मन में बना रहेगा, तब तक पूर्णतः शुद्ध अवस्था की स्थिति नहीं हो सकेगी।[१७७]

शुभ अशुभ दोनों को क्षय करने का क्रम

शुभ और अशुभ दोनों का क्षय करने का क्रम जैनाचार्यों ने इस प्रकार बताया है- जैसे एरंड का बीज या अन्य विरेचक औषधि मल के रहने तक रहती है, मल के निकल जाने पर वह भी साथ में निकल जाती है, वैसे ही पापमल के निकल जाने के बाद पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाता है। वे किसी भी नई कर्म संतति को उत्पन्न नहीं करते। वस्तुतः जैसे साबुन मैल को साफ करता है, मैल साफ होने पर वह स्वयं ही अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य (शुभकर्म), पाप (अशुभकर्म) रूपमल को अलग करने में पहले सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है।

अशुभ कर्म से बचने पर शेष शुभ कर्म प्रायः शुद्ध बनते हैं

पहले तो साधक को अशुभकर्म से बचना चाहिए। अशुभ कर्म से सुरक्षित हो जाने पर शेष रहा शुभ कर्म भी बहुधा शुद्ध कर्म बन जाता है। वास्तव में द्वेष पर पूर्ण विजय पा लेने पर राग भी शेष मात्र रह जाता है, फिर तो रागद्वेष के अभाव में उससे जो भी कर्म होगें, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) कर्म होंगें।

जैनाचार दर्शन में बताया है कि, तप, संयम एवं संवर आदि कार्य यदि अनासक्त भाव या रागद्वेष रहित होकर किया जाता है, तो वह कर्मक्षय का कारण है और यदि पूर्वोक्त कार्य आसक्तिपूर्वक या रागद्वेषयुक्त भाव से किया जाए तो वह बंधन का कारण है जैन दर्शन नं साधक का वह अंतिम लक्ष्य अशुभ से शुभ कर्म की ओर बढना और फिर शुभ से शुद्धस्वरूप को प्राप्त करना बताया है।[१७८]

भगवद्गीता में कहा है, शुभ और अशुभ कर्म दोनों ही बंधकारक हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। 'समत्व बुद्धियुक्त पुरुष शुभ (सुकृत) और अशुभ (दुष्कृत) दोनों कर्मों को त्याग देता है।' सच्चे भगवतप्रिय भक्त का लक्षण बताते हुए कहा है- 'जो कभी न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक (या चिंता) करता है और न मनोज्ञ पदार्थ या शुभफल की आकांक्षा करता है, जो शुभ और अशुभ दोनों कर्मों का परित्यागी है, वह भक्तिवान साधक मुझे प्रिय है।[१७९]

शुभाशुभ कर्मों के बंधन से छूटने का उपाय बताते हुए गीताकार कहते हैं- 'तू जो कुछ कर्म करता है, जैसे कि खाना, पीना, हवन आदि करना अथवा तप, दान करता है, वह शुभाशुभ कर्म मुझे (परमात्मा को) अर्पित करदे अर्थात् सभी कर्मों के प्रति फलासक्ति भाव मत रख। इस प्रकार भगवदर्पण से तू संन्यास योगयुक्त होकर तेरा मन शुभ-अशुभ फल देने वाले कर्म बंधनों से मुक्त हो जायेगा और तू विमुक्त होकर मुझे (परमात्मा को) प्राप्त कर लेगा'।[१८०]

इस प्रकार गीता का भी संकेत अध्यात्म पूर्ण जीवन के लिए अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर तथा शुभ कर्म से शुद्ध कर्म की ओर बढना है। बौद्ध दर्शन का भी अंतिम लक्ष्य शुभ (शुक्ल) और अशुभ (कृष्ण) कर्म से ऊपर उठकर शुद्ध (अशुद्ध अकृष्ण) कर्म की प्राप्ति करना है। 'सुत्तनिपात' में भगवान बुद्ध का वचन है। 'जो पुण्यपाप को त्याग कर शांत (निवृत्त) हो गया है, इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को ज्ञात करके कर्मरज से रहित हो चुका है, जो जन्म मरण से पर हो चुका है, उस स्थिर श्रमण को स्थितात्मा कहा जाता है।'

इसी प्रकार सुत्तनिपात में सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वंदना में भी कहा गया है- जिस प्रकार मनोहर पुंडरीक कमल जल में लेपायमान नहीं होता, इसी प्रकार बुद्ध पुण्य-पाप दोनों में लेपायमान नहीं होते।[१८१] वस्तुतः बौद्धदर्शन भी जैनदर्शन की तरह शुभाशुभ कर्म से ऊपर उठकर शुद्धकर्म में स्व-शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने की बात कहता है।

इसी प्रकार पाश्चात्य आचारदर्शन के अनेक पुरस्कर्ताओं ने भी आध्यात्मिक परिपूर्णता के क्षेत्र में पहुँचने की बात को महत्त्व दिया है। 'ब्रेडले' नामक दार्शनिक के अनुसार पूर्ण आत्म साक्षात्कार के लिए नैतिकता (शुभाशुभ) के क्षेत्र से ऊपर उठेगा, तब ईश्वर से तादाम्य स्थापित होगा तब शुभ और अशुभ का द्वन्द या विरोभास समाप्त हो जायेगा।[१८२]

निष्कर्ष यह है कि, शुभाशुभकर्म का क्षेत्र व्यावहारिक नैतिकता है। जिसका आचरण समाज सापेक्ष है, जबकि पारमार्थिक, नैतिकता (आध्यात्मिकता) का क्षेत्र शुद्ध चेतना का है, अनासक्त, वीतराग दृष्टि का है, जो व्यक्ति सापेक्ष है, उसका अंतिम लक्ष्य व्यक्ति को बंधन से बचाकर मुक्ति (पूर्ण स्वतंत्रता) की ओर ले जाना है। यही कर्म के शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप का मूलाधार है।

* * *

संदर्भ

१. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ५, सूत्र ३

२. समयसार (कुंदकुंदाचार्य), प्रस्ता. पृ. ४५

३. धर्माधर्म न भासि, भेदासिन खण्डितः ।। पद्मनंदि (पंचविंशंतिका), पृ. २५

४. समयसार (कुंदकुंदाचार्य), प्रस्ता. पृ. ८९

५. कर्मारीन् रिपूनहन्ति नश्यतीति अरिहन् भेतारं कर्म भू भूताम्।
सर्वाथसिद्धि (पू. आ. गृद्धपिच्छ), टीका

६. कर्मविज्ञान (विजयप्रेमसूरिजी), पृ. ९

७. बंधविहाणे मूल पयडिबंधो। कर्मग्रंथ, पृ. १२

८. जीव परतंत्री कुर्वन्ति स परतंत्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि।
आप्तपरीक्षा (श्रीमद्विद्यानंदस्वामी), पृ. ११३-२९६

९. आप्तपरीक्षा (श्रीमद्विद्यानंदस्वामी), पृ. १

१०. महाबंधो, भाग- १, प्रस्ता. (पं. सुमेरचंद्र दिवाकर शास्त्री), पृ. ५४-५५

११. महाबंधो, भाग- १, प्रस्ता. (पं. सुमेरचंद्र दिवाकर शास्त्री), पृ. ५५

१२. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भा. ५/२४/९४८८/२१

१३. आप्तपरीक्षा (श्रीमद्विद्यानंदस्वामी), पृ. ११४-११५/२४६/२४७

१४. कर्मवाद, पृ. ८९

१५. कर्म और कर्मफल (जिनवाणी कर्म सिद्धांत, विशे.), पृ. १४८

१६. कर्मविज्ञान, भाग-१ (उपा. देवेन्द्रमुनि), पृ. ४११

१७. उपयोगो लक्षणम् । तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (उमास्वाति), अ. २, सूत्र ८

१८. गोम्मटसार (कर्मकांड) (परमश्रुत प्रभावक मंडळ द्वारा प्रकाशित), पृ. ८

१९. पड पडिहारसि मज्जहलि.... मुणेयव्वा। गा. २९
गोम्मटसार कर्मकांड, पृ. ९, (परमश्रुत प्रभावक मंडळ द्वारा प्रकाशित)

२०. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती),
परमश्रुत प्रभावक मंडळ द्वारा प्रकाशित, पृ. १०

२१. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. १०

२२. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती), पृ. ११

२३. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती), पृ. ११

२४. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भा. ५/२४/९४८८/२१

२५. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती), पृ. १२

२६. कर्मग्रंथ, भाग- १ (पं. सुखलालजी म.), पृ. ९३
२७. धवला (संपा. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री), १/१/१३३/२४२-८ तथा २३४-३
२८. द्रव्यसंग्रह टीका, १४/४४/१०
२९. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), ८/३३
३०. कर्मग्रंथ, भाग- १ (संपा. मुनिश्री मिश्रीमलजी म.), पृ. १४२
३१. कर्मवाद, पृ. १२३
३२. गोम्मटसार (कर्मकांड) (नेमिचंद्राचार्य सिद्धांतचक्रवर्ती), पृ. २१
३३. समयसार (कुंदकुंदाचार्य), प्रस्ता. पृ. ५
३४. कर्म-विज्ञान भरग १ (उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी), पृ. १४७
३५. धवला (संपा. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री), सूत्र ३४, पृ. १५
३६. समयसार (कुंदकुंदाचार्य), गा. १६०-१६३
३७. परमात्मप्रकाश (योगसार) (योगिन्दु देव), गा. १/६६
३८. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भा. ५/२४/९ पृ. ४८८
३९. कर्मवाद (युवा. महाप्रज्ञजी), पृ. ८७-८८
४०. कर्मवाद (युवा. महाप्रज्ञजी), पृ. ८७-८८
४१. कर्मविज्ञान, भाग-१ (संपा. उपा. देवेन्द्रमुनि), पृ. ४२१
४२. कर्मवाद (युवा. महाप्रज्ञजी), पृ. १३८
४३. कर्मवाद (युवा. महाप्रज्ञजी), पृ. १३८-१३९
४४. कर्मवाद (युवा. महाप्रज्ञजी), पृ. १३९
४५. पंचास्तिकाय (आ. कुंदकुंद), गा. २७
४६. पंचास्तिकाय (आ. कुंदकुंद), तात्पर्यवृत्ति, गा. ७०
४७. जिनवाणी कर्मसिद्धांत विशेषांक, पृ. १२२
४८. धर्म और दर्शन (उपा. देवेन्द्रमुनि), पृ. ५०
४९. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्
(श्रीमदभगवद् गीता, गीताप्रेस- गोरखपुर) अ. २-४७
५०. कर्मनो सिद्धांत (हीराभाई ठक्कर), पृ. ७५-७६
५१. कर्मविज्ञान, भाग-१ (उपा. देवेन्द्रमुनि), पृ. ४३०
५२. शेते सह शयानेन,..... तिष्ठत्यथ सहात्मनः ।। पंचतंत्र, २/१३०
५३. 'कतारमेव अणुजाइ कम्मं।' उत्तरा. (संपा. यु. मधुकर मुनि), १३/१३
५४. 'ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो..... तस्मै नमः कर्मणे ।।'
(भर्तृहरिः नीतिशतक), श्लो. ९२

५५. कर्म रहस्य (जिनेन्द्रवर्णी), पृ.
५६. रामचरितमानस (गोस्वामी तुलसीदास)
५७. आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त... कर्मफलानुबन्धि शान्ति शतकम्।
(सिंहलनमिश्री), पृ. ८२
५८. कर्मनो सिद्धांत (हीराभाई ठक्कर), पृ. २
५९. कर्मनो सिद्धांत (हीराभाई ठक्कर), पृ. २
६०. पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध (श्रीआदिचंद्र प्रभु आचार्यश्री), पृ. ३२८
६१. समयसार, १७२ / क ११६ (पं. जयचंद्रजी)
६२. का वि अपुव्वा दीसादि पुग्गल.....जाई जीवस्स॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा (श्रीस्वामी कार्तिकेय), पृ. २११
६३. कम्माइं बलियाइं..... हत्थीव णलिणिवनं॥
भगवती आराधना (आचार्य श्रीशिवार्य), गा. १६२१
६४. परमात्म प्रकाश (योगसार) (योगिन्दु देव), पृ. १५०
६५. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी), पृ. ११५
६६. कल्पसूत्र (संपा. पं. रत्नमुनिश्री नेमिचंद्रजी म.), पृ. १७६-१८०
६७. भ. महावीर : एक अनुशीलन (उपा. देवेन्द्रमुनि), पृ. ७१
६८. भगवतीसूत्र, श. १५
६९. महावीरचरियं (गुणचन्द्र), पृ. १६२
७०. गहना कर्मणो गति। (सुदामा कथन), कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर), पृ. १
७१. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी), पृ. ११६-११७
७२. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भा. ५/२४/९४८८/२१तथा १/१५/१३/६१
७३. भगवती आराधना (आचार्य श्रीशिवार्य), गा. १६१०
७४. सर्वार्थसिद्धि (श्रीमदाचार्य पूज्यपाद), १/२०/१०१/२
७५. समयसार (कुंदकुंदाचार्य), गा. १६१-१६३
७६. धर्म और दर्शन (उपा. देवेन्द्रमुनिजी), पृ. ४६
७७. आत्मतत्त्वविचार (श्री विजयलक्ष्मणसूरि), पृ. २८०
७८. समयसार (बालावबोध, पं. जयचंद्र), ३१७/क १९८
७९. आत्मतत्त्वविचार (श्री विजयलक्ष्मणसूरि), पृ. २८०
८०. ज्ञान का अमृत (ज्ञानमुनिजी), पृ. ११५
८१. विशेषावश्यक भा. (गणधरवाद), २/२५
८२. कोहं माणं च ..... हियमप्पणो॥ दशवैकालिक (संपा.युवा.मधुकरमुनि), ८/३७

८३. जिनवाणी कर्मसिद्धांत विशे., पृ. १४९
८४. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेंद्र मुनिजी), पृ. ४७
८५. खवित्ता पुव्व कम्माइं, संजमेण तवेणय।
सव्वदुक्ख पहिणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो।। उत्तरा. (संपा. मधुकरमुनि), २८/३६
८६. जो सहस्सं..... परमो जओ।। उत्तरा. (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), ९.३४/३६
८७. कर्मविज्ञान, भाग- १ (उपाचार्य देवेंद्र मुनिजी), पृ. ४४५
८८. विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद)
(पं. दलसुखभाई मालवणिया), गा. १६१९-१६२१, पृ. ३७, ३८
८९. (गणधरवाद) (पं. दलसुखभाई मालवणिया), गा. १६२५-२६-२७
९०. रुपिण: पुग्गला: पुद्गल रूपी (मूर्त) है।
तत्त्वा.सूत्र (विवेचन पं. सुखलालजी), अ. ५/४, २३ पृ. ११७
९१. धवला (संपा. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री), सूत्र २४, पृ. १३
९२. जम्हा कम्मस्स ..... कम्माणि मुत्ताणि।।
पंचास्तिकाय (आ. कुंदकुंद), गा. १३३
९३. आप्तपरीक्षा (विद्यानंद स्वामी), श्लोक. ११५
९४. कर्म : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, (उपाचार्य देवेंद्र मुनिजी), पृ. २५
९५. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल), पृ. ९५
९६. कषायपाहुड (आचार्य गुणधर), १/१/१ पृ. ५७
९७. औदारिकादि..... क्वापि दृश्यते।। तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), ५/१५
९८. विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) दलसुखभाई मालवणिया, गा. १६२५
९९. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म.), पृ. १५
१००. समयसार (कुंदकुंदाचार्य), गा. ४५
१०१. कत्ता भोत्ता आदा..... ववहारो। नियमसार (कुंदकुंदाचार्य), गा. १८
१०२. नहि कश्चित् क्षणमपि ... गुणै:।। भगवद्गीता, गोरखपुर प्रेस, पृ. ३/५
१०३. न कर्मणाम् नारम्भान्नैष्कर्म्य .... समधि गच्छति।।
भगवद्गीता, गोरखपुर प्रेस, पृ. ३/४
१०४. कर्मेन्द्रियाणि..... स उच्चते।। भगवद्गीता, गोरखपुर प्रेस, पृ. ३/६
१०५. कर्मग्रंथ, भाग- १ (मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म.), पृ. २५-२६
१०६. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्र सूरि), पृ. ११२, ११३
१०७. नवतत्त्व (श्री. अगरचंद्र भैरोदान सेठिया), पृ. ७६-८१
१०८. व्याख्याप्रज्ञप्ति (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), श. ३.३.३ सू. १५०-१५३

१०९. जैनतत्त्व प्रकाश (जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३५४-३६३
११०. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (क्षु. जिनेन्द्रवर्णी), भाग - २, पृ. १७४
१११. अर्थागम (भगवती सूत्र), (सं पुष्पभिक्खु), खंड- २ पृ. ६२१-६७८
११२. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन, (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ५१
११३. कर्मविज्ञान, भाग-१ (उपा. देवेन्द्रमुनि), पृ. ५०७
११४. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सूत्र - ५
११५. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श. ८, उ. ८ सूत्र- ३४१-३४२
११६. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श. ७, उ. १ सूत्र - २६७
११७. जाव सजोगी केवली भवई .... अकम्मया च भवई॥
उत्तरा. सूत्र, ((संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. २९/७१
११८. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन, (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ५४
११९. पम्माय कम्म माहसु अपम्माय तहाडवरं।
सूत्रकृतांग सूत्र ((संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. १/८/३
१२०. नाणं च दंसणं चेव .... वरदसिहि।
उत्तरा. सूत्र, (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि) अ. २८/२
१२१. महाभारत (शांतिपर्व), २४०
१२२. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ९/४/४,५
१२३. सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, अ. -८ गा. २२-२४
१२४. किं कर्म.... मोक्ष्यसेऽशुभात्।
सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, अ. -८ गा. २३-२४
१२५. जे आसवा ते परिसवा .....
(श्रीमदभगवद गीता, गीताप्रेस- गोरखपुर), अ. ४, सूत्र १६
१२६. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, अ. ४ उ. २
१२७. सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, अ. -८/ २३, २४
१२८. जिनवाणी कर्मसिद्धांत विशेषांक (किशोर मश्रुवाला), पृ. २५०
१२९. पमाय कम्ह माहंसु अप्पभाव तहावर।
सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, अ. -८ गा. ३
१३०. पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते तथा परिक्कमिज्जासि।
आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, अ. ४, उ. १
१३१. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन, (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ४९
१३२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य), गा. ४६, ४७, ५१, ४५

१३३. भगवतीसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १, उ. ८ सूत्र - ६५ से ६९
१३४. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, श. ७ उ. १ श. ८ तथा श. १७- उ. १ १८/८
(संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १
१३५. सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १/१२/१५
१३६. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ४, गा. ८/९
१३७. आचारांग सूत्र अ. ३, उ. २/३७१ तथा अ. ३ उ. ३ सूत्र ३७८
१३८. कर्मग्रंथ, भाग- १ भूमिका (पं. सुखलालजी), पृ. २६
१३९. आचारांग सूत्र, श्रु. १ अ. २ उ. ६; (युवाचार्य मधुकरमुनि),१.३.१
१४०. इष्टोपदेश (आचार्य पूज्यपाद), पृ. ४१
१४१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ३२ / गा. ९९
१४२. भगवदगीता (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. १८/ श्लो. १७
१४३. गीता रहस्य (लोकमान्य तिलक), ४/१६
१४४. प्रवचनसार (कुंदकुंदाचार्य), ३/१७
१४५. भगवदगीता (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. १८/ श्लो. २३
१४६. गीता (गीताप्रेस गोरखपुर), ३/७
१४७. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (डॉ. सागरमलजी), अ. १
१४८. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (डॉ. सागरमलजी), अ. १
१४९. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन, (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ५०
१५०. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. २३ / गा.७१, ७३
१५१. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन, (डॉ. सागरमल जैन), पृ.३५
१५२. शुभ पुण्यस्य- तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाती जी), अ. ६/३
१५३. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन, (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ३८
१५४. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श. ७ उ. १०
१५५. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), स्थान ९ उ. ३, पृ. ७८७
१५६. सुत्तागमे (ठाणे) (सं पुप्फ भिक्खु), भाग- १ ठा. ९ पृ. २९७
१५७. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ३८
१५८. भगवदगीता (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. १८/ श्लो.१७
१५९. धम्मपद (राहुल सांकृत्यायन), गा. २४९
१६०. भगवदगीता (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. १७/ श्लो. २५
१६१. भगवदगीता (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. १८/ श्लो. १४
१६२. धम्मपद (राहुल सांकृत्यायन), गा. १/१

१६३. जीवनधर्म (उज्ज्वलकुमारीजी म.सा.), पृ. ११२
१६४. कर्मविज्ञान, भाग - १ (उपाचार्य देवेंद्र मुनिजी म.सा.), पृ. ५३५
१६५. संबोध सत्तरी (हरिभद्रसूरि कृत)
कर्मविज्ञान, भाग - १ (उपाचार्य देवेंद्र मुनिजी म.सा.), पृ. ५४२
१६६. प्राणा यथाऽत्मनोऽभीष्ट ..... समाचरेत। महाभारत , शांतिपर्व २५८/२१
१६७. सूत्रकृतांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), श्रु. १.११.१४
१६८. अनुयोगद्वारसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), सू. १२५
१६९. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ७/ गा. १२
१७०. आत्मोपम्येन सर्वत्र..... सयोगी परमोमत॥
भगवदगीता (डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. ६/ श्लो. ३२
१७१. महाभारत, शांतिपर्व २५८/२१
१७२. महाभारत, अनुशासन पर्व ११३/६-१०
१७३. धम्मपद (संपा. राहुल सांकुल्यायन), १२९- १३१, १३३
१७४. सुत्तनिपात (संपा. धर्मानंद कोसांबी), ३७/२७
१७५. जो समो सव्व भूतेसु तसेसु ... केवलि भासियं।
अनुयोगद्वारसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), सूत्र १२९
१७६. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ४/ ८, ९
१७७. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ४४
१७८. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ४५-४६
१७९. बुद्धि युक्तो जहातीह .... दुष्कृते॥
भगवदगीता (संपा. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. २/ श्लो. ५०
१८०. यो न हृष्यति..... भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
भगवदगीता (संपा. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन), अ. १२/ श्लो. १७
१८१. सुत्तनिपात (संपा. धर्मानंद कोसांबी), ३२/११/३८
१८२. जैन कर्मसिद्धांत एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन), पृ. ४७

* * *

षष्ठम् प्रकरण

कर्मों का स्रोत : आस्रव

षष्ठम-प्रकरण

कर्मों का स्रोत : आस्रव

कर्म प्रवेश : जीव में कैसे ?	२८३
आस्रव की व्याख्याएँ	२८५
आस्रव का लक्षण	२८५
पुण्यास्रव और पापास्रव	२८६
द्रव्यास्रव और भावास्रव	२८६
ईर्यापथ और सांपरायिक आस्रव	२८७
आस्रव के पाँच भेद	२८७
मिथ्यात्व आस्रव	२८८
अव्रत आस्रव	२९०
प्रमाद आस्रव	२९१
कषाय आस्रव	२९२
योग आस्रव	२९४
कर्मों का संवरण : संवर	२९४
संवर की व्याख्याएँ	२९५
मोक्षमार्ग के लिए संवर राजमार्ग	२९६
सम्यक्त्व का लक्षण	२९७
सम्यक्त्व के पाँच अतिचार	२९८
सम्यक्त्व के भेद	२९९
विरति	२९९
अप्रमाद	३०१
अकषाय	३०२
अयोग	३०२
आस्रव और संवर में अंतर	३०३
निरास्रवी होने का उपाय	३०४
निष्कर्ष	३०५
संवर का महत्त्व	३०

कर्मों का निर्जरण : निर्जरा	३०५
निर्जरा का अर्थ	३०६
निर्जरा के दो प्रकार	३०७
निर्जरा के बारह प्रकार	३०८
तप का महत्त्व	३१८
बंध का स्वरूप	३२०
बंध के दो भेद : द्रव्यबंध और भावबंध	३२१
बंध के चार भेद	३२१
कर्मों से सर्वथा मुक्ति	३२५
मोक्ष का स्वरूप	३२६
मोक्ष प्राप्ति के उपाय	३२७
मोक्ष के लक्षण	३२८
मोक्ष का विवेचन	३२८
विभिन्न दर्शनों में मोक्ष	३२९
जैन दर्शन में मोक्ष	३३१
द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष	३३२
कर्मक्षय का क्रम	३३३
मोक्ष : समीक्षा	३३३
कर्मक्षय का फल : मोक्ष	३३५
मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान सम्यक्त्व	३३६
सम्यक्दर्शन	३३७
सम्यक्ज्ञान	३३८
सम्यक्चारित्र	३४०
चारित्र के दो भेद	३४१
निश्चय चारित्र	३४१
व्यवहार चारित्र	३४२
अन्य दर्शनों में त्रिविध साधनामार्ग	३४३
संदर्भ-सूची	३४४

षष्ठम् प्रकरण
कर्मों का स्रोत : आस्रव

संसार के सभी प्राणी कर्मों से युक्त हैं। प्राणियों के जीवन में प्रतिक्षण कर्मों का आवागमन चलता रहता है। अल्पज्ञ जीव इस बात को नहीं जानते कि कर्म कब आये? कैसे आये और कब अपना फल देकर चले गये? संसार के प्राणी, विशेषरूप से मानव प्राय: नहीं जानते हैं और न ही कभी जानने का प्रयत्न करते हैं कि 'हम यहाँ इस लोक में इस रूप में क्यों और किस कारण से आये हैं? कहाँ से आये हैं? कहाँ जाना है?'[१] शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन को जैन कर्मविज्ञान की भाषा में आस्रव कहते हैं।[२]

कर्म प्रवेश : जीव में कैसे ?

जैसे बिजली, सूखी लकडी, प्लास्टिक या काँच आदि पर नहीं गिरती अर्थात् जिस व्यक्ति ने पैर में प्लास्टिक के जूते पहने होंगे या वह सूखी चीज पर खड़ा होगा तो उसे बिजली का करंट नहीं लगता परंतु जहाँ कोई धातु हो अथवा किसी धातु से लगकर पानी का स्पर्श हो रहा हो तो बिजली का करंट सारे शरीर में प्रविष्ट हो जायेगा। Broadcast से निकली हुई ध्वनि-तरंगे आकाश में सर्वत्र घूमती रहती हैं, परंतु प्रकट वहीं होती हैं जहाँ टी.वी., रेडियो या ट्राँजिस्टर का स्वीच खुला हुआ हो।

कर्मप्रायोग्य-पुद्गल परमाणु सारे आकाश में तथा जीव के आसपास में फैले हुए हैं, वे घूमते रहते हैं, पर प्रवेश उसी आत्मा में करते हैं जहाँ रागद्वेष आदि की चिकनाहट हो। कर्मों को खींचकर या आकर्षित कर आत्मा में प्रवेश कराने के कारण ही उन्हें आस्रव कहा जाता है।

आगमों में आस्रव को समझाने हेतु तालाब की उपमा दी गई है। जैसे एक तालाब में पानी आने के पाँच द्वार हैं, उसी प्रकार आत्मा रूपी सरोवर में भी कर्मरूपी जल आने के पाँच आस्रव द्वार हैं। इन द्वारों में से एक द्वार भी यदि खुला रहे तो कर्म आयेंगे।[३] तत्त्वार्थसार[४] और तत्त्वार्थराजवार्तिक[५] और नवपदार्थ[६] में भी यही बात कही है।

आस्रव का विवेचन आचार्यों ने दो प्रकार से किया है- जिससे कर्म आये वह आस्रव है अथवा आस्रवण मात्र याने कर्मों का आना मात्र आस्रवण है। राजवार्तिक में इस संबंध में एक रूपक है- जैसे समुद्र खुला रहता है, उसे कोई बाँध या तट नहीं बना होता। इसलिए जल से परिपूर्ण नदियाँ चारों ओर से आकर समुद्र में भर जाती हैं। इसी प्रकार आत्मरूपी समुद्र के चारों ओर से कर्मरूपी जल आने के छोर खुले होने से उन स्रोतों द्वारा कर्म भी निश्चितरूपसे

आयेगें।[७] भगवान महावीर ने से मुक्ति चाहने वाले साधकों को सभी दिशाओं (तीनों लोक) में खुले हुए कर्मों के स्त्रोतों से सावधान करते हुए कहा है, 'हे साधक ऊपर अर्थात् ऊर्ध्वदिशा में, नीचे अर्थात् अधो दिशा में तथा मध्य अर्थात् तिर्यग् दिशा में भी ये स्त्रोत हैं और इन स्त्रोतों को कर्मों का आगमन द्वार कहा है इनका सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करके साधक को कर्म के स्त्रोतों को बंद कर देना चाहिए।[८]

भगवान महावीर ने इससे आगे के सूत्र में कहा, 'आस्त्रवों के इन स्त्रोतों को बंद करके मोक्षमार्ग पर निष्क्रमण करने वाला साधक एक दिन कर्मों से रहित हो जाता है। वह कर्मों के आगमन की प्रक्रिया को और उनके स्त्रोतों को बंद करने का उपाय जानता हुआ, यत्नापूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ ज्ञाता, द्रष्टा हो जाता है। वह इनकी परिज्ञा या प्रतिलेखना करता हुआ कर्मों की गति, आगति का परिज्ञान करके कर्म-संगों (विषय-सुख) की आकांक्षा नहीं रखता।[९]

आस्त्रव एक ऐसी आग है जो आत्मा के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतशक्ति के असीम प्रवाह को अवरुद्ध करती है। अतः साधक को आत्मविकास के लिए यह आवश्यक है कि आस्त्रव की इस आग को तथा उसके उत्पादक व उत्तेजकों को भली भाँति समझकर हृदयंगम कर ले।

जैसे कुछ लोग दियासलाई जलाकर आग लगा देते हैं, तो कुछ लोग उस आग को और भडका भी देते हैं। इसी प्रकार आस्त्रव की आग लगाने वाले चार तत्त्व हैं और उत्तेजित करनेवाला एक तत्त्व है। ये पाँचों ही मिलकर आत्मभवन को विकृत एवं भस्मीभूत कर देते हैं। आस्त्रव-अग्नि को जलाने का प्रथम उत्पादक मिथ्यात्व है, दूसरा सहायक तत्त्व अव्रत है, तीसरा प्रमाद, चौथा कषाय है और आग को भडकाने वाला अशुभ योग है।

जिस प्रकार पतंगे रोशनी देखते हुए खिचे चले आते हैं और रोशनी पर टूट पडते हैं, उसी प्रकार ये कर्म परमाणु भी इन चारों आस्त्रवाग्नियों का ताप देखते ही स्वतः आकृष्ट होकर चले आते हैं तथा आत्म प्रदेशों में बलात् प्रविष्ट हो जाते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये चारों प्रकार की आस्त्रावाग्नि दसवें गुणस्थान तक समस्त संसारी जीवों में तीव्र, मंदरूप में सतत् जलती रहती है।

अग्नि हवा के बिना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसी प्रकार मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषायरूपी आस्त्रवाग्नियों को प्रज्वलित रखने वाली आयु त्रिविध अशुभ योग है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में नमि राजर्षी और इन्द्र का संवाद प्रतिपादित है। इंद्र विप्र-वेष में आकर नमि राजर्षी की परीक्षा हेतु कहते हैं- 'भगवन्! यह अग्नी और यह पवन आपके मंदिर

(प्रासाद) को जला रहे हैं। अतः आप अपने अंतःपुर की ओर क्यों नहीं देखते? उसकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है ?[१०]

यह आस्रवरूपी अग्नी, आग लगाने वाले और उसे भडकाने वाले द्वारा लगाई जा रही है और आपके आत्मारूपी मंदिर को जलाकर भस्म कर रही है, विकृत बना रही है। आप इससे आत्मा को बचाकर अपने ज्ञानादि गुणों की निधि को सुरक्षित कीजिए।

जैन दर्शन में नवतत्त्व बताये हैं। जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पुण्यतत्त्व, आस्रवतत्त्व, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व, बंधतत्त्व और मोक्षतत्त्व।[११] आस्रव का अर्थ है- पाप कर्मों का आना। अशुभ कर्म आत्मा मे निरंतर आते ही रहते हैं। इसलिए जीव को संसार में परिभ्रमण करके अतीव दुःख सहन करना पडता है। जो आत्मा आस्रव को समझकर उससे दूर रहेगी वह कर्मबंधन से मुक्त रहेगी।

इस संसार में जीव को कष्ट देने वाले अनेक आस्रव हैं, जिनके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुःख जीव को भोगने पडते हैं। आस्रव को आस्रवद्वार भी कहा गया है। स्थानांगसूत्र में पाँच आस्रवद्वार बताये गये हैं, ये आस्रव महाभयंकर हैं, इनमें पाप हमेशा आते ही रहते हैं।

आस्रव की व्याख्याएँ

आस्रव शब्द 'स्' सरना, आत्मा में प्रवेश करना- इस धातु से बना है। जिससे कर्म आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। यह शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन का हेतु है। मिथ्यात्व आदि बंध के हेतु हैं, इन्हें वीतराग परमात्मा ने आस्रव कहा है। आत्मा में कर्म के प्रवेश को भी आस्रव कहा गया है।[१२] जैनतत्त्वदर्शन[१३] में भी यही बात कही है। जिसके द्वारा कर्म का उपार्जन होता है, उसे आस्रव कहते हैं।[१४] काय, वाक् तथा मन के कर्मयोग को आस्रव कहते हैं।[१५]

जैन आगम और जैनदर्शन में आस्रव की व्याख्या इस प्रकार की गई है- जिस क्रिया से, विचार से तथा भावना से कर्म वर्गणा के पुद्गल आते हैं वह आस्रव है।[१६] केवल कर्मों का आना आस्रव है।[१७] जिस प्रकार नदियों द्वारा समुद्र पानी से भरा रहता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि के स्त्रोत से आत्मा में कर्म आते हैं।[१८]

आस्रव की अनेक व्याख्याएँ हैं लेकिन सबका भावार्थ एक ही है। जीव के रागद्वेष आदि भावों से कर्म आते हैं और उसका बंध होता है। यह आस्रव की मूल क्रिया है।

आस्रव का लक्षण

संसारी जीव मन, वचन और काया से युक्त होते हैं। मन, वचन, काया को योग कहते हैं। योग से परिस्पंदनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, जिसके कारण जीव हमेशा कर्म

पुद्गल के आस्रव ग्रहण करता रहता है। जिस प्रकार नदी द्वारा समुद्र को हमेशा पानी मिलता रहता है एक क्षण भी प्रवाह बंद नहीं होता, उसी प्रकार जीव, हिंसा, असत्य, राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति द्वारा कर्म को सतत् ग्रहण करता है। कर्म एक क्षण भी रुकता नहीं इसलिए कर्म आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं।[१९]

पुण्यास्रव और पापास्रव

जीव का परिणमन दो प्रकार से होता है। शुभ और अशुभ। शुभभाव पुण्यास्रव और अशुभभाव पाप का आस्रव। जिस प्रकार सर्प के द्वारा ग्रहण किये गये दूध का विष में रूपांतर होता है और मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये दूध का पोषण के रूप में रूपांतर होता है, उसी प्रकार बुरे परिणाम से आत्मा में स्रवित कर्मवर्गणा के पुद्गल पापरूप में परिणमन करते हैं और अच्छे परिणाम से आत्मा में स्रवित वर्गणा के पुद्गल पुण्यरूप में परिणमन करते हैं। जीव की अच्छी या बुरी भावना 'आस्रव' कहलाती है।[२०]

जिस जीव में प्रशस्त राग है, अनुकंपायुक्त परिणाम है और चित्त की कलुषता का अभाव है। उस जीव को पुण्यास्रव का बंध होता है।[२१] प्रमादसहित क्रिया, मन की मलिनता और इन्द्रियों के विषय में चंचलता इसके साथ ही अन्य जीवों को दुःख देना, दूसरों की निंदा करना, बुरा बोलना आदि के आचरण करने से अशुभ योगी जीव पाप का आस्रव करता है, इसे ही पापास्रव कहते हैं।[२२]

हिंसा, असत्य, भाषण, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन सबका त्याग करना ही जिनका लक्षण है, ऐसे व्रत को भावपूर्वक धारण करना पापास्रव कम करता है और पुण्यास्रव को बढाता है।[२३] पाँचों पापों का त्याग करना ही व्रत है। व्रत से पुण्यकर्म का आस्रव होता है।[२४]

द्रव्यास्रव और भावास्रव

आस्रव के दो भेद हैं- द्रव्यास्रव और भावास्रव। आस्रव के दो भेद मानने का कारण यह है कि संसारी जीव का शरीर आदि से संबंध है और संसार में अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ भरी हुई हैं। इनमें कार्मणा वर्गणा भी एक है और वह कर्मरूप बनने की योग्यता धारण करती है परंतु कार्मण वर्गणा कर्मरूप उसी समय बनती है, जब जीव आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन करता है। इसलिए कार्मण वर्गणा और आत्म परिणाम - इन दोनों को अलग-अलग समझने के लिए द्रव्यास्रव और भावास्रव ये दो भेद किये गये हैं। भावास्रव तेल से आवेष्टित पदार्थ के समान है और द्रव्यास्रव उससे चिपकने वाली धूल के समान है। भावास्रव निमित्त कारण है और द्रव्यास्रव सामर्थ्य के परिणाम को दिखाते हैं।

आत्मा के स्वयं के जिन शुभ-अशुभ परिणामों के कारण पुद्गल द्रव्यकर्म बनकर आत्मा में आते हैं, उन परिणामों को भावास्त्रव कहते हैं।[२५] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अंतराय इन आठ कर्मों के योग से जिस पुद्गल कर्म का आगमन होता है, वह द्रव्यास्त्रव है।[२६] जीव के द्वारा हर समय मन, वचन और काया द्वारा शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है, उन्हें जीव का भावास्त्रव कहते हैं। उसके निमित्त से कुछ विशेष प्रकार की जो जड़ पुद्गल वर्गणाएँ आकृष्ट होकर उसके प्रदेश में प्रवेश करती हैं, वह द्रव्यास्त्रव है।[२७]

ईर्यापथ और सांपरायिक आस्त्रव

जैन आगम में आस्त्रव के सामान्यतः दो भेद और कहे गए हैं। ईर्यापथ आस्त्रव और सांपरायिक आस्त्रव। कषाय-सहित जीव को सांपरायिक आस्त्रव होता है और कषाय-रहित वीतराग जीव को ईर्यापथ आस्त्रव होता है।[२८] तत्त्वार्थश्लोकावार्तिक[२९] में भी यही कहा है। कषाययुक्त योग से होने वाला सांपरायिक आस्त्रव बंध का कारण होने से संसार को बढाता है। संपराय का अर्थ है संसार। संसार के कारणभूत कर्मों को सांपरायिक कर्म कहते हैं-

संपरायः संसारः तत् प्रयोजनम् कर्म सांपरायिकम्।

जो कर्म संसार का प्रयोजन है और संसार की वृद्धि करने वाला है, ऐसे कर्म के आगमन को सांपरायिक आस्त्रव कहते हैं।[३०]

आत्मा का संपराय अर्थात् पराभव करने वाला कर्म सांपरायिक है। योग द्वारा आकृष्ट होने वाले कर्म पुद्गल कषाय के उदय के कारण आत्मा से चिपक जाते हैं और स्थिति प्राप्त करते हैं, यह सांपरायिक कर्म है। ईर्यापथिक और सांपरायिक दोनों प्रकार के आस्त्रवों में योग निमित्त है। तीनों प्रकार के योग समान हैं, फिर भी यदि कषाय न हो, तो उपार्जित कर्म में स्थिति का बंध नहीं होता।

स्थितिबंध का कारण कषाय है, इसलिए कषाय ही संसार का मूल कारण है अर्थात् सकषाय जीव के आस्त्रव को सांपरायिक आस्त्रव और अकषाय जीव के आस्त्रव को ईर्यापथ आस्त्रव कहते हैं।[३१] तत्त्वार्थसार में भी यही कहा है।[३२]

आस्त्रव के पाँच भेद

आज मानवजाति के समक्ष अगणित समस्याएँ हैं। मानव समस्याओं से क्यों ग्रस्त हो जाता है और क्यों इनके कटु फल भोगता है ? इन समस्याओं का मूल स्त्रोत क्या है ? इसे जानना आवश्यक है। वीतराग परमात्मा ने समस्याओं का मूल स्त्रोत 'आस्त्रव' कहा है।

यह आस्त्रव जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु आदि दुःखरूप संसार का मूल हेतु है। ठाणांग[३३]

समवायांग[३४] और तत्त्वार्थसूत्र[३५] में आस्रवद्वार पांच प्रकार के बताये हैं-

१) मिथ्यात्व, २) अव्रत, ३) प्रमाद, ४) कषाय, ५) योग।

ये पाँच बंध हेतु अर्थात् आस्रव है। जीव के परिणाम हैं।

मिथ्यात्व आस्रव

कर्मबंध का मूल कारण कौनसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि-

कर्मबंधः च मिथ्यात्व-युक्तम्।

अर्थात् कर्मबंध का मूल कारण मिथ्यात्व है।[३६] मिथ्यात्व को मिथ्यादृष्टि तथा मिथ्यादर्शन भी कहते हैं। मिथ्यात्व जब तक रहेगा अन्य कारण भी रहेंगे, इसलिए आस्रव के कारणों में प्रथम स्थान मिथ्यात्व को तथा अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को क्रमशः दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवा स्थान दिया गया है। इन पाँच स्थानों में प्रथम मिथ्यात्व का स्थान प्रमुख है और वह पाँचों स्थानों में दिखाई देता है।[३७]

मिथ्यादृष्टि याने मिथ्या अर्थात् असत्य और दृष्टि अर्थात् दर्शन अथवा श्रद्धा असत्य-श्रद्धान या असत्य दर्शन मिथ्यादृष्टि है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि नौ तत्त्वों पर विरुद्ध श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इस विपरीत श्रद्धान के कारण जड़ पदार्थों में चैतन्य बुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, अधर्म में धर्म बुद्धि आदि विपरीत भावनाएँ होती हैं। मिथ्यात्व के कारण सारासार विवेक नहीं रहता। पदार्थ के स्वरूप के विषय में गलत धारणा बनती है। कल्याणमार्ग पर सच्ची श्रद्धा नहीं रहती। मिथ्यात्व- सहज और गृहीत दो प्रकार का होता है। दोनों प्रकार के मिथ्यात्व में तत्त्वविषयक अभिरुचि निर्मित नहीं होती। आत्मा कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और अंध श्रद्धाओं को धर्म मानता है। ऐसा वर्णन जैनेन्द्रसिद्धांतकोष[३८], योगशास्त्र,[३९] जैन दर्शन[४०] और धवला[४१] आदि में आता है।

मिथ्यात्व बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित करता है कि यथार्थ दृष्टि नहीं रह पाती, साथ ही दूसरे के विषय में भी यथार्थ दृष्टि नहीं रह पाती। मिथ्यादृष्टि की स्वरूप स्थिति को संक्षेप में विवेक शून्य, निर्जीव शरीर कहा जाता है। जीव जब मिथ्यात्व से युक्त हो जाता है, तब अनंतकाल तक संसार का बंध करते हुए संसार में परिभ्रमण करता रहता है, क्योंकि मिथ्यात्व ही सब दोषों का मूल है।

वीतराग के प्रति रुचि होने पर भी उनके विषय में विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) को उत्पन्न करने वाला मिथ्यात्व कहलाता है। साथ ही बाह्य विषयों में परसंबंधी शुद्ध आत्मतत्त्व से लेकर संपूर्ण द्रव्य तक जो विपरीत आग्रह को उत्पन्न करता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।[४२]

मिथ्यात्व की स्थिति में क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबलतम होते हैं। इसका क्षेत्र भी विशाल है, काल भी बहुत व्यापक है और इसके भाव भी अनंत हैं। कर्मों का सबसे अधिक आगमन मिथ्यादृष्टि की अवस्था में होता है।

आगम शास्त्र में मिथ्यात्व को पाप कहा गया है। जब तक मिथ्यात्व का अस्तित्व होता है, तब तक शुभाशुभ सारी क्रियाओं को अध्यात्मदृष्टि से पाप ही कहा जाता है। शरीरधारी जीव के लिए मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई भी अकल्याणकारी नहीं है।

'स्थानांगसूत्र में'[४३] दस प्रकार के मिथ्यात्व का वर्णन इस प्रकार आता है-

१) अधर्म को धर्म मानना, २) धर्म को अधर्म मानना,
३) उन्मार्ग को सुमार्ग मानना, ४) सुमार्ग को उन्मार्ग मानना,
५) अजीवों को जीव मानना, ६) जीवों को अजीव मानना,
७) असाधुओं को साधु मानना, ८) साधुओं को असाधु मानना,
९) अमुक्तों को मुक्त मानना, १०) मुक्तों को अमुक्त मानना।

१) अधर्म को धर्म मानना

जिससे जीवों की हिंसा हो ऐसे धार्मिक अनुष्ठान में धर्म मानना मिथ्यात्व है।

२) धर्म को अधर्म मानना

सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म परम हितकारी और सदा आचारणीय है, उसे अनाचरणीय मानना तथा अहिंसायुक्त धर्म यथातथ्य है, उसे असत्य मानना भी मिथ्यात्व है।

३) उन्मार्ग को सुमार्ग मानना

जो मार्ग संसार की वृद्धि कराता हो, उसे सन्मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

४) सुमार्ग को उन्मार्ग मानना

सम्यग्ज्ञान, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप जो सुमार्ग या मोक्षमार्ग है, उन्हें कर्मबंध का या संसार परिभ्रमण का मार्ग कहना मिथ्यात्व है।

५) अजीव को जीव मानना

जड़ पदार्थों को जो चेतनामय या ब्रह्मस्वरूप मानते हैं और श्रद्धा रखते हैं, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

६) जीवों को अजीव मानना

एकेन्द्रियादि सूक्ष्म जीवों को जीव न मानना मिथ्यात्व है।

७) असाधुओं को साधु मानना

पाँच महाव्रत, अष्ट प्रवचनमाता, कषायों की उपशांति, ज्ञान, ध्यान, त्याग, वैराग्य आदि गुण जो साधुओं मे बतलाये हैं और गुणों का पालन जो साधु करते हैं उनको यदि असाधु कहे तो मिथ्यात्व है।

८) साधुओं को असाधु मानना

पाँच महाव्रत, अष्ट प्रवचनमाता, कषायों की उपशांति ज्ञान, ध्यान, त्याग-वैराग्य आदि जो गुण साधुओं में बतलाये हैं और गुणों का पालन जो साधु करते हैं उनको यदि असाधु कहे तो मिथ्यात्व।

९) अमुक्तों को मुक्त मानना

संसारी जीव को शुद्धात्मा मानना मिथ्यात्व है।

१०) मुक्तों को अमुक्त मानना

सिद्धात्मा को संसारी आत्मा कहना मिथ्यात्व है।

इस प्रकार मिथ्यात्व को मोहनीय कर्म की प्रबल शक्ति कहा है। जो मनुष्य को मूढ़ बना देती है। इसके प्रभाव से मनुष्य सत्य को जानते हुए भी नहीं जान पाता, देखते हुए भी नहीं देख पाता और सुनते हुए भी अनसुना कर देता है। मिथ्यात्व के कारण ही जीव तीनों लोक के समस्त पदार्थों पर अपना अधिपत्य जमाता है। तीव्र कषायों का सेवन करके अशुद्ध लेश्याओं का उत्तेजित होना भी मिथ्यात्व-मद्य का नशा है।[४४]

मास-खमण की तपश्चर्या करने वाला अज्ञानी साधक पारणे के दिन कुश की नोंक पर आवे उतने भिक्षान्न को ग्रहण कर पुनः मासखमण (प्रतिज्ञा) करता है तथापि उसकी इतनी तपश्चर्या सम्यक्त्वी की सोलहवी कला के बराबर भी नहीं है।

अव्रत (अविरती) आस्त्रव

विरती का अर्थ त्याग और त्याग न करना 'अविरती' है अर्थात् इच्छा और पापाचरण से विरत न होना अविरत है। इन्द्रिय विषयों का त्याग न करना तथा त्याग की भावना न रखना, त्याग के बारे में उदासीन रहना और भोग में उत्साह दिखाना अविरती है।[४६]

मानव में एक आकांक्षा की वृत्ति होती है। उसके कारण उस पदार्थ में अनुरक्त होता है। उसे प्राप्त करने तथा भोगने की इच्छा रखता है उस वृत्ति से अस्तित्व में पदार्थों से विरक्त नहीं होती इसलिए इस वृत्ति का नाम अविरति है। इस अवस्था में मानव की दृष्टि पदार्थ के प्रति

आकृष्ट रहती है। पदार्थ और धन के द्वारा होने वाले अनिष्ट परिणाम को जानने के बाद भी उस पदार्थों को छोड नहीं सकते। मूर्च्छा के कारण उसे भय सताता है। यह अविरति की मनोदशा है।

जब तक मन और इन्द्रियों को संयमित नहीं किया जाता, तब तक अविरति का पाप लगता है। कुछ लोग कहते हैं कि जो पाप हमने नहीं किया और जिन पदार्थों का हमने भोग नहीं किया, उनका पाप हमें क्यों लगता है? इसका उत्तर यह है कि इलेक्ट्रिक कनेक्शन जब तक पावर हाऊस से जुडा रहता है, तब तक मीटर बढता है, कनेक्शन कट करने पर मीटर नहीं बढता, उसी प्रकार पाप क्रिया का कनेक्शन न तोडा जाये तब तक पाप लगता ही है। भावनाशतक में[४७] कहा है कि जब दरवाजा खुला रहता है तब कोई भी अंदर आ सकता है। इसी प्रकार जब तक त्याग नहीं किया जाता, आशा तृष्णारूपी दरवाजा बंद नहीं किया जाता तब तक पाप सीधा प्रवेश करता है, रुक नहीं सकता।

अविरति का त्याग करने से जीव को बहुत बडा लाभ मिलता है।[४८] त्याग करने से पहला लाभ यह है कि जीव आस्त्रवों का निरोध करता है और कर्मागमन का द्वार बंद हो जाता है। दूसरा लाभ यह है कि शुद्ध चारित्र का पालन होता है, तीसरा लाभ यह है कि पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप 'अष्ट प्रवचनमाता' की आराधना में हमेशा जागृति रहती है, जिससे सन्मार्ग में सम्यक् समाधिस्थ होकर जीव विचरण करता है और रम जाता है। जिनेंद्र वर्णी ने भी यही बात दर्शाई है।

विरति के अनेक लाभ हैं परंतु अविरति की स्थिति में उपयुक्त एक भी लाभ नहीं मिलता, आत्म कल्याण के लिए अविरति का त्याग करना चाहिए। अविरति के बारह भेद है। भावनायोग[४९] और जैनेन्द्रसिद्धांतकोष में यही बताया गया है।[५०]

प्रमाद आस्त्रव

प्रमाद- जागरुकता का अभाव प्रमाद कहलाता है अर्थात् आत्म कल्याण और सत् प्रवृत्ति में उत्साह न होना अपितु अनादर होना प्रमाद है। मिथ्यात्व और अविरति के समान ही प्रमाद भी जीव का महान शत्रु है। इसलिए भगवान महावीर ने गौतम से कहा है, 'हे गोयम! समयं गोयम मा पमायए।' अर्थात् क्षणमात्र का भी प्रमाद न करें।[५१]

धर्मक्रिया में प्रमाद करने से जिनका समय व्यर्थ चला जाता है, वे इस प्रमाद के दोषों के कारण संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। अगर जीव को इस संसार में परिभ्रमण नहीं करना है, तो विवेकशील आत्मा को अप्रमत्त रहना चाहिए। जो मानव प्रमाद करता है वह अपना समय व्यर्थ गवाता है।

प्रमाद के पाँच भेद

१) मद, २) विषय, ३) कषाय, ४) निद्रा, ५) विकथा। इन पाँच प्रमाद का सेवन करने से जीव परिभ्रमण करता है।[५२]

मद- जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य और बडप्पन का गर्व करना।[५३]

विषय- पंचेंद्रिय का रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द इन विषयों में आसक्त रहना।

कषाय- क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों में प्रवृत्ति रखना।

निद्रा- नींद तथा आलस्य के कारण सुस्त रहना।

विकथा- स्त्रीकथा, भत्तकथा, राजकथा और देशकथा आदि पापकारी क्रियाओं में रस लेना।

हिंसा का मुख्य कारण प्रमाद है। दूसरे प्राणियों की हत्या हो या न हो, प्रमादी व्यक्ति को हिंसा का अशुभ फल मिलता है। संपूर्ण जगत में मानव जीवन सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए उसे प्रत्येक क्षण का उपयोग नये कर्मागमन को रोकने के लिए और पूर्व के बाँधे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए करना चाहिए।[५४] जैनेन्द्रसिद्धांत कोश[५५], जैन दर्शन[५६] में यही बात है। साधक को भारंड पक्षी के समान अप्रमादी अर्थात् सावधान रहना चाहिए। **'भारंड पक्खी य चरे पमत्ते।'**[५७] भगवान महावीर ने छोटे बडे प्रत्येक साधक को चेतावनी देते हुए आचारांग सूत्र[५८] में अभिव्यक्त किया है। **'अलं कुसलस्स पमाएणं'** अर्थात् कुशल साधक को प्रमाद नहीं करना चाहिए।

प्रमाद के ये पाँच प्रकार के साथी आत्मारूपी सूर्य को आच्छादित कर देते हैं। आत्मा की शक्ति को छिपाकर उसे कायर बना देते हैं। छट्ठे गुणस्थान तक साधक में प्रमाद रहता है। प्रमाद के कारण रत्नत्रय की सम्यक् आराधना को भूलकर साधक, आराधक से विराधक बन जाता है।

कषाय आस्त्रव

कषाय- कष्+आय = दो शब्दों मिलकर 'कषाय' शब्द बना। कष् का अर्थ है संसार और आय का अर्थ है प्राप्ति। जीव विविध दु:खों के कारण संसार में कष्ट सहन करते हैं और पीडित होते हैं- जिसके द्वारा संसार की प्राप्ति होती है उसे कषाय कहते हैं।[५९]

कषाय गति बडी ही तीव्र होती है। जन्म-मरणरूपी यह संसार कषायों से भरा हुआ है। यदि कषाय का अभाव हो जाये तो जन्म-मरण की परंपरा का विष वृक्ष स्वयं ही शुष्क होकर नष्ट हो जायेगा इसलिए आचार्य शय्यंभव[६०] ने कहा है- अनिग्रहीत कषाय पुनर्भव के मूल में पानी देते हैं, उसे सूखने नहीं देते हैं।

कषाय अध्यात्म के लिए दोषरूप हैं चाहे वे प्रकट हो या अप्रकगट, वे आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप शुद्ध स्वरूप को मलिन करते हैं। कषाय ही कर्म के उत्पादक हैं। वे जीव को दु:ख देते हैं। कषाय न रहे तो कर्मबंध भी न रहें। आचार्य वीरसेन ने कषायों की कर्मोत्पादकता के संबंध में 'धवला'[६१] ग्रंथ में कहा है- 'जो दु:खरूपी अनाज उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी खेत को जोतते हैं, फलयुक्त करते हैं वे क्रोध, मान, माया आदि कषाय हैं।'

वेदनीय कर्म के उदय से होने वाला क्रोध आदि कालुष्य कषाय है अर्थात् आत्मा के कलुषित परिणाम को कषाय कहते हैं। कषाय आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप को नष्ट करते हैं और कर्म के साथ आत्मा का संबंध जोडते हैं।[६२]

क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार कषायों के अलावा अनेक प्रकार के कषायों का निर्देश आगमग्रंथों में मिलता है। क्रोधादि चार कषायों को शास्त्रों में लुटेरों की उपमा दी गई है, परंतु इन लुटेरों में और सामान्य लुटेरों में यह अंतर है कि दूसरे प्रकार के लुटेरे संपत्ति का हरण करके भाग जाते हैं, परंतु क्रोधादिरूप लुटेरे आत्मा की संपत्ति को लुटकर आत्मा में ही छिपकर बैठ जाते हैं, इसलिए उन्हें '**अज्झत्थ दोसा**' आत्मा में छिपे हुए दोष, रोग और तस्कर कहा गया है।

कषाय जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं, इतना ही नहीं, उसके आत्मिक गुणों का घात भी करते हैं। क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया-कपट मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का नाश करता है।[६३]

क्रोध से जीव का अध:पतन होता है। जीव अपने स्थान से भ्रष्ट होता है। जो स्थान-भ्रष्ट हुए हैं, उनकी संसार में प्रतिष्ठा नहीं रहती। मान कषाय के कारण सद्गति प्राप्त नहीं होती, लोभ से इहलोक-परलोक के विषय में भय उत्पन्न होता है, इसलिए इन आत्मघाती कषायों को छोडना ही चाहिए।[६४]

कषाय का आगमन होने पर मनुष्य की बुद्धि तथा विचारशक्ति शून्य हो जाती है। उसमें विवेक नहीं रहता। सभ्यता और शिष्टाचार नहीं रहते इसलिए कषायों को चंडाल चौकडी कहा है। ये कषाय रात दिन कहीं भी अपने कुकर्म वृत्तिरूपी शस्त्र द्वारा जीव की शक्ति का हरण करते रहते हैं।[६५] क्रोधादि कषाय आत्मा को कुगति में ले जाने के कारण होते हैं, आत्मास्वरूप की हिंसा करते हैं। इसलिए वे कषाय हैं।

क्रोध व मान ये दोनों द्वेष हैं। माया और लोभ ये राग हैं। आचार्यों ने कषायों (राग और द्वेष) का अन्य प्रकार से भी वर्णन किया है, क्योंकि राग और द्वेष प्रमुख आस्रव हैं। कषाय मुक्ति असली मुक्ति है।[६६] योगशास्त्र[६७] में भी यही बात कही है।

योग आस्त्रव

योग- मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को 'योग' कहते हैं। योग के कारण आत्मप्रदेश में परिस्पंदन होता है तथा मिथ्यात्व के कारण आत्मा कर्मों को ग्रहण करती है।[६८] जिस प्रकार नदी के उद्गम स्थान पर मुसलधार वर्षा होने पर नदी के बाढ का पानी रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन, वचन, काया-रूप योग की प्रवृत्ति चलती रहती है, तब तक कर्म से निवृत्ति नहीं हो सकती है।[६९]

जैनदर्शन में मन, वचन, काया से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्म परमाणुओं के साथ आत्मा का योग संबंध स्थापित करती है, इसलिए उसे योग कहा गया है और उसके निरोध को ध्यान कहा गया है। आत्मा सक्रिय है और उसके प्रदेश में मन, वचन और काया के कारण परिस्पंदन होता रहता है। परिस्पंदन की क्रिया तेरहवें गुणस्थान तक होती है। चौदहवें गुणस्थान में अयोगी अवस्था होती है। मन, वचन, काया और क्रिया का पूर्णतः निरोध होता है और आत्मा शुद्ध एवं स्थिर होती है।

कर्मजन्य मलिनता और योगजन्य चंचलता नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। योग आस्त्रव है और उसके कारण कर्म का आगमन होता है। शुभयोग से पुण्य का आस्त्रव होता है और अशुभ योग से पाप का आस्त्रव होता है।[७०]

अगर कर्म का आस्त्रव रोकना है तो सर्वप्रथम मन का निग्रह करना पडेगा। मनोनिग्रह होने पर वचन और काय योग का निग्रह सहज होगा। मन का निग्रह दुष्कर है परंतु असंभव नहीं है। मनोनिग्रह के लिए जो उपाय गीता में[७१] बताये गये हैं, वे ही पातांजल योगशास्त्र[७२] में भी कहे गये हैं। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है।

जैन शास्त्र में गुप्ति और समिति को निग्रह का उपाय कहा गया है। मनोनिग्रह के लिए उपाय के रूप में अन्य साधनों का भी उल्लेख किया गया है, परंतु इन सभी का एक ही अर्थ है कि प्रयत्नशील होकर निग्रह कीजिए। मन का निग्रह होने पर वचन और काया की प्रवृत्ति में अपने आप ही परिवर्तन होगा और कर्म के आस्त्रव में न्यूनता आयेगी।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में भगवान ने आस्त्रव-पंचक का वर्णन किया है। उसी में भगवान ने कहा है कि आस्त्रव-पंचक का वर्णन किया है। उसी में भगवान ने कहा है कि आस्त्रव पंचक का त्याग करके संवर पंचक का भावपूर्ण रक्षण करने से जीव कर्म रज से मुक्त होता है और सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है।[७३]

कर्मों का संवरण संवर

आस्त्रव को रोकना तथा कर्म को न आने देना '**संवर**' है। संवर आस्त्रव का प्रतिपक्षी

है। आत्मप्रदेशों में आगमन करने वाले कर्मों का प्रवेश रोकना ही संवर का कार्य है। आत्मा कर्मावृत बनकर संसार में परिभ्रमण करती रहती है, फिर भी आत्मविकास की शक्ति उसमें छिपी रहती है। अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने के लिए जीव के प्रयत्न चलते रहते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न करना ही संवर-मार्ग पर चलना है। आस्रव तत्त्व में आत्मा के पतन की अवस्था को दिखाया गया है और संवर में आत्मा के उत्थान की अवस्था दिखाई गई है। आस्रव में दोष उत्पादक कारण बताये हैं और संवर में उन कारणों का निर्मूलन करने वाले उपाय बताये गये हैं।

आत्म परिणाम अगर वैतरणी नदी है तो मनोरथों को पूर्ण करनेवाली कामधेनु भी है और जैसे नरक में कूट शाल्मली वृक्षों का जंगल है, वैसे ही स्वर्ग में नंदनवन भी है। इसी प्रकार आस्रव है तो उसका प्रतिपक्षी संवर भी है।[७४] बंध और मोक्ष आत्मपरिणाम पर ही निर्भर है। जब आत्मा अशुभ से निवृत्त होकर शुभ की तरफ मुड़ती है, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर जाती है, अविरती से विरती की ओर मुड़ती है, तब कर्मों का आगमन रोका जाता है और आत्मा आस्रव से संवर की ओर प्रवृत्त होती है।

मिथ्यात्व आदि का अभाव होने पर आत्मा में कर्म प्रवेश नहीं कर सकते, अर्थात् नवीन कर्म का आस्रव नहीं होगा और आस्रव का निरोध होने पर शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकेंगे। इसी हेतु संवर का अस्तित्व स्थापित हुआ।[७५] नवपदार्थ[७६] और जैनेन्द्रसिद्धांत कोश[७७] में भी यही बात है।

संवर की व्याख्याएँ

संवर शब्द सम् तथा वृ से मिलकर बना है। 'सम' उपसर्ग है और 'वृ' धातु का अर्थ है रोकना। यही संवर शब्द की व्युत्पत्ति है - आस्रव यह स्रोत का दरवाजा है। उसे जो रोकता है वही संवर है जो आत्मा को वश में करता है उनकी संवर क्रिया होती याने कर्मागमन रुक जाता है।[७८] जैनदर्शन[७९] में भी कहा है।

आस्रव का निरोध करना संवर है, अर्थात् समस्त आस्रवों को रोकना संवर है । मन, वचन, काय इन तीन गुप्तियों को निरास्रवी बनाना संवर है।[८०] उत्तराध्ययन[८१] में भी यही बात कही है। हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र[८२] और प्रशमरतिप्रकरण[८३] में भी यही कहा गया है। आत्मा की रागद्वेष मूलक अशुद्ध प्रवृत्ति को रोकना संवर का कार्य है। संवर के कारण आत्मा में नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। जिसके कारण आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्म रुकते हैं वह गुप्ति, समिति आदि से युक्त संवर क्रिया होती है।[८४]

संवर आत्मा का निग्रह करने से होता है। यह निवृत्तिपरक है, प्रवृत्तिपरक नहीं है, इसलिए प्रवृत्ति ही आस्रव और निवृत्ति ही संवर है। जिन उपायों से आस्रव का निग्रह होता

है वे उपाय संवर हैं। जिस प्रकार रोगी का रोग नष्ट होने में औषधि कारण है, उसी प्रकार आस्त्रव को रोकने वाले उपाय संवर है। सारांशतः आस्त्रव का निरोध करना ही संवर है।[८५] भारतीयसंस्कृति[८६] कोश में भी कहा है। जैन तत्त्व ज्ञान में गुणस्थानों का विशेष महत्त्व है। जो अंतिम गुणस्थान पर आरूढ़ होता है, वह निर्वाण (मोक्ष) पद पर आरुढ़ होता है। गुणस्थान चौदह हैं। ये चौदह गुणस्थान मोक्षमंदिर की चौदह सीढ़ियाँ हैं।[८७]

भगवान महावीर स्वामी ने संवर का अस्तित्व बताते हुए सूत्रकृतांगसूत्र में कहा है- 'यह मत समझो कि आस्त्रव और संवर नहीं है, अपितु यह समझो कि आस्त्रव और संवर है।[८८] आस्त्रवद्वार कर्म के आगमन का द्वार है। यह द्वार बंद करने पर संवर का अस्तित्व स्थापित होता है। आत्मा को वश में करने पर आत्म-निग्रह से संवर होता है। यह उत्तम गुणरत्न है क्योंकि मोक्ष का मुख्य मार्ग संवर ही है।

संवर आत्म निग्रह से होता है

आचार्य श्री हेमचंद्रसूरि कहते हैं- कि जिन उपायों से जो आस्त्रव रुकता है, उस आस्त्रव के निरोध के लिए उन्हीं उपायों का उपयोग करना चाहिए। जैसे क्षमा, मृदुभाव, ऋजुता, सरलता, संयम का पालन, पापकारी क्रिया का त्याग, व्रतादि का पालन तथा शुभध्यान में प्रवृत्ति करें।[८९] सप्ततत्त्व-प्रकरण[९०] में भी यही बात कही है।

मोक्षमार्ग के लिए संवर राजमार्ग

पहले संसार और बाद में मोक्ष ऐसा क्रम है। मोक्ष साध्य है, संसार त्याज्य है। इस संसार के मुख्य हेतु आस्त्रव और बंध हैं और मोक्ष के प्रमुख हेतु संवर और निर्जरा हैं।[९१] संवर से आस्त्रव का अर्थात् नये कर्मों के आगमन का निरोध होता है। निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार दोनों मोक्ष साधना के अनिवार्य साधन हैं।

मोक्ष के दो साधक तत्त्व हैं - १) संवर और २) निर्जरा। जितने आस्त्रव हैं उतने संवर भी हैं। आस्त्रव के पाँच भेद हैं, उसी प्रकार संवर के भी पाँच भेद हैं।

संवर के भेद

संवर के दो भेद : द्रव्य संवर और भाव संवर। सब प्रकार के आस्त्रवों का निरोध संवर है। इनमें से कर्म पुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्य संवर है और संसार वृद्धि के कारण भूत क्रियाओं का त्याग करना तथा आत्मा का शुद्धोपयोग करना अर्थात् समिति, गुप्ति आदि भाव-संवर है।[९२]

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र इन्हें जांनना भाव संवर है। आत्मा तालाब के समान है, उसमें कर्मरूपी पानी

भरा हुआ है। आस्रव रूपी झरनों से उसमें रातदिन कर्मरूपी पानी प्रवेश करता ही रहता है। साधक तप आदि साधनों द्वारा कर्मरूपी पानी को बाहर फेंकने का प्रयत्न करता है, परंतु जब तक कर्मों के आगमन का दरवाजा हम बंद नहीं करते, तब तक कर्म-जल से भरा हुआ आत्म सरोवर खाली नहीं हो सकता।[९३]

सम्यक्त्व का प्रकाश मोक्ष

सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख कारण है। सम्यक्त्व के बिना चारित्र्य नहीं हो सकता, परंतु सम्यक्त्वचारित्र के बिना हो सकता है, अर्थात् चारित्र के पहले सम्यक्त्व होना अत्यंत आवश्यक है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान भी अज्ञान की कोटि में गिना जाता है। सम्यक्ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र भी प्राप्त नहीं होता। चारित्र गुण के बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं होती और मोक्ष के बिना निर्वाण प्राप्त नहीं होता।[९४] इतना ही नहीं संसाररूपी सागर में सम्यग्दर्शन द्वीप के समान विश्राम स्थान है। सम्यग्दृष्टि जीव को ही सुलभ बोधि प्राप्त होती है।

जिस प्रकार शरीर में समस्त अवयव हों, पर मस्तक न हो, तो शरीर सौंदर्य हीन लगेगा यही बात सम्यक्त्व के बारे में लागू होती है। मानव तप, त्याग, व्रत, नियम आदि करने पर भी अगर सम्यक्त्व न हो तो उनका कोई महत्त्व नहीं है।[९५]

एक अंक के बिना शून्यों का कुछ भी अर्थ या कीमत नहीं है। नेत्र के बिना सूर्यप्रकाश और सुवृष्टि के बिना खेत निरर्थक है, उसी प्रकार सुदृष्टि ही सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन के बिना तप तथा जप की कुछ की कीमत या महत्त्व नहीं है। जो सम्यग्दर्शन से युक्त है, उसी का तप जप और इन्द्रिय संयम सार्थक है उसी का ज्ञान सत्य है। सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का उच्छेद करने वाला है, इसलिए मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन की आराधना करनी चाहिए।[९६]

सम्यक्त्व का लक्षण

अनंत संसार में यदि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कुछ तथ्य है तो वह आत्मा ही है। जैन दर्शन में सम्यक्त्व का लक्षण निश्चय और व्यवहार दो दृष्टियों से बताया है। निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन का लक्षण 'बिना किसी उपाधि या उपचार के आत्मा की शुद्ध रुचि, श्रद्धा, प्रतीति और अनुभूति उपलब्ध करना निश्चय सम्यग्दर्शन है।' व्यावहारिक दृष्टि से -

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

जिन सर्वज्ञ भगवान ने जैसा स्वरूप बताया है, उसमें किसी भी प्रकार की शंका न करना, सम्यग्दर्शन है। यह आत्म-प्रतीति और दृढ श्रद्धान कैसे होता है? इस प्रक्रिया को समझना है। **आचारांगसूत्र** में कहा है 'जो आत्मा है, वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है।' जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।[९७]

जीव-अजीव आदि तत्त्वों को यथार्थ (जैसा हो वैसा) समझना और वैसी ही श्रद्धा रखना 'सम्यक्त्व' कहलाता है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है- एक निसर्गज और सम्यग्दर्शन और दूसरा अभिगमज सम्यग्दर्शन[९८], तत्त्वार्थसूत्र[९९] में भी कहा है। सम्यक्त्व नैसर्गिक रीति से या परोपदेश से प्राप्त होता है। सम्यक्त्व पहचानने के लक्षण बताये हैं।[१००] समकित यह मोक्ष प्राप्त करने के लिए बीजरूप अदृश्य शक्ति है। यह गुण शक्ति प्रगट हुई है, या नहीं वह ज्ञानी परमात्मा ही जान सकते हैं किन्तु अन्य धमार्थी जीवों को यह शक्ति प्राप्त हुई है यह जानने के लिए साधन के रूप में लक्षण बताये हैं। यह लक्षण पाँच प्रकार के हैं-

१) शम, २) संवेग, ३) निर्वेद,
४) अनुकंपा, ५) आस्था।

१) **शम** - क्रोधादि कषायों का उपशम या क्षय होना।

२) **संवेग** - मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखना।

३) **निर्वेद** - संसार में उदासीन रहना।

४) **अनुकंपा** - जीवमात्र पर दया करना तथा उन्हें पीडा न पहुँचाना।

५) **आस्था** - सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा रखना।[१०१]

जैनेन्द्रसिद्धांतकोश में[१०२] में भी यही बात आयी है।

सम्यक्त्व के पाँच अतिचार

१) शंका, २) कांक्षा, ३) विचिकित्सा,
४) अन्यदृष्टि प्रशंसा, ५) अन्यदृष्टि संस्तव

ये पाँच सम्यक्त्व के अतिचार हैं।[१०३] व्रत नियमों को अंशत: पालन होना और अंशत: भंग होना 'अतिचार' कहलाता है। दर्शन के पाँच अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है।

१) **शंका** - अरिहंत भगवंत के कहे हुए सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तत्त्वों में यह सही है या नहीं ऐसा संदेह होना 'शंका' है।

२) **कांक्षा** -धर्म का फल आत्मशुद्धि है, परंतु धर्म साधना में ऐहिक और पारलौकिक भोग उपभोगों की आकांक्षा रखना 'कांक्षा' है।

३) **विचिकित्सा** - संतों के मलिन शरीर और वस्त्रों को देखकर घृणा करना ही 'विचिकित्सा' है।

४) **अन्यदृष्टि संस्तव** - मिथ्यादृष्टि जीवों की वचनों द्वारा स्तुति करना 'अन्यदृष्टि-संस्तव' है।

५) **अन्यदृष्टि प्रशंसा** - मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान, तप आदि के बारे में 'ये अच्छे हैं ऐसी भावना रखना' अन्यदृष्टिप्रशंसा है।[१०४] तत्त्वार्थसार[१०५] में भी यही बात है।

गुणसहित सम्यग्दर्शन से जो युक्त हैं, वे संसार में रहकर जल कमलवत् निर्लिप्त हैं। जिस जीवात्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है वह एक दिन निश्चित मोक्ष मंजिल तक पहुँच सकता है।

सम्यक्त्व के भेद

मिथ्यात्व मोहनीय कर्मों का अवरोध क्रमशः उपशम, क्षयोपशम और क्षयरूप से होता है। इसलिए सम्यक्त्व के भी क्रमशः औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व ये तीन भेद होते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ अर्थात् अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शन मोह की तीन प्रकृतियाँ सम्यक्त्वमिथ्यात्व, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, कुल सात प्रकृतियों का उपशम होने पर आत्मा की जो तत्त्व रुचि होती है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

अनंतानुबंधी कषाय और उदय प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय तथा अनुदयप्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते समय जीव की जो तत्त्वरुचि होती है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व

सम्यक्त्व घाती, अनंतानुंबधी चतुष्क याने (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा दर्शन मोहत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय) इन सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाली जीव की तत्त्वरुचियाँ क्षायिक सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के ऊपर के भेद जीव की अपेक्षा से है, सम्यक्त्व की अपेक्षा से नहीं है। तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक्त्व का सही लक्षण है। सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही आत्मकल्याण का मार्ग सुलभ होता है।

विरति

कर्म के आगमन का जो दूसरा कारण है, वह है हिंसा आदि पाप कर्मों में लीन होना। उन पाप कर्मों से विरत होना अर्थात् उनका त्याग करना विरति व्रत है। पाप के त्याग से कर्म का आगमन रुकता है, इसलिए विरति को संवर भी कहते हैं। जीवन में व्रतों का महत्त्व श्वासोच्छवास के समान है। जिस प्रकार श्वासोच्छवाससे जीवित प्राणी पहचाना जाता है,

उसी प्रकार व्रत से सम्यक्त्व की पहचान होती है। **आचारांगसूत्र** में कहा है 'सम्यग्दृष्टि पाप कार्य नहीं करता।'[१०६] व्रत से पाप कर्म की निवृत्ति होती है और पापकार्य की निवृत्ति से नये कर्मों के आस्त्रव रोके जाते हैं। आस्त्रव का रुकना ही कर्मरूपी रोग की दवा है। भावनाशतक[१०७] में भी कहा है- **'विना व्रतं कर्मरूपास्त्रवस्तथा'**।

कर्माश्रवरूपी रोग को नष्ट करने के लिए व्रत रूपी औषधि का उपयोग करना आवश्यक है। **उपासकदशांगसूत्र** में[१०८] भगवान महावीर ने गृहस्थ श्रावकों के लिए उपभोग और परिभोग की मर्यादा को व्रत बताया है। उसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि संसार में भोग्य-उपभोग्य जितने भी पदार्थ हैं, उन सबका उपभोग एक व्यक्ति एक समय में, एक दिन में या जिंदगी भर में भी नहीं कर सकता, भले ही उसके पास भोग्य-उपभोग्य सामग्री प्रचुरमात्रा में हो। संसार में पदार्थ असंख्य हैं परंतु व्यक्ति की साँसें सीमित हैं। इस कारण वह सभी पदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता, फिर भी सुविधावादी या भोगवादी को असीम मिलने पर भी संतुष्ट नहीं हैं। श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने भी अपनी अंतिम वाणी **उत्तराध्ययनसूत्र** में भी यही कहा है कि **इच्छाएँ आकाश के समान अंनत हैं**।[१०९]

जब तक श्वेच्छापूर्वक संकल्पबद्ध होकर पापों का त्याग नहीं किया जाता या नियम-पूर्वक पाप नहीं छोडे जाते, तब तक अविरती आस्त्रव जारी रहता है। इससे विपरीत जो जीव अठारह पाप स्थानों से निवृत्त होता है वह पापकर्मों के बोझ से शीघ्र हल्का हो जाता है।

उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर ने धर्म के दो प्रकार बताये हैं- अगार धर्म और अनगार धर्म। अनगार धर्म में साधक सर्वतः सर्वात्मना संपूर्ण रूप में सावद्य कार्यों का परित्याग करता हुआ वह संपूर्णतः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रिभोजन से विरत होता है। भगवान ने आगे कहा है कि अगार धर्म १२ प्रकार का है - ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत।

पाँच अणुव्रत

१ मोठे तौर पर अपवाद रखते हुए प्राणातिपात से निवृत्त होना।

२ स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना।

३ स्थूलअदत्तादान से निवृत्त होना।

४ स्वदार संतोष अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा।

५ इच्छा परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण।

तीन गुणव्रत

६ दिग्व्रत-विभिन्न दिशाओं में जाने के संबंध में मर्यादा या सीमाकरण।

७ उपभोग परिभोग परिमाणव्रत।

८ अनर्थदंड विरमणव्रत।

चार शिक्षाव्रत

९ सामायिक व्रत

१० देशावकासिक व्रत

११ पौषधव्रत

१२ अतिथि संविभाग व्रत।

इस प्रकार श्रावक के लिए १२ अणुव्रतों का विधान शास्त्रों में बताया गया है।[११०]

असंयम पाप का हेतु है। जब तक पापों को स्वेच्छा से, विधिपूर्वक व्रत अंगीकार करके छोड़ा नहीं जाता, तब तक आत्मा इन पापों के प्रति आसक्त रहती है। भले ही उस समय वह पापकर्म में प्रवृत्त न हुई हो तो भी अविरति के दुष्परिणामों के कारण निरंतर पापों का स्रोत बहता रहता है। अतः प्रत्येक साधक को विरति-संवर की साधना व्रत प्रत्याख्यान एवं त्याग नियम के रूप में करनी चाहिए।

अप्रमाद

आत्म-प्रदेशों में होने वाले अनुत्साह का क्षय करना अप्रमाद है। धर्म के बारे में उत्साह रखना अप्रमाद है। दूसरे शब्दों में कहें तो अप्रमाद का अर्थ है सत्कार्य करने में शिथिलता न करना अर्थात् प्रत्येक सत्कार्य को उत्साह, आदर और श्रद्धा के साथ करना, इसलिए इसका विधेयात्मक अर्थ हुआ जागरुकता, सावधानी रखना अप्रमाद है।

अधिकांश लोग कहते हैं जब किसी भी प्रवृत्ति को करने से कर्मबंध होता है तो अच्छा है कि कोई प्रवृत्ति ही न की जाये। उनका यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति के बिना जीवन नहीं चल सकता। अतः मनुष्य को यतनापूर्वक अर्थात् विवेक से प्रवृत्ति करना आवश्यक है। असंयम से निवृत्ति करके संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए। अकर्मण्य होकर बैठ जाने का नाम निवृत्ति नहीं है, अपितु सावद्य योगों से विरत होना निवृत्ति है।

सभी प्रकार के प्रमादों का त्याग करके साधक को अप्रमत्त दशा में रमण करना चाहिए। पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों को धारण करना और सब प्रकार के कषायों का त्याग करना अप्रमाद कहलाता है।[१११]

इस प्रकार अप्रमाद-संवर की ये साधनाएँ अवश्यमेव उपादेय हैं और कर्ममुक्ति के अभिलाषी साधकों के लिए अभीष्ट भी हैं।

अकषाय

अप्रमाद के बाद अकषाय का क्रम आता है। अकषाय कर्मास्त्रव को रोकने का चौथा उपाय है। अकषाय के द्वारा मानव मोक्ष तक पहुँच सकता है। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। इस अनंत कषाय-चतुष्क के कारण ही आत्मा को संसार परिभ्रमण चतुष्क का त्याग करना चाहिए तथा अकषायी बनना चाहिए।[११२]

अयोग

कर्मबंध से मुक्त होने का पाँचवा संवर **अयोग** है। अयोग का अर्थ है मन, वचन और काया की विकारोत्पादक वृत्तियों का निग्रह करना। दूसरे के अनिष्ट का चिंतन न करना। दुष्ट इच्छा करना, ईर्षा और बैरभाव रखना ये दुष्ट मनोयोग है। किसी की निंदा करना, गाली देना, झूठा कलंक लगाना तथा असत्य बोलना, ये अशुभ वचन योग है। चोरी एवं कुकर्म करना आदि अशुभ काययोग है। जब इन अशुभ प्रवृत्तियों को रोका जायेगा और जीव द्वारा शुभ प्रवृत्ति होगी तभी कर्माश्रव रुकेगा। योग शुभ और अशुभ दो प्रकार के हैं। जब योग के साथ कषाय का संबंध होता है तब वे अशुभ होते हैं। योग पर विजय प्राप्त करने के उपाय हैं दोष का निग्रह करना तथा उन्हें दूर करना यही अयोग संवर है।[११३]

जो जीव शुक्लध्यानरूप अग्निद्वारा घाती कर्मों को नष्ट करके योगरहित होता है उसे अयोगी या **अयोगकेवली** कहते हैं।

जहाँ अयोग वहाँ संवर

समवायांगसूत्र में योग को आस्त्रव और अयोग को संवर कहा है। जब तक योग है, तब तक आस्त्रव है और जहाँ आस्त्रव है वहाँ कर्म का बंध है। जब तक आत्मा चौदहवें गुणस्थान तक नहीं पहुँच जाती तब तक योग तो रहेगा। योग के दो भेद हैं - शुभयोग और अशुभयोग। शुभयोग को शुभ-आस्त्रव (पुण्य) और अशुभयोग- अशुभ-आस्त्रव (पाप) कहते हैं। साधना की दृष्टि से विचार करें तो मन, वचन और काया द्वारा किसी भी प्रवृत्ति का विचार सर्वप्रथम मन में होता है। मन से होने वाली अंतरंग भाव धाराओं को तीन भागों में विभक्त किया है- अशुभ, शुभ और शुद्ध। जब क्लिष्ट एवं निकृष्ट तीव्र भावधाराएँ बहती हैं। तब अशुभ भावों से अशुभ आस्त्रव का आगमन होता है। शुभ भाव धारा जब पनपती है तो मन में करूणा सहानुभूति, मृदुता आदि की लहरें उठती हैं और क्रमशः विस्तृत होती जाती हैं। इस प्रकार शुभ और अशुभ के कई रंग मिलेंगे। कर्मक्षय के लिए शुभ और अशुभ दोनों को छोडकर शुद्ध बनकर अयोग अवस्था को प्राप्त करना साधक का लक्ष्य होना चाहिए।

आस्रव और संवर में अंतर

जिन पाप क्रियाओं से आत्मा बाँधी जाती है, उन क्रियाओं को आस्रव या कर्मबंध का द्वार कहते हैं। संयम-मार्ग पर प्रवृत्त होकर इन्द्रिय, कषाय और संज्ञा का निग्रह करने पर ही आत्मा में पाप का प्रवेश द्वार बंद होता है, इसे ही संवर कहते हैं।

जिसे किसी भी वस्तु के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है और जो सुख-दुःख को समान मानता है, ऐसे भिक्षु (साधु) को शुभ या अशुभ कर्म का बंध नहीं होता। जिस विरक्त मनुष्य की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों से पापभाव या पुण्यभाव उत्पन्न नहीं होता, उनकी हमेशा संवर क्रिया होती है, वह शुभ और अशुभ कर्मों से बद्ध नहीं होता।[११४] आस्रव को एक दृष्टि से 'विकारी' परिणाम के भाव आना कहा जाता है। जिस प्रकार हवा के कारण वृक्षों में परिस्पंदन (कंपन) की गति बढती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों में इन कषाय आदि विकारी भावों के कारण हलचल उत्पन्न होती है। इन हलचल की क्रियाओं को ही आस्रव कहते हैं। संवर में जिस प्रकार कर्मरूपी हवा की गति रुक जाती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेश में राग, द्वेष और मोह आदि भाव भी रुक जाते हैं। जैसे कर्म के कारण को पहचाना जाता है, वैसे ही उसे आत्मप्रदेशों में आया जानकर कषाय आदि को रोकने का प्रयत्न किया जाता है, यही संवर है। कर्म आये और फिर वह अपने आप रुक जाये, ऐसा कभी नहीं हो सकता। हवा का प्रवाह आता है, और चला जाता है, परंतु हवा का वेग जब तक रहता है, तब तक परिस्पंदन करता रहता है। उसकी समाप्ति होने पर यह परिस्पंदन आदि रूप क्रिया अपने आप ही रुक जाती है। आत्मा का स्वाभाव एक जैसा ही रहता है, परंतु आत्मा विकारी भाव से अपनी क्रिया करता है। जो विकारी भावों की क्रियाओं को समझता है, वही आत्मस्वरूप में स्थित होता है। आत्म स्वरूप में स्थित होने पर ही संवर कहते हैं।

आस्रव कर्म का कर्ता, कर्म का उपाय, कर्म का हेतु, उसका निमित्त और कर्म के आगमन का द्वार है। **दशवैकालिकसूत्र** के चौथे अध्ययन में कहा गया है, कि आस्रवद्वार को बंद करने से पापकर्म नहीं आते।[११५] **प्रश्नव्याकरणसूत्र** में पाँच आस्रवद्वार और पांच संवरद्वारों का वर्णन है।[११६] भगवान महावीर ने आस्रव को फूटी हुई नौका की उपमा दी है। इसका विवेचन भगवतीसूत्र[११७] में भी मिलता है।

कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। संवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है। आस्रव कर्म ग्राहक अवस्था है और संवर कर्मनिरोधक है। प्रत्येक आस्रव का एक-एक प्रतिपक्षी संवर है, जैसे-

मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी- सम्यक्त्व संवर है।
अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी- व्रत संवर है।
प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी- अप्रमाद संवर है।

कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी- अकषाय संवर है।

योग आस्रव का प्रतिपक्षी- अयोग संवर है।

आस्रव के कारण जीव को संसार परिभ्रमण करना पडता है। परंतु संवर के कारण संसार परिभ्रमण कम होता है। आस्रव हेय है, संवर उपादेय है। आस्रव मोक्ष की चोटी को प्राप्त करने में सहायक नहीं है, जब कि संवर मोक्ष की चोटी को प्राप्त करने में सहायक है।

निरास्त्रवी होने का उपाय

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा- 'जीव निरास्त्रवी कैसे होता है?' भगवान महावीर ने उत्तर दिया- 'हे गौतम! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तदान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन के विरमण (त्याग) से जीव निरास्त्रवी होता है। जो पाँच समितियों से युक्त, तीन गुप्तियों से युक्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, गौरवरहित और नि:शल्य होता है, वह जीव निरास्त्रवी होता है।[११८] गौतम ने एक बार महावीर से पूछा- 'भन्ते! प्रत्याख्यान करने से (संसारी विषयवासना का त्याग करने से) जीव को क्या लाभ होता है? भगवान ने उत्तर दिया 'हे गौतम! प्रत्याख्यान से जीव आस्रवद्वार बंद करता है और इच्छानिरोध करता है। इच्छा निरोध के कारण जीव सब द्रव्यों से तृष्णारहित होता है और शांत बनता है।'

इस कथन का सार यही है कि, अप्रत्याख्यान आस्रव है। उसके कारण कर्मों का आगमन होता है। जो प्रत्याख्यान करता है, उसकी आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश नहीं होता।[११९] गौतम ने पूछा, 'भगवान्! अनेक जन्मों में संचित किये गये कर्मों से मुक्ति कैसे प्राप्त होगी?' प्रभु ने कहा, 'जिस प्रकार तालाब का पानी आने का मार्ग बंद करने पर और अंदर का पानी निकालने पर वह सूर्य की उष्णता से सूख जाता है, उसी प्रकार पाप-कर्म के आस्रव को रोकने पर अर्थात् निरास्त्रवी होने पर साधक के अनेक जन्मों के संचित कर्म तप द्वारा नष्ट हो जाते हैं।'[१२०]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि नवीन कर्म के आगमन का निरोध करना या आस्रव को रोकना, कर्म से मुक्त होने की प्रथम सीढी है। जो आस्रवरहित होता है, उसके अति जड़कर्म भी तप से नष्ट हो जाते हैं। जीव तालाब के समान है। आस्रव जल-मार्ग के समान है और कर्म पानी के समान है। जीवरूपी तालाब को कर्मरूपी पानी से खाली करने के लिए आस्रवरूपी झरना पहले बंद करना चाहिए।

जैनागम में आस्रवद्वार के निरोध का उल्लेख अनेक जगह आया है। इसका कारण यह है कि आस्रव पापकर्म के आगमन का हेतु है। नया कर्म बंध न हो इसलिए पहले उसे रोकना आवश्यक है। जिस प्रकार कर्म से मुक्त होने के लिए नवीन कर्म से दूर रहना आवश्यक है, उसी प्रकार पूर्व संचितकर्म से मुक्त होने के लिए निरास्त्रवी होना आवश्यक है।

निष्कर्ष

जीव में आस्रव द्वारा कर्मागमन होता है क्योंकि जीव के अच्छे-बुरे परिणाम पुण्य-पाप के आस्रव से होते हैं। कर्म प्रवेश मार्ग को आत्मप्रदेश से दूर रखना जीव का कर्तव्य है। कर्म, पुद्गल होने पर भी आत्मप्रदेश में इस प्रकार आता है कि जीव अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा को पहचान नहीं सकता। उसी प्रकार मन, वचन और काया की क्रियाओं को भी नहीं रोक सकता। इसलिए कर्म पुद्गलों को आने से रोकना ही साधक की सिद्धि है।

जिस जीव ने आस्रव का निरोध कर अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे आध्यात्मिक दृष्टि से **'तत्त्वज्ञानी'** कहा गया है। जो मिथ्यात्व के कारणों से रहित बनकर तथा ममत्वरहित होकर वीतरागता के मार्ग का अनुसरण करता है, वही आस्रव से मुक्त हो सकता है।

यदि जीव को कर्मबंध का मुख्य कारण आस्रवद्वार का यथार्थ ज्ञान हो जाये अर्थात् कर्म कैसे आते हैं? कर्मों का बंध कैसे होता हैं? आस्रव के कारण संसार परिभ्रमण कैसे करना पडता है? इन सभी का ज्ञान हो जाये तभी वह आस्रव से परावृत होने का प्रयत्न कर सकता है।

कर्मों का निर्जरण : निर्जरा

कर्मों से मुक्त करने वाला तत्त्व **निर्जरा** है। निर्जरा का अर्थ है पूर्वकृत कर्मों का झड़ जाना। कर्मों की निर्जरा भी क्रमपूर्वक होती है, मोक्षलक्षी बनकर किये जाने वाले तप से जो निर्जरा होती है वह **सकाम निर्जरा** है और कर्मफल को आर्तध्यान, रौद्रध्यानपूर्वक भोगने के बाद कर्मों का झड़ जाना **अकाम निर्जरा** है। शारीरिक मानसिक-आत्मिक समाधि का एवं दुश्चिन्ताओं से उबरने का एक मात्र उपाय तप साधना है। तप का अर्थ है, स्वेच्छा से दुःखों का स्वीकार करके उन पर विजय प्राप्त करना। जैसे प्रज्वलित अग्नी घास को जला डालती है, वैसे ही तप की अग्नी कर्मों को जला देती है। स्थूल शरीर जनित ताप की आँच सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करे तभी वह ताप सम्यक् तप कहलाता है। जो मोक्ष की ओर ले जाता है देखादेखी, प्रतिस्पर्धापूर्वक एवं इच्छापूर्ति के लिए किया गया तप **बालतप** है जो संसार वृद्धि का कारण है।

कर्मविज्ञानवेत्ताओं ने कर्म बाँधने और मुक्त होने के तत्त्व को अलग-अलग नाम दिये हैं। कर्मों का बंधन कराने वाला तत्त्व **'बंध'** है कर्मों से मुक्त कराने वाला तत्त्व **निर्जरा** है। निर्जरा का अर्थ पूर्वकृत कर्मों को क्षय करना, झड़ना। जैसे पक्षी पंख फडफडा कर उस पर लगी हुई धूल को झाड़ देता है, उसी प्रकार आत्मा अपने पर लगी हुई कर्म रज को झाड़ देती

है, उसे निर्जरा कहा जाता है अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ लगे हुए कर्म प्रदेशों का झड़ जाना निर्जरा है। निर्जरा में एक साथ एक ही समय में समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता। पूर्वबद्ध कर्मों में से जो कर्म उदय में आ जाते हैं और अपना सुख-दुःखरूप फल देने के अभिमुख हो जाते हैं उन्हीं कर्मों का फल आत्मा भोगती है एवं भोगने के बाद फल देकर वे कर्म झड जाते हैं।

निर्जरा का अर्थ

सर्वार्थसिद्धि में कहा है- आत्म-प्रदेशों से कर्ममल का आंशिक रूप से क्षय होना निर्जरा है।[१२१] कर्मों का आंशिक रूप से क्षय होना और आत्मा का आंशिक रूप से विशुद्ध होना ही निर्जरा है। जैन दर्शन के अनुसार आस्त्रव के द्वारा कर्म आते हैं और राग-द्वेष के द्वारा बंध को प्राप्त होते हैं। जब तक जीवात्मा में राग-द्वेष के तत्त्व उपस्थित हैं, तब तक आस्त्रव और बंध की परंपरा चलती रहती है। यही संसार है, किन्तु जब आत्मा स्व-स्वरूप का परिज्ञान कर अपने स्व-स्वभाव में स्थिर होती है अर्थात् राग-द्वेष से ऊपर उठती है अर्थात् वीतराग अवस्था को प्राप्त करती है, तब नवीन कर्मों का आगमन अर्थात् आस्त्रव रुक जाता है। आस्त्रव का अभाव होने पर बंध भी नहीं होता है। आस्त्रव का रुक जाना ही संवर है। संवर के द्वारा नवीनकर्मों का आगमन रुक जाता है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बनी रहती है। जब तक पूर्वबद्ध कर्म नष्ट नहीं होते तब मुक्ति नहीं मिलती। पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने की यह प्रक्रिया ही निर्जरा कही जाती है। यह बात उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जाती है, जैसे तालाब में जब तक पानी के आगमन का स्त्रोत खुला रहता है पानी का आगमन नहीं रुकता, उन स्त्रोतों को बंद कर देने पर नवीन पानी का आगमन तो रुक जाता है, परंतु जो पानी तालाब में भरा हुआ है, उसे निकाले बिना तालाब खाली नहीं होता। तालाब में पानी के आगमन के स्त्रोतों को बंद कर देना संवर है और उसमें भरे हुए जल को निकाल देना या सुखा देना निर्जरा है। निर्जरा के द्वारा साधक आत्मरूपी तालाब से कर्मरूपी जल को निकालकर बंधन से मुक्त हो जाता है।[१२२] समयसार में भी यही कहा है।[१२३]

आगमों में कहा गया है कि आत्मा पर लगे हुए कर्ममल का आंशिकरूप से क्षय होना अथवा उसका आत्मप्रदेशों से अलग होना ही निर्जरा की साधना है। आगमों में तप को निर्जरा का साधन बताया। तपरूपी अग्नी कर्मरूपी इंधन को जलाकर नष्ट कर देती है। तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय कर जीवात्मा सर्व दुःखों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।[१२४] जिस प्रकार पानी से भरा तालाब सूर्य की गरमी से सूख जाता है। उसी प्रकार तपरूपी अग्नी से कर्मरूपी संचित जल सूख जाता है। तप कर्मों को नष्ट करने की प्रक्रिया है। मिथ्यात्व, कषाय तथा राग-द्वेष का त्याग करके निष्काम भाव से तपसाधना आत्मविशुद्धि के लिए आवश्यक है। आसक्तिपूर्वक अहंकार से युक्त होकर भौतिक उपलब्धियों के लिए किया

गया तप मात्र बाह्यतप है। उससे शरीर तो जीर्ण होता है, किंतु मनोविकार नहीं जाते। वस्तुतः मनोविकारों को नष्ट करना ही तप का वास्तविक अर्थ है।

निर्जरा के दो प्रकार

निर्जरा दो प्रकार की कही गई है- १) अविपाक निर्जरा, २) सविपाक निर्जरा। इन्हें क्रमशः औपक्रमिक निर्जरा तथा अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहा जाता है।

कर्मों का अपनी कालमर्यादा के परिपक्व होने पर अपना फल देकर नष्ट हो जाना **सविपाक निर्जरा** है। जब कि पूर्वबद्ध कर्मों को उनकी काल मर्यादा के पूर्ण होने के पूर्व ही उदय में लाकर समाप्त कर देना, **अविपाकी निर्जरा है।** सविपाकी निर्जरा तो जीवात्मा हर समय करता ही रहता है, किंतु इससे मुक्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि नये कर्मों के आगमन की परंपरा यथावत् चलती रहती है। सविपाकी और अविपाकी निर्जरा को उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। जिस प्रकार वृक्ष पर लगे हुए फल उनकी काल सीमा के पूर्ण होने पर स्वतः ही पककर गिर जाते हैं। उसी प्रकार सविपाकी-निर्जरा में कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, किंतु कर्मों के इस स्वाभाविक विपाक के समय जीव राग-द्वेष के वशीभूत होकर नवीन कर्मों का बंध करता रहता है, इस प्रकार कर्म परंपरा चलती रहती है, किंतु जिस प्रकार पेड पर लगे हुए फलों को समय मर्यादा के पूर्व ही तोडकर गर्मी आदि देकर पका लिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों के उदय में आने के पूर्व ही तपरूपी अग्नि से उन्हें नष्ट कर देना अविपाकी-निर्जरा है। सविपाकी निर्जरा संसारी जीव सदैव करता रहता है, किंतु अविपाकी निर्जरा तो सम्यग्दृष्टि व्रतधारी जीव ही करने में समर्थ होते हैं। कर्मफल को आत्मा से अलग करना जीव का स्वभाव है, किंतु यह तब तक संभव नहीं होता, जब तक जीवात्मा अपने स्वरूप का बोध प्राप्त नहीं करता।

नवीन कर्मों के आस्त्रव को रोकना और पूर्वबद्ध कर्मों को छः प्रकार के बाह्य तथा छः प्रकार के अभ्यंतर तपों के द्वारा नष्ट करना- सम्यग्दृष्टि जीव का प्रयत्न होता है। तब तक जीव मिथ्यात्व के वशीभूत होकर रागद्वेष के द्वारा नये कर्मों का बंध करता रहता है, तब तक वह मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

कर्मफल को समाप्त करने के लिए मुनिजन दुष्कर तप करते हैं। भूख-प्यास, सर्दी, गर्मी आदि अनेक परिषहों को सहन करते हैं। दूसरे प्राणियों के द्वारा दिये गये नानाविध कष्टों को सहते हैं। केशलोंच आदि अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं। स्वजन परिजन का ममत्व नहीं रखते, तथा सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं। यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते। उग्र तपस्या आदि के द्वारा इच्छाओं का दमन करते हैं। इसे अविपाकी

एवं सकाम निर्जरा कहा जाता है। क्योंकि इसमें इच्छापूर्वक कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है। जब स्वेच्छा से कष्टों को सहन करके आत्म पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट किया जाता है उसे अविपाकनिर्जरा या सकामनिर्जरा कहते हैं।[१२५] यही मुक्ति का मार्ग है।

निर्जरा के बारह प्रकार

स्थानांगसूत्र में निर्जरा एक प्रकार की बताई गई है- **'एगा निज्जरा'** परंतु अन्य स्थानों पर निर्जरा के बारह प्रकारों का भी उल्लेख है, जिस प्रकार अग्नी एक ही होती है, किंतु तृण काष्टादि विविध भेद किये हैं, उसी प्रकार कर्ममल को नष्ट करने रूप निर्जरा तो वस्तुतः एक ही प्रकार की है; किंतु जिन साधनों से यह निर्जरा की जाती है, उन साधनों के आधार पर उसके बारह भेद बताये गये हैं -

१) अनशन, २) ऊणोदरी या अवमौदर्य, ३) वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाचर्या) ४) रसपरित्याग, ५) विवक्तशय्यासन-प्रतिसंलीनता तप, ६) कायाक्लेश, ७) प्रायश्चित, ८) विनय तप, ९) वैयावृत्यतप, १०) *स्वाध्याय तप*, ११) व्युत्सर्ग तप, १२) ध्यानतप।[१२६]

उत्तराध्ययनसूत्र[१२७] और तत्त्वार्थ राजवार्तिक[१२८] में १२ प्रकार के तप का विवेचन है।

१) अनशन

भोजनादि का त्याग करना अनशन तप है। मर्यादित समय के लिए या आजीवन के लिए आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। इसे उपवास या अनशन के रूप में जाना जाता है। वैसे तो उपवास रोग निवृत्ति के लिए भी किये जाते हैं, परंतु जो उपवास आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए किया जाता है, वही वास्तविक उपवास है। अनशन का उद्देश्य संयम का रक्षण और कर्मों की निर्जरा दोनों ही हैं।[१२९]

संक्षेप में संयम की साधना, देह के प्रति राग-भाव का विनाश, ध्यान साधना अथवा ज्ञान-साधना के लिए अनशन की आवश्यकता होती है। साथ ही जिनशासन की प्रभावना भी होती है।[१३०]

२) ऊणोदरी या अवमौदर्य

ऊणोदरी यह तप का दूसरा प्रकार है। 'ऊन' का अर्थ न्यून या कम होता है। उदर (पेट) की आवश्यकता से कम खाना या उसके कुछ भाग को खाली रखना अवमौदर्य तप कहा जाता है।[१३१] इसे अवमौदयारिका[१३२] अथवा ऊनोदारी भी कहा जाता है।[१३३]

संक्षेप में ऊनोदरी तप का तात्पर्य आहार के परिमाण में कमी करना अथवा अपेक्षित आहार से कम आहार ग्रहण करना, कषायों को कम करना ऊनोदरी तप का भाव पक्ष है।[१३४]

३) वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाचर्या)

विविध वस्तुओं की लालसा को कम करना या भोगाकांक्षा पर अंकुश लगाना वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा है। वृत्ति का अर्थ भिक्षावृत्ति भी है। भिक्षावृत्ति के लिए विविध प्रकार की मर्यादाओं को स्वीकार करना वृत्ति परिसंख्यान तप है। जैसे दो या तीन घरों से ही भिक्षाग्रहण करूँगा अथवा एक या दो बार में पात्र में जो आहार आयेगा उसी से संतुष्ट रहूँगा। यही वृत्ति-परिसंख्यान है।

जैन परंपरा में भिक्षाचर्या को गोचरी या मधुकरी भी कहा जाता है। जैसे गाय घास को ऊपर ऊपर से ग्रहण करके अपनी क्षुधा तृप्त कर लेती है और जैसे भँवरा थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करके क्षुधा शांत कर लेता है। उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घर से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करके अपनी क्षुधा को निवृत्त कर लेता है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन परंपरा का है, अपितु बौद्ध तथा वैदिक दर्शन में भी भिक्षाग्रहण करने की विधि मानी गई है। भिक्षावृत्ति को विविध प्रकार से मर्यादित करना की वृत्ति संक्षेप तप कहलाता है। श्रमण को मधुकर की उपमा दी गई है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर घूमते समय थोड़ा-थोड़ा मधु पीकर संतुष्ट हो जाता है, और फूलों को भी किसी प्रकार के हानि नहीं पहुँचने देता, उसी प्रकार मुनि भोजन के लालच से रहित होकर समभाव से गृहस्थों के घर जाकर सहज भाव से बनाये गये भोजन (आहार) में से थोडा-थोडा ग्रहण करते हैं। इससे गृहस्थ को कोई तकलीफ नहीं होती।[१३५]

४) रस परित्याग

रस परित्याग एक प्रकार का आस्वाद व्रत है। इसमें स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना की जाती है। घी आदि से निर्मित अति गरिष्ट आहार शरीर में शीघ्र ही मद (विकार) उत्पन्न करता है, जिससे मन चंचल होता है। इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं तथा संयम के बंधन टूटते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए 'रसत्याग' आस्वाद व्रत अतीव आवश्यक है। रसयुक्त भोजन साधक के लिए विष के समान माना गया है। दूध, दही, घी, तेल, मधु, मक्खन आदि विकारी रसों का त्याग करना 'रस परित्याग' कहलाता है। इस तप से इन्द्रियों तथा निद्रा पर विजय प्राप्त होती है। संयम बाधा निवृत्ति के लिए घी आदि का त्याग करना रस परित्याग है।[१३६] 'तत्त्वार्थराजवातिर्क[१३७] में भी यही बात बताई है।

५) विवक्त-शय्यासन- प्रतिसंलीनता तप

ब्रह्मचर्य-पालन, जीव-संरक्षण, ध्यानसिद्धि तथा स्वाध्याय आदि के लिए एकांत जगह रहना, सोना या आसन लगाना 'विविक्त-शय्यासन' कहलाता है। विविक्त-शय्यासन का दूसरा नाम प्रतिसंलीनता भी है। आत्मा में लीन होना प्रतिसंलीनता तप है। इन्द्रिय, कषाय, मन, वचन और काया- त्रिविध योगों को बहार से हटाकर आत्मा में लीन होना प्रतिसंलीनता है।

प्रतिसंलीनता तप के चार भेद हैं-

१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता २) कषाय प्रतिसंलीनता
३) योग प्रतिसंलीनता ४) विविक्त-शय्यासन सेवना

इसका विवेचन सुत्तागमे में किया गया है।[१३८]

६) कायक्लेश

शरीर को कष्ट देना, उसका दमन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना। यह भारतीय अध्यात्म-दर्शन की पृष्ठभूमि है। समस्त दुःख एवं कष्ट शरीर को होते हैं आत्मा को नहीं होते। कष्टों के कारण से पीड़ा होती है। वध करने से शरीर का नाश होता है, परंतु आत्मा का नाश नहीं होता।[१३९]

कायक्लेश तप का व्यावहारिक जीवन में भी बहुत महत्त्व है। मनुष्य को कोई भी महान् कार्य सिद्ध करने के लिए कष्ट सहन करने पडते हैं। किसी भी अच्छे काम में अनेक संकट आते रहते हैं।

श्रेयांसि बहुविघ्यानि।

परंतु इन संकटों को पार करने के लिए साहस और सहिष्णुतारूपी नौका की आवश्यकता है। साथ ही आत्मबल और मनोबल की आवश्यकता होती है। सुकुमार और कोमल लोग साधना नहीं कर सकते। सुकुमारता का त्याग कर शरीर को आतापना से तपाना चाहिए।[१४०]

कायक्लेश तप हमारे जीवन को सुवर्ण के समान उज्ज्वल बनाता है। यद्यपि साधु को दृष्टि में रखकर या लक्ष्य करके यह तप बताया गया है, परंतु सामान्य मनुष्य भी यह तप कर सकता है। आसन लगाकर ध्यान करना, तप का संकल्प करना, शरीर का ममत्व कम करना, शरीर की आदतों को मर्यादित करना। इस प्रकार संपूर्ण साधना **कायक्लेश तप** की आराधना है।

वास्तविक कायक्लेश तप का उद्देश्य एक ही है। वह है शरीर के प्रति आकर्षण को कम करना अर्थात् शरीर का मोह छोडना, इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए जो साधन

उपयोग में लाये जाते हैं, सब कायक्लेश तप कहलाते हैं।[१४१] तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी यही कहा है।[१४२] तप करने से शरीर को लघुता प्राप्त होती है, प्रत्येक कार्य निर्दोष होता है, संयम होता है और कर्मों की निर्जरा होती है।[१४३]

यहाँ तक बाह्य तप के संबंध में विचार किया गया है। अब अभ्यंतर तप का विवेचन किया जायेगा। जैन धर्म की तप विधि बाह्य से अंतर की ओर प्रगति करती है। जैनधर्म में तपों का क्रम इस प्रकार है। आभ्यंतर तप में मन की विशुद्धि, सरलता और एकाग्रता की विशेष साधना होती है। बाह्य तप की साधना से साधक अपने शरीर को जीतता है और शरीर का संशोधन करता है।

आभ्यंतर तप के छह सोपान

१) प्रायश्चित, २) विनय, ३) वैयावृत्त्य,
४) स्वाध्याय, ५) व्युत्सर्ग, ६) ध्यान।

ये तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखते। ये अंत:करण के व्यापार से होते हैं। इन्हें अभ्यंतर तप कहते हैं।[१४४] तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी यही बात बताई है।[१४५]

७) प्रायश्चित

धारण किये हुए व्रतों में प्रमाद के कारण लगे दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित तप कहलाता है। दोष शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित लेकर सम्यक् प्रकार से दोषों का निराकरण करना **'प्रायश्चित'** तप है। राजकीय नियमों में जिस प्रकार अपराध के लिए दंड की व्यवस्था की गई है, उसी प्रकार धार्मिक नियमों में दोष के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था की गई है। 'प्रायश्चित' दो शब्दों से मिलकर बना है- प्राय: और चित्त। प्राय: का अर्थ है- पाप और चित्त का अर्थ है- उस पाप का विशोधन करना। अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम ही प्रायश्चित है।[१४६] प्राकृत भाषा में प्रायश्चित को **पायच्छित्त**[१४७] कहा जाता है। पायच्छित्त शब्द की व्युत्पति बताते हुए आचार्य कहते हैं- पाय अर्थात् पाप और छित्त अर्थात् छेदन करना जो क्रिया पाप का छेदन करती है अर्थात् पाप को दूर करती है, उसे **पायच्छित्त** कहते हैं।[१४८] पंचाषक-सटीकविवरण में भी यही कहा है।[१४९]

मनुष्य प्रमाद में अनुचित कार्य करता है, दोषों का सेवन करता है, अनेक अपराध करता है, परंतु जिसकी आत्मा जागरुक रहती है, वह धर्म-अधर्म का विचार करता है, जिसके मन में, परलोक में अच्छी गति प्राप्त हो ऐसी भावना रहती है वह उस अनुचित आचरण के लिए मन में पश्चाताप करता है। ये दोष कांटे के समान उसके हृदय में चुभते हैं। उन दोषों से निवृत होने के लिए गुरुजनों के समक्ष पाप को प्रगट कर, प्रायश्चित लेना ही तप साधना की विधि है। प्रायश्चित को मुक्ति का मार्ग बताया है।[१५०]

८) विनय तप

अभ्यंतर तप का दूसरा भेद विनय तप है। विनय का संबंध हृदय से है। यह आत्मिक गुण है। जिसका हृदय कोमल है, वही विनय तप का आचरण कर सकता है। विनय का अर्थ है मन तथा आत्मा का अनुशासन। विनयशील व्यक्ति पाप एवं असत् आचरण से डरता है विनीत की व्याख्या करते हुए कहा है, 'जो लज्जाशील है और इन्द्रियों का दमन करने वाला है, उसे सुविनीत कहते हैं'।[१५१]

जिससे आठ कर्मों का क्षय होता है, उसे विनय कहते हैं, अर्थात् विनय आठ कर्मों को दूर करता है और उससे चार गतियों का अंत करने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है। विनय शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है १) अनुशासन,[१५२] २) आत्मसंयम शील (सदाचार)[१५३] तथा ३) नम्रता और सद्व्यवहार।[१५४]

भगवतीसूत्र में विनय के सात भेद बताये हैं वे इस प्रकार है-

१) ज्ञानविनय, २) दर्शनविनय, ३) चारित्र्यविनय, ४) मनविनय, ५) वचनविनय, ६) कायाविनय, ७) लोकोपचारविनय।

१) **ज्ञानविनय** - ज्ञानी लोगों के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

२) **दर्शनविनय** - सम्यक्त्व का आदर करना और सम्यक्दृष्टि रखना। साथ ही गुरुजनों की सेवा करना।

३) **चारित्र्यविनय** - चारित्र्यसंपन्न व्यक्तियों के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करना।

४) **मनविनय** - मन पर अनुशासन रखना।

५) **वचनविनय** - सुंदर सौम्य सर्वजन हितकारी वचन बोलना।

६) **कायाविनय** - उपयोगपूर्वक चलना, रुकना, ऊठना, बैठना अर्थात् यत्नापूर्वक इन्द्रियों की हलचल करना।

७) **लोकोपचारविनय** - इसे लोक व्यवहार भी कहते हैं सत्य प्रिय और मधुर भाषा बोलना। साथ ही किसी के भी साथ द्वेषपूर्ण व्यवहार न करना।[१५५] विनय का फल मोक्ष है।

आगमकारों ने भी उद्घोषित किया है कि जिस प्रकार वृक्ष का उद्गम मूल से होता है और उसका अंतिम फल रस होता है, उसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय और उसका अंतिम फल रस अर्थात् **मोक्ष** है।[१५६] विनय का जीवनव्यापी प्रभाव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार सुंगध के कारण चंदन की महिमा है, सौम्यता के कारण चंद्रमा का गौरव है,

मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय है, उसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य भी संपूर्ण विश्व में प्रिय और आदरणीय होता है। जैनधर्म में विनय का उपदेश आत्म विकास के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए और गुरुजनों की सेवा द्वारा कर्म निर्जरा के लिए दिया गया है। इस प्रकार विनय से आत्मा सरल शुद्ध और निर्मल बनती है।

९) वैयावृत्यतप

यह आभ्यंतर तप का तीसरा भेद है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है। उसे दूसरे के सहयोग की अपेक्षा होती है। सुख-दुःख के समय, संकट के समय तथा रोग-ग्रस्त होने पर उसे अन्य किसी सहयोग की अपेक्षा होती है।[१५७] जीवों में परस्पर सहयोग और उपकार करने की वृत्ति होती है।[१५८] भगवद्गीता में भी परस्पर सहयोग के संबंध में कहा है-

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।[१५९]

परस्पर उपकार की वृत्ति छोटे बडे सभी जीवों में मिलती है। जैसे चींटी, मधुमक्खी, हाथी, हिरन, गाय आदि पशुपक्षी समूह में रहकर एक दूसरे को सहयोग देते हैं। एक बार गणधर गौतम ने पूछा- 'भगवन्! आपने सेवा वैयावृत्य का विशेष महत्त्व बताया है लेकिन वैयावृत्य के द्वारा आत्मा को फल की प्राप्ति कैसे होती है?' भगवन् ने उत्तर दिया- 'वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म का उपार्जन करता है। यही वैयावृत्य का महान् फल है। उसके आचरण से आत्मा विश्व के सर्वोत्कृष्ट पद की प्राप्ति करता है।[१६०]

आचार्यों की सेवा करना, उपाध्यायों की सेवा करना, स्थविर मुनि, तपस्वियों की, रोगियों की, नवदीक्षित मुनियों की सेवा करना, कुल की सेवा करना, गण की सेवा करना, संघ की सेवा करना, सह-धार्मिक की सेवा करना।[१६१] इन दस भेदों से साधु जीवन से संबंधित समस्त समूह आ गया। इन साधकों की सेवा करना, उनकी परिचर्या करना, और सुख शांति हो, ऐसा आचरण करना ही वैयावृत्य है। सेवा या वैयावृत्य में परमधर्म, सर्वोत्तम तप और मोक्ष मार्ग का उत्कृष्ट सोपान है।

१०) स्वाध्याय तप

यह आभ्यंतर तप का चौथा भेद है। तप का उद्देश्य केवल शरीर को क्षीण करना ही नहीं है, अपितु तप का मूल उद्देश्य है अंतर्विकार को क्षीण करके मन को निर्मल एवं स्थिर बनाना और आत्मा का स्वरूप प्रकट करना। मानसिक शुद्धि के लिए तप के विविध स्वरूपों का वर्णन जैन शास्त्रों में किया गया है। उनमें स्वाध्याय और ध्यान ये दो तप प्रमुख हैं। स्वाध्याय मन को शुद्ध करने की प्रक्रिया है और ध्यान मन को स्थिर करने की। शुद्ध मन ही

स्थिर हो सकता है, इसलिए पहले मनःशुद्धि कैसे की जाय, किन साधनों से और कौनसी प्रक्रियाओं से मन को निर्मल व निर्दोष बनाया जाय इसका विचार किया जाय।

सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय।

सत् शास्त्र का मर्यादापूर्वक वाचन करना तथा अच्छे ग्रंथों का ठीक प्रकार से अध्ययन करना ही स्वाध्याय है।[१६२] स्वाध्याय के कारण मन इतना निर्मल और पारदर्शक बनता है कि शास्त्र का रहस्य उसमें प्रतिबिंबित होने लगता है, इसलिए स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है। स्वाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए विद्वानों ने कहा है-

'स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः अध्ययनं स्वाध्यायः।

स्वयं अध्ययन करना अर्थात् आत्मचिंतन, मनन करना ही स्वाध्याय कहलाता है।

स्वाध्याय का महत्त्व

जिस प्रकार शरीर के विकास के लिए व्यायाम और भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बुद्धि के विकास के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता होती है। स्वाध्याय का जीवन में कितना महत्त्व है इसे मानव अनुभव से ही समझ सकता है। मनुष्य के विकास के लिए सत्संगति की बडी महिमा है, परंतु सत् शास्त्र का महत्त्व सत्संगति से भी अधिक है। सत्संगति हर बार नहीं मिल सकती। साधुजनों का परिचय और सहवास कभी मिलता है और कभी नहीं भी मिलता, लेकिन सत् शास्त्र हर समय मनुष्य के साथ रहता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान टपर ने कहा है- Books are our best friends- ग्रंथ हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं।[१६३]

मनुष्य को सर्वप्रथम रोटी की आवश्यकता होती है। यह जीवन देती है, परंतु सत् शास्त्र की उससे भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि सत् शास्त्र जीवन की कला सिखाता है। इस संदर्भ में लोकमान्य तिलक ने कहा है- 'मैं नरक में भी उन सत् शास्त्रों का स्वागत करूँगा क्योंकि सत् शास्त्र एक अद्‌भुत शक्ति है। वह जहाँ होगी वहाँ अपने आप ही स्वर्ग बन जायेगा, इसलिए सत् शास्त्र का अध्ययन जीवन में अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि सत् शास्त्र को 'तीसरा नेत्र' (**शास्त्रम् तृतीय लोचनम्**) कहा गया है। '**सर्वस्य लोचनं शास्त्रं**' ऐसा भी उल्लेख मिलता है।

भगवान महावीर ने अपने अंतिम उपदेश में कहा है, - 'स्वाध्याय के सातत्य से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है।[१६४] अनेक जन्मों में संचित अनेक प्रकार के कर्म स्वाध्याय से क्षीण होते हैं'। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता है।[१६५] स्वाध्याय एक बडी तपस्यश्चर्या है। इसलिए आचार्यों ने कहा है-[१६६]

न वि अत्थि न वि अ होहि सज्झाय-समं तवोकम्मं।

वैदिक ग्रंथों में भी जैनदर्शन के समान स्वाध्याय को तप माना गया है। तैत्तिरीय अरण्यक में कहा है स्वाध्याय स्वयं ही एक तप है।[१६७] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा -

स्वाध्याययान मा प्रमदः।[१६८]

अर्थात् स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। योगदर्शनकार पतञ्जलि ने कहा है- स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होने लगता है।[१६९] जैन आगम में स्वाध्याय के पाँच भेद बताये हैं- **वाचना, पृच्छना, परिवर्तन, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा** इनका विवेचन इस प्रकार किया गया है -

वाचना - सद्ग्रंथों का वाचन करना और दूसरों को सिखाना।

पृच्छना - मन में शंका उत्पन्न होने पर गुरुजनों से पूछना और ज्ञान को बढाना। पृच्छना का अर्थ है जिज्ञासा और जिज्ञासा ज्ञान की कुंजी है।

परिवर्तना - जो ज्ञान प्राप्त किया है उसकी आवृति करते रहना। इससे ज्ञान में स्थिरता आती है और ज्ञान दृढ बनता है।

धर्म अनुप्रेक्षा - तत्त्व के अर्थ और रहस्य पर विस्तारपूर्वक और गहराई में जाकर चिंतन करना।

धर्मकथा - धर्मोपदेश स्वयं सुनना और लोककल्याण की भावना से दूसरों को धर्म का उपदेश देना।[१७०]

इस प्रकार स्वाध्याय के पाँच भेद बताये हैं- इनके भी अनेक उपभेद जैनशास्त्रों (भगवतीसूत्र, ठाणांग) आदि में कहे गये हैं।[१७१] साधक को अपना जीवन स्वाध्याय, तप में लगाकर शास्त्र की आराधना करनी चाहिए, तथा ज्ञान की उपासना कर, जीवन को उज्ज्वल बनाना चाहिए।

११) व्युत्सर्ग तप

अभ्यंतर तप का यह पाँचवा भेद है - व्युत्सर्ग। व्युत्सर्ग शब्द 'वि' और 'उत्सर्ग' इन दो पदों से मिलकर बना है। 'वि' का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग। विशिष्ट त्याग अर्थात् त्याग करने की विशिष्ट पद्धति ही व्युत्सर्ग है।

दिगंबर आचार्य अकलंक ने व्युत्सर्ग की व्याख्या इस प्रकार की है- निसंगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग व्युत्सर्ग के आधार हैं।[१७२] धर्म के लिए तथा आत्मसाधना के लिए स्वयं का उत्सर्ग करने की पद्धति ही व्युत्सर्ग है।[१७३]

साधक व्युत्सर्ग तप में पाषाण की प्रतिमा के समान स्थिर होकर दंशमशक आदि परिषह आने पर भी दुष्ट लोगों के द्वारा प्रहार किये जाने पर भी निराकुल भाव से आत्मा में लीन रहता है और साधना में दृढता बढने से परम सहिष्णुता प्राप्त करता है। अहंभाव, परिग्रह और ममत्वभाव के त्याग को 'व्युत्सर्ग-तप' कहते हैं। व्युत्सर्ग का अर्थ है- छोड देना या त्याग देना, बाह्य पदार्थों का त्याग बाह्य उपधि व्युत्सर्ग है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा आदि अभ्यंतर दोषों की निवृत्ति अभ्यंतर उपधि व्युत्सर्ग हैं।

कायोत्सर्ग पद में काया का अर्थ है शरीर और उत्सर्ग का अर्थ है परित्याग। इसमें कुछ समय के लिए शारीरिक हलचलों का त्याग करके मानसिक चिंतन किया जाता है। जैन-साधना में इस तप को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उसे आत्मशुद्धि के प्रत्येक अनुष्ठान के प्रारंभ में आवश्यक माना गया है। मानसिक चिंतन चाहे किसी प्रतिज्ञा के रूप में हो या संभावित दोषों की प्रत्यालोचना के रूप में हो, यह साधना हृदय तक पहुँचती है।[१७४]

१२) ध्यानतप

अभ्यंतर तप का यह छठा अत्यंत महत्त्वपूर्ण भेद है। मन को एक विषय पर एकाग्र करना अर्थात् केंद्रित करना 'ध्यान' है। वह गतिशील है। मन कभी शुभ विचार करता है, तो कभी अशुभ विचार करता है। मन के इस प्रकार के प्रवाह को अशुभ विचारों से परावृत्त करके, शुभ विचार पर केंद्रित- 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान से आत्मबल बढता है और मन समाधिस्थ होता है।

चित्त-विक्षेप का त्याग करके आत्म स्वरूप में लीन होना 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान के विषय में कहा गया है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का निरोध करना 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान के विषय में कहा गया है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का निरोध करना 'ध्यान' है।

ध्यान के चार प्रकार हैं- १) आर्तध्यान, २) रौद्रध्यान, ३) धर्मध्यान और ४) शुक्लध्यान।

आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं। इसलिए वे हेय (त्याज्य) हैं, किंतु धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं, इसलिए वे उपादेय हैं।[१७५]

जो कोई सिद्ध हुए हैं, सिद्ध हो रहे हैं और सिद्ध होगें उनकी सिद्धि का कारण शुभ ध्यान ही है।[१७६] आचार्य हेमचंद्र ने कहा है- 'आपने विषय (ध्येय) में मन का एकाग्र होना ध्यान है।[१७७] आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है-

चित्तसेग्गया हवइ झाणं।

चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना अर्थात् एकाग्र करना 'ध्यान' है।[१७८] आचार्य सिद्धसेन ने ध्यान की व्याख्या इस प्रकार की है- शुभ और पवित्र आलंबन (अवयव) पर मन को एकाग्र करना 'ध्यान' है।[१७९] आचार्यों ने ध्यान के दो भेद किये हैं-

१) शुभ ध्यान, २) अशुभ ध्यान।

जिस प्रकार गाय का दूध और 'थूहर' (एक विषैली वनस्पति) का दूध, दोनों दूध ही हैं। और उन्हें दूध भी कहा जाता है, परंतु दोनों में बहुत अधिक भेद है, एक अमृत है तो दूसरा विष है। गाय का अमृतमय दूध मनुष्य को शक्ति प्रदान करता है, लेकिन थूहर विषमय दूध मनुष्य को मार डालता है इसी तरह दूसरा ध्यान- ध्यान में भी अंतर है। एक शुभ ध्यान है, तो दूसरा अशुभ ध्यान। शुभ ध्यान मोक्ष का हेतु है, तो अशुभ ध्यान नरक का हेतु है। चित्तरूपी नदी की दो धाराएँ हैं-

चितनाम् नदी 'उभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय पापाय च।

अर्थात् चित्तरूपी नदी दोनों ओर से बहती है, कभी कल्याण के मार्ग से कभी पाप के मार्ग से। चित्त की इस उभयमुखी गति के कारण ध्यान के दो भेद किये गये हैं। शुभ- प्रशस्त ध्यान और अशुभ- अप्रशस्त ध्यान। शुभ ध्यान दो प्रकार का है और अशुभ ध्यान भी दो प्रकार का है। इस प्रकार ध्यान के कुल चार प्रकार हैं। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।[१८०] ठाणांगसूत्र में भी चार ध्यान का वर्णन आया है।[१८१]

बाह्य और आभ्यंतर तपों का समन्वय

बाह्य और अभ्यंतर तप के भेदों और उपभेदों का विवेचन किया है। दोनों का समान स्थान है, कारण यह है कि आत्मशुद्धि के लिए जिस प्रकार उपवास स्वादवर्जन तथा कष्ट सहिष्णुता की जरुरत है, उसी प्रकार विनय, सेवा, स्वाध्याय और ध्यान की भी साधना आवश्यक है। बाह्य और अभ्यंतर तप का अस्तित्व एक दूसरे पर आधारित है, साथ ही एक दूसरे का पूरक है। बाह्य तप से अभ्यंतर तप पुष्ट बनता है, और अभ्यंतर तप से अनशन ऊणोदरी बाह्य तपों की साधना सहजता से होती है। तप रूपी रथ के बाह्य और अभ्यंतर ये दो पहिये हैं। इन दो पहियों पर ही रथ आधारित है। रथ कभी एक पहिये से नहीं चल सकता उसके लिए दो पहिये चाहिए। बाह्य तप को यदि अभ्यंतर तप का सहयोग न मिले, तो वह सफल नहीं हो सकता।

बाह्य तप क्रिया योग का प्रतीक है तो अभ्यंतर तप ज्ञान योग का। ज्ञान और क्रिया इन दोनों के समन्वय से ही जीवन सफल होता है।

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।

इस प्रकार जैन धर्म में ज्ञान और क्रिया का समान महत्त्व है। ज्ञान के बिना क्रिया अंधी है। और क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यंतर इन दोनों तपों के समन्वय से ही मोक्ष प्राप्ति होती है।

तप के भेद[१८२]

बाह्य तप (छः प्रकार)	अभ्यंतर तप (छः प्रकार)
१) अनशन,	१) प्रायश्चित,
२) अवमौदर्य,	२) विनय,
३) वृत्तिपरिसंख्यान,	३) वैयावृत्य,
४) रसपरित्याग,	४) स्वाध्याय,
५) विविक्तशय्यासन,	५) व्युत्सर्ग,
६) कायक्लेश	६) ध्यान

ध्यान के भेद

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान।

तप का महत्त्व

'तप' चिंतामणी रत्न के समान चिंताओं को दूर करनेवाला है। दुःखरूपी अंधकार हटाने के लिए तप साक्षात् सूर्य के समान है। कर्मरूपी पर्वतों का नाश करने के लिए यह वज्र के समान उपयोगी है। इसमें समस्त प्रकार की अर्थसिद्धि समाविष्ट है।

कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने का अमोघ साधन तप है। तप संसाररूपी समुद्र को पार कराता है, इसलिए शुद्ध भावना से तप आराधना करनी चाहिए। तप का तेज सूर्य से ज्यादा प्रखर है। मुक्ति और अध्यात्म के लिए सभी धर्मों में तप को महत्त्व दिया है।

जैन दर्शन का तप साधना का मार्ग हठयोग का मार्ग नहीं है। शरीर और मन पर किसी भी प्रकार का बलात्कार यहाँ दिखाई नहीं देता। मन की प्रसन्नता के उपरांत ही शरीर के द्वारा तप हो सकता है। जैन-धर्म की तप-साधना में एक विशेषता यह भी है कि दुर्बल से दुर्बल साथ ही महान् से महान् शक्तिशाली पुरुष भी अपनी शक्ति के अनुसार इस तपोमार्ग की आराधना कर सकता है। छोटे से छोटा व्रत तप की कोटि में आता है। ऊनोदरी तो रोगी, भोगी, योगी कोई भी कर सकता है। इस प्रकार तप की सरल साधना भी इसमें बताई गई है। धीरे-धीरे शरीर और मन दृढ होने पर कठोर, दीर्घ उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग जैसी महान साधना द्वारा तप के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।

वास्तव में तप अध्यात्म साधना का प्राण है। भारतीय धर्मों में और विशेष रूप से जैन धर्म में तप के विविध भेदों पर संपूर्ण विचार, चिंतन और मनन किया गया है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति तपोमय होनी चाहिए। ऐसी जैनधर्म की जीवनदृष्टि है। तप जीवन की ऊर्जा है। सृष्टि का मूल चक्र है। तप ही जीवन है। तप दमन नहीं शमन है। निग्रह नहीं अभिग्रह है। केवल भोजन निरोध नहीं वासना निरोध भी है। तप जीवन को सौम्य, स्वच्छ, सात्विक और सर्वांगपूर्ण बनाने की दिव्य साधना है। यह एक ऐसी साधना है। जिससे आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त होती है, और अंत में साधक जन्म, जरा एवं मृत्यु के चक्र से विमुक्त होकर परमात्मा पद तक पहुँचता है। तप जल के बिना होनेवाला अंतरंग स्नान है। यह जीवन के विकारों का संपूर्ण मल धोकर स्वच्छता लाता है। इस प्रकार जैनधर्म के तप के महत्त्व को समझ लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है।

बंध

दूध में जैसे जल, धातु में जैसे मृतिका, पुष्प में जैसे सुगंध, तिल में जैसे तेल, लौहे के गोले में जैसे अग्नी, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों में कर्मपुद्गल का समावेश होता है। यही 'बंध' है। दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बंध कहते हैं। जीव कषाययुक्त होकर कर्म योग्य ऐसे पुद्गल ग्रहण करता है यही बंध है, इसका अर्थ यह है कि कर्मयोग्य पुद्गलों का और जीव का अग्नि और लोहपिण्ड के समान जो संबंध है, वही बंध है।[१८३] तत्त्वार्थसार में भी बंध के विषय में यही कहा है।[१८४]

जब तक आस्त्रवों का द्वार खुला रहता है, तब तक बंध होता ही रहेगा। जहाँ जहाँ आस्त्रव है, वहाँ-वहाँ बंध है ही। आगम शास्त्र में अन्य पदार्थों के समान बंध को भी सत्, तत्त्व, तथ्य आदि संज्ञाओं से संबोधित किया गया है। कहा है कि ऐसा मत समझिए कि बंध और मोक्ष नहीं है, परंतु ऐसा समझिए कि बंध और मोक्ष है।[१८५]

बंध की व्याख्याएँ

जिससे कर्म बाँधा जाता है, उसे बंध कहते हैं। जो बँधता है या जिसके द्वारा बाँधा जाता है अथवा जो बंधनरूप है, वह बंध है। इष्ट स्थान अर्थात् मुक्ति पाने में जो बाधक कारण है उसे बंध कहते हैं। कर्म-प्रदेशों का आत्म प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होना बंध है। आत्म द्रव्य के साथ संयोग और समवाय संबंध होता है, उसे ही बंध कहते हैं।[१८६]

वस्तुतः जीव और कर्म के मिश्रण को ही बंध कहते हैं, जीव अपनी प्रवृत्तियों से कर्मयोग्य पुद्गल को ग्रहण करता है। ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों का जीव-प्रदेशों के साथ संयोग 'बंध' है।[१८७] नवपदार्थ में भी यही बात कही है।[१८८]

बंध का स्वरूप

आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका में कहा है कि, आरंभ और कषाय आत्मा के परिग्रह हैं। मिथ्यात्व और अज्ञान आत्मा के बंधन हैं। जब तक इनका अस्तित्व रहेगा, तब तक आत्मा बंधन से मुक्त नहीं होगी। पूर्वबद्ध कर्म ठीक समय पर फल देकर अवश्य ही अलग होंगे, परंतु उससे नए कर्म का बंध होता रहेगा और बंध की परंपरा जारी रहेगी। इसलिए बंध का स्वरूप और उसके कारणों का ज्ञान कर लेना आवश्यक है। उससे ही आत्मा बंधन का त्याग कर मुक्त हो सकेगी।

वस्तुतः बंध भी आत्मा की पर्याय है और मोक्ष भी आत्मा की पर्याय है, परंतु दोनों पर्यायों में बहुत बडा अंतर है। मोक्ष यह आत्मा की विशुद्ध पर्याय है तो बंध अशुद्ध पर्याय है। जब तक मोह और अज्ञान रहेगा, राग-द्वेष और मिथ्यात्व रहेंगे, तब तक बंध की पर्याय या अशुद्ध पर्याय रहेगी।

जब स्व-स्वरूप में स्थित होना ही बंधन से मुक्त होना है और परभाव में भौतिक वस्तुओं में या पर पदार्थों में रमना यही बंधन है।[१८९] जब तक बंधन का स्वरूप समझा नहीं जायेगा, तब तक मोक्ष का स्वरूप भी समझा नहीं जाएगा, बंधन का स्वरूप समझने के बाद ही उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया जा सकेगा।[१९०] बंध यह आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा कर्म पुद्गल आत्मप्रदेशों में आते हैं। निर्जरा द्वारा कर्म पुद्गल आत्मप्रदेशों से बाहर निकलते हैं। कर्म परमाणुओं का आत्मप्रदेश में आना अर्थात् आस्रव और उनका अलग होना अर्थात् निर्जरा तथा उन दोनों के बीच की स्थिति (अवस्था) को बंध कहते हैं।[१९१]

आगमों में बंध के कारण याने बंध हेतु दो प्रकार के बताये गये हैं- राग और द्वेष। यह कर्म के बीज हैं। जो कोई पाप कर्म हैं वे राग और द्वेष से ही होते हैं।[१९२] टीकाकार ने राग को माया और लोभ कहा है और द्वेष को क्रोध और मान कहा है। आगम में यह भी कहा है कि जीव इन चार कषायों के द्वारा वर्तमान में आठ कर्मों को बाँधता है, भूतकाल में उसने आठ कर्म बाँधे हैं और भविष्यकाल में वह आठ कर्म बाँधेगा।[१९३]

एक बार गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा - 'जीव द्वारा कर्म कैसे बाँधा जाता है?' भगवान ने उत्तर दिया- 'गौतम! जीव दो स्थानों से कर्मबंध करता है, राग से और द्वेष से।[१९४] दूसरा मत ऐसा है कि योग प्रकृतिबंध का और प्रदेशबंध का हेतु है और कषाय स्थितिबंध और अनुभागबंध का हेतु है। इस प्रकार योग और कषाय ये दो कर्मबंध के हेतु हैं।[१९५]

तीसरा मत ऐसा है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बंध हेतु हैं। बंध हेतुओं में प्रमाद का उल्लेख नहीं है। आगम में प्रमाद को भी बंध हेतु कहा है।

बंध के दो भेद : द्रव्यबंध और भावबंध

१) द्रव्यबंध

कर्मपुद्गल का (कर्मसमूह) आत्मप्रदेशों के साथ जो संबंध बनता है, उसे 'द्रव्यबंध' कहते हैं। 'द्रव्यबंध' में आत्मा और कर्म पुद्गलों का संयोग होता है परंतु ये दो द्रव्य एक नहीं होते, उनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है।

२) भावबंध

राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्मों का बंध होता है। उसे भावबंध कहते हैं, अर्थात् जिस चैतन्य परिणामों से कर्मबाँधे जाते हैं वह भावबंध है। बेडियों का (बाह्य) बंधन द्रव्यबंध है और राग-द्वेष आदि विभावों का बंधन भावबंध है।[१९६]

जिस प्रकार तिल और तेल एक रूप होते हैं, उसी प्रकार जीव और कर्म एक रूप होते हैं। जिस प्रकार दूध में घी अनुस्यूत होता है, उसी प्रकार बंध में जीव और कर्म परस्पर अनुस्यूत होते हैं। जिस प्रकार धातु और अग्नि में तादात्म्य हो जाता है, उसी प्रकार बंध में जीव और कर्म में तादात्म्य हो जाता है, जीव और कर्म का पारस्परिक बंध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है।[१९७]

'राग' भाव अनुकूल पदार्थ को अपनी तरफ खींचता है और द्वेषभाव प्रतिकूल पदार्थ को दूर रखता है, परंतु ये दोनों दशाएँ आत्मा की विभाव दशाएँ हैं, स्वभाव दशाएँ नहीं। स्वभाव दशा में पर-पदार्थ के प्रति स्नेहभाव या द्वेषभाव नहीं होता, राग और द्वेष आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं है, इस प्रकार आत्मा में राग, द्वेष, मोह आदि विभाव दशा के सूचक हैं, यही बंध हेतु हैं। कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ जो बंध होता है, वह द्रव्यबंध है। रागद्वेष आदि भावबंध के समाप्त होने पर द्रव्यबंध अपने आप नष्ट हो जाता है।

राग, द्वेष, मोह और कषाय आदि विकारी भावों से कर्म पुद्गलों का बंध होता है, उस विभाव दशा (विकृत भावदशा) को भावबंध कहते हैं। उस विभाव दशा के कारण कर्मपुद्गलों के आत्मा के साथ होने वाले संबंध को द्रव्य बंध कहते हैं।[१९८]

बंध के चार भेद

कर्म पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्मरूप परिणमन अर्थात् रूपांतर को प्राप्त होता है। उसी समय उनमें चार स्थितियाँ निर्मित होती हैं। ये स्थितियाँ ही बंध के भेद हैं, जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाये गये घास आदि का जब दूध में रूपांतर होता है, तब उसमें

मधुरता के स्वभाव का निर्माण होता है। वह स्वभाव कुछ निश्चित काल तक उसी रूप में टिकेगा, ऐसी काल मर्यादा भी निश्चित होती है। इस मधुरता के तीव्रता, मंदता आदि के विशेष गुण भी होते हैं और इस दूध का पौद्गलिक परिमाण भी होता है।

इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर, तथा उसके आत्मप्रदेश में संश्लेषण को प्राप्त होने पर कर्मपुद्गलों की भी चार स्थितियाँ होती हैं। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध।[१९९] षड्दर्शन-समुच्चय[२००] तत्त्वार्थसार[२०१] और तत्त्वार्थसूत्र[२०२] में भी यही बात कही है।

प्रकृतिबंध

प्रकृति अर्थात् स्वभाव '**प्रकृतिः स्वभावः प्रोक्तः। पयडी एत्थ सहावो।**

जिस प्रकार नीम का स्वभाव कडवापन और गुड का स्वभाव मीठापन होता है, उसी प्रकार कर्म में भी आठ प्रकार के स्वभाव होते हैं, इन्हें प्रकृतिबंध कहते हैं। आठ प्रकार के कर्म इस प्रकार हैं।

१) ज्ञानावरणीय, २) दर्शनावरणीय, ३) वेदनीय, ४) मोहनीय,
५) आयुष्य, ६) नाम, ७) गोत्र, ८) अंतराय[२०३]

ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को आवरित कर देना है। दर्शनावरण का स्वभाव दर्शन को (सामान्य प्रतिभासरूप शक्ति को) ढक देना है। वेदनीय का स्वभाव जीव को इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के संयोग और वियोग में सुख दुःख का वेदन या अनुभव कराने का है। मोहनीय के दो भेदों में दर्शन मोहनीय का स्वभाव तत्त्वार्थ श्रद्धान न होने देना, और चारित्र मोहनीय का स्वभाव संयमभाव में बाधक होने का और राग-द्वेष आदि उत्पन्न करने का है। आयुकर्म का स्वभाव जीव को किसी शरीर में स्थित रखने का है। नामकर्म का स्वभाव जीव के लिए अनेक प्रकार के शरीर आदि बनाने का है। गोत्र का स्वभाव ऊंच या नीच कुलों में जीव को उत्पन्न करना है। अंतराय का स्वभाव दानादि कार्यों में विघ्न उत्पन्न करना है।

कर्म में इस प्रकार का स्वभाव निर्माण होना यह प्रकृतिबंध है।[२०४] जैन सिद्धांत-दीपिका[२०५] में भी यही कहा है। जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादिरूप फल मिलता है, वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति है।[२०६] कर्म जब आत्मा द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का जो स्वभाव उत्पन्न होता है, उसे ही प्रकृतिबंध कहते हैं। प्रत्येक कर्म की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। प्रकृतिबंध कर्म के स्वभाव के अनुसार होता है। प्रकृति जैसी बाँधी जाती है, वैसी ही उदय में आती है। उदय में आनेवाला कर्म ज्ञानावरणीय आदि किस स्वभाव का होगा, यह दिखाना ही प्रकृतिबंध है।

सामान्य रूप से ग्रहण किये कर्म पुद्गल का जो स्वभाव होता है उसे ही प्रकृतिबंध कहते हैं। वैसे तो प्रकृतिबंध की अनेक व्याख्याएँ हैं, परंतु उन सब का भावार्थ एक ही है।[२०७]

स्थितिबंध

प्रत्येक प्रकृति की अवस्थिति काल द्वारा नापी जाती है। प्रत्येक प्रकृति विशिष्ट काल तक रहती और बाद में विलीन होती है। इस प्रकार स्थितिबंध कर्म प्रकृति के कालमान को निश्चित करता है। स्वभाव बनने पर उस स्वभाव की विशिष्ट समय तक रहने की जो मर्यादा होती है, उसे 'स्थितिबंध' कहते हैं।

सामान्यतया कर्म विशेष की आत्मा के साथ रहने की जो अवधि होती है, उसे स्थितिबंध कहते हैं।[२०८] ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का आत्मप्रदेशों के साथ बंध होने पर जब तक वे अपने स्वभाव को नहीं छोडते और कर्मरूप रहते हैं, उस काल मर्यादा को भी स्थितिबंध कहते हैं।[२०९]

अवस्थान काल का नाम स्थिति है। गति से विपरीत स्थिति होती है। जितने समय तक वस्तु रहती है, वह स्थिति है। जिसका जो स्वभाव है उससे न बदलना स्थिति है। जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि पशुओं के दूध का स्वभाव अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है, उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।[२१०] योग के कारण से कर्मरूप में परिणत हुए पुद्गल स्कंध का जीव में एक रूप से रहने की कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं।[२११]

ऊपर की व्याख्याएँ अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग रूप में दी हुई हैं, परंतु उन सब का भावार्थ एक ही है, वह है- कर्म की आत्मा के साथ रहने की अवधि स्थितिबंध है।

अनुभागबंध

ज्ञानावरणादि कर्म के शुभ-अशुभ रस को अनुभाग बंध कहते हैं। विपाक के समय कर्म जिस प्रकार का रस देगा, उसे अनुभागबंध कहते हैं। यह बंध प्रत्येक प्रकृति का अपना-अपना होता है। जैसा रस को जीव बाँधता है, वैसा ही उदय में आता है। वस्तुतः स्वभाव निर्मिति के साथ ही उसमें तीव्रता मंदता आदि रूपों से फलानुभाव कराने वाली विशेषता भी निर्मित होती है। उस विशेषता को ही 'अनुभागबंध' कहते हैं।[२१२] कर्म का रस शुभ है या अशुभ है, तीव्र है या मंद है, यह दिखाना 'अनुभाग-बंध' का कार्य है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र, मंद और मध्यम रूप से रसविशेष होता है। उसी प्रकार कर्म पुद्गल की तीव्र या मंद फलदान शक्ति ही 'अनुभागबंध' है।[२१३]

रस, अनुभाग, अनुभाव और फल ये समानार्थी शब्द हैं। कर्म के विपाक को 'अनुभागबंध' भी कहते हैं। विपाक दो प्रकार का होता है-

१) तीव्र परिणाम से बाँधे हुए कर्म का विपाक तीव्र होता है।

२) मंद परिणाम से बाँधे हुए कर्म का विपाक मंद होता है।

कर्म जड़ होने पर भी पथ्य और अपथ्य आहार के समान जीव को अपनी क्रिया के अनुसार फल की प्राप्ति होती है।[२१४] विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को अनुभाव कहते हैं। कर्मानुरूप ही उसका फल मिलता है। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो कषायादि परिणामजनित शुभ या अशुभ रस है, वह अनुभाव बंध है अथवा आठकर्म और आत्मप्रदेशों के परस्पर एकरूपता के कारणभूत परिणाम को अनुभाग कहते हैं अथवा शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दु:खरूप फल देने वाली शक्ति को अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रदेशबंध

प्रदेशबंध कर्म पुद्गलों का समूह है। प्रदेशबंध भी प्रकृतिबंध से होता है। प्रत्येक प्रकृति के अनंत प्रदेश होते हैं। आठकर्मों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। कर्मराशि का ग्रहण होने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में रूपांतरित होने वाली यह कर्मराशि स्वभाव के अनुसार विशिष्ट परिमाण में विभक्त होती है। यह परिमाण विभाग अर्थात् मात्रा ही प्रदेशबंध है।[२१५] जो पुद्गल स्कंध कर्मरूप से परिणत हुए हैं, उनका परमाणु रूप से परिणमन निर्धारित करना कि इतने परमाणु बाँधे गये, यह प्रदेशबंध है।[२१६] तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कहा है। दूसरे शब्दों में कर्मवर्गणा की अथवा कर्मपरमाणुओं की हीनाधिकता को प्रदेशबंध कहते हैं।[२१७] कर्म वर्गणा के पुद्गल दलिक जिस परिमाण में बँधते हैं, उस परिमाण को प्रदेश बंध कहते हैं।[२१८] अथवा कर्म और आत्मा के संश्लेष को प्रदेशबंध कहते हैं।[२१९]

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। इन असंख्य प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म वर्गणाओं का संग्रह होना 'प्रदेशबंध' है। जीव के प्रदेशों और पुद्गल के प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित होना प्रदेशबंध है।[२२०]

जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग के समान एक क्षेत्र में स्थित है। जिनकी एक, दो, तीन आदि समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति है, जो उष्ण और शीत तथा रूक्ष और स्निग्ध स्पर्श से सहित है, समस्त वर्ण और रसरहित है, सभी कर्म प्रकृतियों के योग्य हैं, पुण्यपाप के भेद से दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म हैं जो समस्त आत्मप्रदेशों में अनंतानंत प्रदेशों सहित हैं ऐसे स्कंधरूप या पुद्गल, कार्मण वर्गणाओं के परमाणु समूह को यह जीव जो अपने अधीन करता है, वह 'प्रदेशबंध' है[२२१]

चारों प्रकार के बंध को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं- कर्म के स्वभाव को 'प्रकृतिबंध' कहते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों का काल विशेष तक अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थितिबंध है। ज्ञानावरणादि कर्मरूप होने वाले पुद्गल स्कंध की परमाणु संख्या को प्रदेशबंध कहते हैं, और उनके रस की तीव्रता या मंदता अनुभागबंध है। इन चार प्रकार के बंधों में प्रकृति और प्रदेशबंध योग के निमित्त से होते हैं, तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय के निमित्त से होता है।[२२२] योग और कषाय के तर तम भावों से बंध में भी तरतमता आती है।[२२३]

ये चारों बंध सूंठ, मेंथी आदि वस्तुएँ एकत्रित करके उनसे बनाए हुए लड्डू के दृष्टांत से भी समझाये जाते हैं। ये लड्डू खाने से वात आदि विकार दूर हो जाते हैं, यह उनकी प्रकृति या स्वभाव हुआ। ये लड्डू जितने दिन टिकते हैं, उतनी उनकी कालमर्यादा है, यह स्थिति है। ये लड्डू कडवे मीठे होते हैं, यह उनका रस (स्वाद) अनुभाग हुआ। कुछ लड्डू बडे कुछ छोटे होते हैं, यह उनका परिमाण, मात्रा या प्रदेश है। लड्डू में जैसी ये चार बातें बताई हैं, उसी प्रकार कर्मों के बंध में भी ये चार बातें होती हैं। इसे ही चार प्रकार का बंध कहते हैं। प्रकृति अर्थात् स्वभाव, स्थिति अर्थात् कर्म की काल मर्यादा, अनुभाग अर्थात् कर्म का रस या तीव्रता, मंदता, और प्रदेश अर्थात् कर्म का परिमाण।[२२४]

कर्मों से सर्वथा मुक्ति : मोक्ष

कर्मों को क्षय करने के लिए मोक्ष का स्वरूप जानना अत्यंत आवश्यक है। प्राणिमात्र का अंतिम लक्ष्य मोक्ष ही है और उसी के लिए उनके सब प्रयत्न चलते हैं; परंतु मोक्ष कैसे प्राप्त होता है इसका ज्ञान सभी को होता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए मोक्षमार्ग का विवेचन आवश्यक है। मोक्ष का अर्थ- कर्म के बंधन से मुक्ति। आत्मा का विशुद्ध स्वरूप ही मोक्ष है। इस प्रकार की विशुद्ध दशा में आत्मा कर्म संयोग से संपूर्णतः मुक्त होता है, इसलिए कहा गया है, कि जीव और कर्म का संपूर्ण वियोग ही मोक्ष है।[२२५] मोक्ष तत्त्व यह बंध तत्त्व के पूर्णतया विपरीत है, जिस प्रकार कारागृह के संदर्भ में ही स्वतंत्रता का अर्थ ध्यान में आता है, उसी प्रकार बंध के संदर्भ में भी उसके प्रतिपक्षी मोक्ष का अर्थ स्पष्ट होता है। मिथ्यादर्शन आदि बंध के कारण हैं। उनका निरोध (संवर) करने पर नए कर्मों के बंध का अभाव होकर निर्जरा के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का नष्ट होना है, तब सब प्रकार के कर्मों से हमेशा के लिए पूर्णमुक्ति प्राप्त होती है। यही मोक्ष है। बंध के कारणों का अभाव होने पर एवं निर्जरा के द्वारा कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।[२२६]

जैन धर्म में मोक्ष प्राप्ति के मुख्य दो कारण माने गये हैं- संवर और निर्जरा। संवर से आस्रव कर्म का आगमन रुक जाता है, अर्थात् नये कर्मों का बंध नहीं होता तथा निर्जरा से

पूर्वबद्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मों के बंधन से मुक्त होना यही मोक्ष है।[२२७] आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को ही मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण या परमशांति कहते हैं। अतः आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही मोक्ष है। बंध का अभाव और घाति कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होने पर और शेष सभी कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।[२२८] बंध का वियोग ही मोक्ष है।[२२९] दूसरे शब्दों में कर्मों का अभाव ही मोक्ष है।[२३०] शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थिर होने की अवस्था ही मोक्ष की अवस्था है, परंतु संसार की स्थिति इससे भिन्न है। जीव जब तक बाह्य पदार्थों की आसक्ति का त्याग नहीं करता है, तब तक आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं कर सकती अर्थात् आत्मा बंधन से मुक्त नहीं हो सकती।[२३१]

जैन दर्शन आत्मारूपी दीपक के बुझने को मोक्ष नहीं मानता, वरन् आत्मा में जो राग-द्वेष के विकार आते हैं, उन्हें दूर करके शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करना ही मोक्ष है। ऐसा मानता है, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा की ज्ञानज्योति प्रज्ज्वलित रहती है। जैन दर्शन में विशेष करके मोक्ष अथवा मुक्ति शब्द का प्रयोग दिखाई देता है और उसका अर्थ कर्मबंधन से छूटना या मुक्त होना है। अनादिकाल से आत्मा जिस कर्मबंधन से बद्ध है उसे छोडकर संपूर्णतया स्वतंत्र होना ही मोक्ष है। राग-द्वेष से मुक्त होना ही संसार के कर्मबंधन से मुक्त होना है, इसी का अर्थ मोक्ष और सिद्धत्व की प्राप्ति है। यह आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था है।

मोक्ष का सुख शाश्वत है। उसके सुखों का कभी अंत नहीं होता। देवों के सुख अगणित हैं, परंतु देवों का त्रैकालिक सुख भी एक सिद्ध आत्मा के सुख के अनंतवे भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता।[२३२]

मोक्ष का स्वरूप

जीव मात्र का परम और चरम लक्ष्य है मोक्ष प्राप्त करना। जिसने सारे कर्मों का नाश करके अपना साध्य प्राप्त कर लिया, उसने पूर्ण सुख प्राप्त कर लिया है। कर्म बंधन से मुक्ति प्राप्त होने पर जन्म-मरणरूपी दुःख के चक्र की गति रुक जाती और सच्चिदानंद स्वरूप की प्राप्ति होती है।

मोक्ष में आत्मा की वैभाविक दशा समाप्त हो जाती है। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन हो जाता है, अज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, अचारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है, आत्मा निर्मल और निश्चल हो जाती है, शांत एवं गंभीर सागर के समान चेतना निर्विकल्प हो जाती है। मोक्ष दशा में आत्मा का अभाव नहीं होता और वह अचेतन भी नहीं रहता। आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है। उसके अभाव और नाश की कल्पना करना मिथ्यात्व है। कितना भी परिवर्तन हुआ हो तो भी आत्मद्रव्य का नाश नहीं हो सकता। कर्मों से मुक्ति राग-द्वेष से संपूर्ण क्षय

होने पर होती है। वस्तुतः बंध के कारणों का और पूर्व संचित कर्मों का पूर्णरूप से क्षय होना ही मोक्ष है। इस तात्विक भूमिका में आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में चिरकाल के लिए स्थिर होना ही मोक्ष या मुक्ति है।[२३३]

मनुष्य-तिर्यंच, छोटा-बडा, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष आदि भेद कर्मों के कारण होते हैं। जब कर्मों का संपूर्ण रूप से क्षय हो जाता है, तब ये भेद नहीं रहते, फिर भी जैन दर्शन में मुक्त जीव के भेद की जो कल्पना की गई है, वह लोक व्यवहार की दृष्टि से की गई है। सिद्धों के १५ भेद मुक्त होने की पूर्व स्थिति के सूचक हैं। पूर्वावस्था को ध्यान में रखकर ही ये भेद बताये गये हैं। वस्तुतः मुक्त जीवों में छोटा बडा आदि किसी भी प्रकार का भेद नहीं है।[२३४]

मुक्त जीव आध्यात्मिक समता और समानता के साम्राज्य में रमते हैं। मोक्ष या मुक्ति यह कोई स्थान विशेष नहीं है। आत्मा के शुद्ध, चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। कर्म से मुक्त होने पर अर्थात् आत्मा के सारे बंधन नष्ट हो जाने पर मुक्त आत्मा लोकाग्र भाग पर स्थित होती है। इस लोकाग्र को व्यवहार भाषा में सिद्धशिला कहते हैं।

जीव एक द्रव्य है और यह द्रव्य 'लोक' के ऊर्ध्व, मध्य और अधोभाग में जन्म मरण करता रहता है। जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से मुक्त अवस्था में लोकाग्र पर स्वयं पहुँच जाता है। दीपक की ज्योति की प्रवृत्ति ऊपर की ओर यानी ऊर्ध्वगामी है। कर्म के कारण उसमें जडता आती है, परंतु कर्म मुक्त होते ही स्वाभाविक रूप से आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है।[२३५]

जब तक कर्म पूर्णतः नष्ट नहीं होते तब तक आत्मा का स्वभाव शुद्ध नहीं होता। जिस प्रकार बादल दूर होते ही सूर्य पुनः अपने प्रकाश से चमकने लगता है उसी प्रकार आत्मा से कर्म दूर होते ही आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से पुनः चमकने लगती है, परंतु यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि सूर्य पर फिर कभी बादल आ सकते हैं, परंतु आत्मा एक बार कर्म मुक्त होने पर वह फिर कभी कर्म युक्त नहीं हो सकती।

मोक्ष प्राप्ति के उपाय

आगम में मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय बताये गए हैं- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। ज्ञान से तत्त्व का आकलन होता है, दर्शन से तत्त्व पर श्रद्धा होती है। चारित्र से आने वाले कर्मों को रोका जाता है, और तप के द्वारा बंधे हुए कर्मों को रोका जाता है, और कर्मों का क्षय होता है। इन चार उपायों से कोई भी जीव मोक्ष प्राप्ति कर सकता है।[२३६] इस साधना के लिए जाति, कुल, वेष आदि कोई भी बाधक नहीं है। वस्तुतः जिसने कर्मरूपी बंधन को तोडकर आत्मगुण को प्रकट किया है। वही मोक्ष का सच्चा अधिकारी है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय बताये हैं।[२३७]

मोक्ष के लक्षण

जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म) एवं तज्जन्य विकारों (राग, द्वेष, मोह) और शरीर को नष्ट कर देता है। तब उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुण प्रकट हो जाते हैं और यह अव्याबाध, सुखरूप सर्वथा विलक्षण स्वरूप को प्राप्त करती है, इसे ही मोक्ष कहते हैं। जिस प्रकार बंधन में पडे प्राणी की बेडियाँ खोलने पर वह स्वतंत्र होकर, यथेच्छ गमन कर सुखी होता है। उसी प्रकार कर्म बंधन का वियोग होने पर आत्मा स्वाधीन होकर अनंत ज्ञान दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करती है।[२३८] आत्मस्वभाव की घातक मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के संचय से छुटकारा प्राप्त कर लेना, यही मोक्ष है और यह अनिर्वचनीय है। आत्मा और कर्म को अलग अलग करने को मोक्ष कहते हैं।[२३९] बंध के कारणों का अभाव और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना यही मोक्ष है।[२४०]

मोक्ष का विवेचन

जैन दर्शन ईश्वरवादी नहीं, आत्मवादी दर्शन है। आत्मा ही परमात्मा बन सकता है। यह बात जैन धर्म में विशेष रूप से कही गई है। जैन धर्म का शाश्वत सिद्धांत है कि सुख ही आत्मा का स्वभाव है। शुभ कर्म से सुख और अशुभ कर्म से दुःख प्राप्त होता है।

सिद्धात्मा के सारे गुणों को एकत्रित करके उसका अनंतवाँ हिस्सा बनाया जाय तो भी इस लोक और अलोक में फैले हुए अनंत आकाश में नहीं समा सकेंगें। योगशास्त्र में भी कहा है कि स्वर्गलोक, मृत्यलोक एवं पाताल लोक में सुरेंद्र, नरेंद्र और असुरेंद्र को जो सुख मिलता है, वह सब सुख मिलकर भी मोक्ष सुख के अनंतवें भाग की बराबरी नहीं कर सकता।

मोक्ष का सुख स्वाभाविक है। इन्द्रिय की अपेक्षा न रखने से वह अतीन्द्रिय है, नित्य है, इसलिए मोक्ष को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ में परम पुरुषार्थ या चतुर्वर्ग-शिरोमणी कहा गया है।[२४१] जैन दर्शन का प्रमुख उद्देश्य यह है कि, आत्मा दुःखों से मुक्त होकर अनंत सुख की ओर जाए। जीव और पुद्गल इन दोनों का संबंध अनंतकाल से चल रहा है। पुद्गल के बाह्य संयोग से ही जीव विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। जब तक जीव और पुद्गल इन दोनों का संबंध नष्ट नहीं होता, तब तक आध्यात्मिक सुख संभव नहीं होगा। मोक्ष के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही श्रेष्ठ मार्ग बताया है।[२४२] अहिंसा और अनेकांत ये जैन दर्शन के मुख्य सिद्धांत हैं। विचारों में अनेकांत और व्यवहार में अहिंसा आने पर जीवन सुखी और शांत होता है। आत्मवाद, कर्मवाद और अनेकांतवाद, सप्तभंगी आदि जैन दर्शन के आधारभूत सिद्धांत हैं।

विभिन्न दर्शनों में मोक्ष

अलग-अलग दर्शनों में मोक्ष के लिए निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति, निवृत्ति, कैवल्य आदि शब्दों का उपयोग हुआ है। इसका मुख्य अर्थ शांति या दु:ख निवृत्ति है। चार्वाक के अलावा प्राय: भारतीय दर्शनों में अविद्या या अज्ञान के संपूर्ण नाश को मोक्ष कहा है। सांख्य पुरुष विवेक को मोक्ष कहते हैं। अद्वैत वेदांत आनंद प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं।

सांख्य दर्शन

सांख्यदर्शन के अनुसार मोक्ष का साधन ज्ञान है। और अविद्या या अज्ञान का विनाश ही मोक्ष है। धर्माचरण से ब्रह्म, सौम्य आदि उच्च देव योनियों में जन्म मिलता है। अधर्म के आचारण से पशु आदि नीच योनियों में जन्म मिलता है। प्रकृति और पुरुष में विवेक ज्ञान के कारण मोक्ष प्राप्त होता है। उसी तरह प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञान से बंध होता है। जबतक पुरुष को बुद्धि अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द, अहंकारजन्य पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, पाँच कर्म इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर आदि अनात्मा पदार्थों में मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ, ऐसा भ्रम होता है, और वह शरीर को आत्मा मानता है, तब तक उसे इस विपर्यय ज्ञान से बंध होता है। लेकिन जब उसे पुरुष के अलावा इन सब वस्तुओं की प्रकृतिकृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होता है और उसे मैं नहीं, यह मेरा नहीं, ऐसा विवेक जागृत होता है तब ऐसे सम्यग्ज्ञान से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध दु:खों की प्राप्ति का कारण अविद्या है। अविद्या का विनाश विवेक से होता है। उपरोक्त त्रिविध दु:खों की आत्यन्तिक हानि ही मोक्ष है। सांख्यकारिका में दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही कैवल्य कहा है। कैवल्य की प्राप्ति तत्त्वज्ञान होने पर ही संभव होती है। कैवल्यप्राप्ति के बाद सारे संशय दूर हो जाते हैं और हृदय की सारी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य यह है कि सांख्य दर्शन में विपर्यय को बंध और विवेकज्ञान को मोक्ष माना गया है।[२४३] अमर-भारती[२४४] में भी यही बात कही है।

मीमांसा दर्शन

इस दर्शन के अनुसार आत्मा से भिन्न विजातीय वस्तुओं के साथ संबंध होना यह बंध है। मीमांसादर्शन तीन बंधन मानता है। १) भोक्ता शरीर, २) भोग के साधन और ३) भोगविषय। आत्मा अनादि काल से इन तीन बंधनों में पडी है और अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर रही है। इन बंधके कारण आत्मा सुख और दु:ख भोगती है। इसे ही भावबंध कहा

गया है। भव बंध के कारण ही मनुष्य जन्ममरण के चक्र में घूमता है। इसलिए मानव ऐसे सांसारिक बंधनों से मुक्ति की इच्छा करता है। इनसे मुक्ति प्राप्त होना यही मोक्ष है। शास्त्रदीपिका में कहा है-

त्रिविधस्यापि बंधनस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।[२४५]

न्याय-वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष माना है तथापि उन्होंने शरीर विच्छेद को मोक्ष नहीं माना है। उनके मत में भी तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस दर्शन में अष्टांगयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के अनुष्ठान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति मानी जाती है। अष्टांगयोग द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है और आत्म साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है।

आत्म साक्षात्कारो मोक्ष हेतुः।[२४६]

जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है उसमें इच्छा द्वेष आदि भाव नहीं रहते। वे न रहने से धर्म-अधर्म नहीं होता, परिणामतः शरीर और मन का संयोग नहीं होता, जन्म मरण नहीं होता और संचित कर्मों का निरोध होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जिस प्रकार दीपक बुझने पर अंधेरा हो जाता है, उसी प्रकार धर्म-अधर्म के बंधन नष्ट होने पर जन्म मरण का संसारचक्र नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि विपर्यय यह बंध का कारण है। और तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण है तत्त्वज्ञान से भ्रम का निराश होने पर जन्म-मरण और दुःखों का नष्ट हो जाना इसे ही मोक्ष कहते हैं। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को ही नैयायिक मोक्ष कहते हैं।

वैशेषिक सूत्र में कणादऋषी ने कहा है कि धर्म ऐसा पदार्थ है कि उससे सांसारिक उत्थान और पारमार्थिक निःश्रेयस ये दोनों प्राप्त होते हैं।[२४७]

बौद्धदर्शन

बौद्ध दर्शन में निर्वाण के संबंध में दुःख निरोध की व्याख्या बतायी है। बौद्ध अविद्या को बंध और विद्या को मोक्ष मानते हैं। बौद्ध मत के अनुसार निर्वाण या मोक्ष जीवनकाल में ही प्राप्त हो सकता है। इसे जीवन-मुक्त कहते हैं, जीवन-मुक्त अवस्था में व्यक्ति राग-द्वेष आदि पर विजय प्राप्त कर अपने कर्मबंध का विनाश करने में समर्थ बनता है। जिस प्रकार बीज जल जाने पर अंकुर का निर्माण नहीं होता, उसी प्रकार कर्माशक्ति के अभाव में पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती।

बौद्ध दर्शन में कहा है कि दीपक बुझने पर उसकी ज्योति जमीन की ओर नहीं जाती और आकाश की ओर भी नहीं जाती, दिशा और विदिशा में भी नहीं फैलती, तेल समाप्त

होने पर ज्योति शांत होती है, उसी प्रकार जीव जब निर्वाण प्राप्त करता है, तब वह भी पृथ्वी, आकाश या किसी भी दिशा की ओर नहीं जाता, किन्तु क्लेश क्षय होने से शांत हो जाता है।

बौद्ध मत के अनुसार अर्हत अनासक्त बनकर कर्म करते रहते हैं, इसलिए वे कर्म बंधन में नहीं फसते। भगवद्गीता में भी कहा है-

मा ते संगोऽसक्तस्त्यकर्मणि।

इस वाक्य में भी यही कहा है। बौद्ध मतानुसार मुक्तपुरुष दो प्रकार के हैं- १) जीवनमुक्त जीवन को धारण करते हैं, २) जिनका सांसारिक जीवन समाप्त हो गया है और जिन्होंने षडायतन शरीर का परित्याग कर दिया है।[२४८] दर्शन-दिग्दर्शन में भी यही बात कहीं है।[२४९]

शांकर वेदांत दर्शन

इस दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म का तादात्म्य ही मुक्ति है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को जीवनमुक्त कहते हैं। जीवन-मुक्त पुरुष का शरीर नष्ट होने पर उसे विदेहमुक्त कहते हैं। विदेहमुक्त को परममुक्त भी कहते हैं। विदेहमुक्ति या परममुक्ति होने पर व्यक्ति की जन्ममरणरूप सांसारिक बंधन से आत्यधिक निवृत्ति हो जाती है।[२५०]

जब योगी दीपक के समान (प्रकाशस्वरूप) आत्मभाव के योग से ब्रह्मतत्त्व को अच्छी तरह से प्रत्यक्ष देखता है, तब वह उस अजन्मा, निश्चल सब तत्त्वों से विशुद्ध, परमदेव परमात्मा को जानकर सब बंधनों से चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है।[२५१]

जैन दर्शन में मोक्ष

जैनाचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय में मोक्ष का वर्णन किया है। आत्मा अनादिकाल से कर्म के कारण परतंत्र है। आते हुए कर्मों को रोकना तथा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करने से संपूर्ण कर्मों से जो आत्यन्तिक मुक्ति होती है उसे ही मोक्ष या निर्वाण कहा है।

साधना की चौदह भूमिकाओं में से तेरहवीं और चौदहवीं भूमिका पर पहुँचने पर जीव को मोक्ष-निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधना की इन भूमिकाओं को ही 'गुणस्थान' कहते हैं बारहवें गुणस्थान के प्रारंभ में साधक के मोह का क्षय हो जाता है, और उसके अंत में ज्ञानादि निरोधक अन्य कर्म भी क्षय हो जाते हैं। तेरहें गुणस्थान में आत्मा में विशुद्ध ज्ञान ज्योति प्रकट होती है। आत्मा की इस अवस्था का नाम सयोगी केवली है। विशुद्ध ज्ञानी होकर भी शारीरिक प्रवृत्तियों से युक्त व्यक्ति को सयोगी केवली कहा जाता है। सयोग केवली सदेहमुक्त है।

सयोगी केवली जब स्वदेह से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को रोकता है, तब वह आध्यात्मिक विकास की

अंतिम चौदहवें गुणस्थान तक पहुँचता है। इस गुणस्थान को अयोगी केवली कहा जाता है। इसमें आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत के समान निष्कंप स्थिति प्राप्त कर, अंत में देह त्यागपूर्वक सिद्धावस्था को पहुँचता है। इसी सिद्धावस्था का नाम परमात्मपद स्वरूप सिद्धि, मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है।

यह आत्मा की सर्वांगीण पूर्णता, पूर्ण कृतकृत्यता और परम पुरुषार्थ की सूचक है। इस स्थिति में आत्मा की आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति होती है। उसे अनंत अव्याबाध, अलौकिक सुख प्राप्त होता है। मोक्ष या निर्वाण की अवस्था में सारे बंधन नष्ट हो जाते हैं। दैहिक, वाचिक और मानसिक सारे दोष निशेष हो जाते हैं। समग्र वासनाओं और क्लेशों की निरवशेष शांति ही निर्वाण का परम लक्ष्य है।[२५२] मोक्ष या निर्वाण श्रमण संस्कृति का अद्‌भुत और अनुपम आविष्कार है। भारतीय महर्षियों ने साधना के इस चरम बिंदु को निर्वाण या मुक्ति के रूप में अभिव्यक्त किया है।

जैन दर्शन के अनुसार लोकाग्र पर एक ऐसा ध्रुवस्थान है जहाँ जरा, मृत्यु, आधि-व्याधि और वेदना आदि कुछ नहीं है। उसके निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धपद, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध जैसे अनेक नाम हैं। ऐसा स्थान प्राप्त करने के लिए साधक साधना करते हैं।[२५३] जन्म-मरण का अंत करने वाले मुनि जिस मोक्ष स्थान को प्राप्त कर शोक चिंता से मुक्त होते हैं, ऐसा मोक्ष स्थान लोकाग्र पर स्थित है। साधना के बिना वहाँ पहुँचना अत्यंत कठिन है।[२५४]

सभी दु:खों से मुक्त होने के लिए साधक संयम और तप द्वार पूर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।[२५५] अमरभारती[२५६] में भी यही बात कही है।

द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष

मोक्ष के दो भेद बताएँ गये हैं- १) द्रव्यमोक्ष और २) भावमोक्ष। जीव जब घाती कर्मों से मुक्त होता है, तब उसे भावमोक्ष की प्राप्ति होती है। जब अघाती कर्मों को नष्ट करता है, तब उसे द्रव्यमोक्ष की प्राप्ति होती है। सामान्यत: मोक्ष एक ही प्रकार का है परंतु द्रव्य, भाव आदि की दृष्टि से अनेक प्रकार का है। भावमोक्ष, केवलज्ञान, जीवन्मुक्ति अर्हत् पद ये सारे पयार्यवाची शब्द हैं।

शुद्ध रत्नत्रय की साधना से घाती कर्मों की निवृत्ति होती है, उसे भावमोक्ष कहते हैं। वस्तुत: कषाय भावों की निवृत्ति ही भावमोक्ष है। जो जीव संवर से युक्त है और समस्त कर्मों की निर्जरा करते समय वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य कर्म की भी निर्जरा करता है और वर्तमान पर्याय का परित्याग करता है, उसे द्रव्यमोक्ष प्राप्त होता है।

कर्मों का सर्वथा क्षय द्रव्यमोक्ष है। और उन कर्मों के क्षय होने के कारण रूप जो आत्मा के परिणाम यानि संवर भाव (कर्मों को रोकना) कर्मों की अबंधकता शैलेषीभाव अर्थात् आत्मा की निश्चल अवस्था एवं शुक्लध्यान ही भावमोक्ष है। सिद्धत्व परिणति भी भावमोक्ष है।[२५७] पंचास्तिकाय[२५८] तत्त्वार्थराजवार्तिक[२५९] और नवतत्त्वप्रकरणसार्थ[२६०] में भी यही बात आयी है।

कर्मक्षय का क्रम

आठ कर्मों को क्षय किये बिना कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए अनुक्रम से कौनसे कर्मों को कैसे क्षय करना है इसका विवेचन जैन आगमों में इस प्रकार है। जीव रागद्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता है और आठ प्रकार के कर्मों को क्षय करने की प्रक्रिया प्रारंभ करता है।[२६१] सबसे पहले क्रमशः मोहनीय कर्मों की अट्ठाईस प्रकृतियों का क्षय होता है। बाद में पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म और पाँच प्रकार के अंतराय कर्म इन तीनों कर्मों की प्रकृतियों का एक ही समय में क्षय होता है। उसी समय परिपूर्ण आवरणरहित विशुद्ध और लोकालोक प्रकाशक ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है।[२६२]

केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होती है और सिर्फ वेदनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म ये चार अघाती कर्म शेष रहते हैं।[२६३] इसके बाद आयु का जब अन्तर्मुहूर्त (दो घटिका अर्थात् ४८ मिनिट से कम) जितना समय शेष रहता है, तब मन वचन काया के स्थूल व्यापार का निरोध करके केवलज्ञानी शुक्लध्यान में स्थित होते हैं, बाद में वे मन, वचन एवं काया के सूक्ष्म व्यापार और श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं। उसके बाद पाँच ह्रस्व अक्षरों का अ, आ, इ, ई, उ का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक शैलेषी अवस्था में स्थित हो जाते हैं। शेष आयुष्य कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म एवं वेदनीयकर्म एक ही समय में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाते है। और सब दुःखों का अंत करते हैं।[२६४]

मोक्ष : समीक्षा

विविध दार्शनिक ग्रंथों और शास्त्रों में निर्वाण को ही मुक्ति,, सिद्धि, परमात्मलीनता, अनंत की प्राप्ति, अहंशून्यता आदि विविध नामों से निर्देशित किया गया है। 'निर्वाण' का शब्दशः अर्थ जिसमें से वायु (वात) निकल गई है। जिस प्रकार ऑक्सीजन नामक वायु के अभाव में दीप का बुझ जाना याने दीप का निर्वाण है, उसी प्रकार आत्मा के विकारों का समाप्त हो जाना ही आत्मा का निर्वाण है। अगर दीप पर किसी ने फूँक मारी तो दीप की

ज्योति बुझ जाती है। वह कहाँ जाती है? वस्तुतः वह ज्योति विराट में से आई थी और विराट में ही विलीन हो गई।

जैन दर्शन का कहना है कि दीप का बुझ जाना, उसकी ज्योति का नष्ट होना नहीं है, परंतु उसका रूपांतर या परिणामांतर होना है। क्योंकि जो है वह नष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव का निर्वाण होना उसका अस्तित्वहीन होना नहीं है, परंतु अव्याबाध स्वभाव परिणती को प्राप्त करना है। वैदिक परिभाषा में ऐसा कहा गया है कि आत्मा का अहं, ममत्व, देह आदि सब छोडकर विराट में याने परमात्मा में मिल जाना ही उसका निर्वाण है।

जब आत्मा विराट में मिल जाती है, तब जीवन में कोई भी विकार शेष नहीं रहते। ऐसे विलीन होने को नाश नहीं कहा जा सकता, यह तो आत्मा का अपने विराट शुद्ध स्वरूप में लीन होना है।[२६५] आचारांगसूत्र में निर्वाण का अर्थ **'स्वस्वरूप में स्थित होना'** ऐसा है।[२६६] इसके लिए आत्मा का विकार आवरण और उपाधि इनसे रहित होना अत्यंत आवश्यक है। जैन दर्शन में निर्वाण का अर्थ यही किया गया है सभी विकारों से रहित होना। सब संतापों से रहित होकर सुख प्राप्त करना, सब द्वंद्वों से रहित होना, यही निर्वाण है क्योंकि जब तक आत्मा में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, माया आदि विकार हैं, तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता। निर्वाण के लिए जैन दर्शन की पहली शर्त है सब कर्मों का क्षय होना।[२६७] राग-द्वेषादि के क्षय से कर्मों का क्षय होता है। सभी कर्मों का क्षय होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होती है और परम शांति प्राप्त करती है। पुनः पुनर्जन्म नहीं होता। नाम, रूप, आकार, साथ ही शरीर जनित सुख-दुःख, राग-द्वेष, मोह आदि भी नहीं होते।[२६८]

जब शरीर हमेशा के लिए नष्ट होता है, तब शरीर के कारण होने वाले,[२६९] मैं, मेरा, राग-द्वेष आदि विकार अपने आप क्षय हो जाते हैं। जहाँ जन्म-मरण नहीं होता, वहाँ आवागमन भी नहीं होता,[२७०] इसलिए वीतराग पुरुष राग-द्वेष को समाप्त करके परमात्म पद की प्राप्ति करते हैं और निर्वाण को प्राप्त करते हैं। सिद्धगतिनामक स्थान में अपने आत्मस्वरूप में हमेशा के लिए स्थित होते हैं। वहाँ से वापिस आना नहीं होता।

वहाँ की स्थिति शिव[२७१] (निरुपद्रव) अचल, अनंत, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति की है। निरुपद्रव इसलिए कहा है कि शरीर के कारण ही सब उपद्रव होते हैं। शरीर ही वहाँ नहीं है तो उपद्रव भी नहीं, अचल अवस्था यह मौन अशांति की सूचक है। जहाँ शरीर इन्द्रियाँ, मन आदि होते हैं, वहाँ हलचल होती है, संघर्ष होता है। जहाँ ये सारे मूर्त पदार्थ नहीं हैं, वहाँ शून्य मौन भाव और अखंड शांति होगी। वहाँ किसी भी प्रकार के

विकल्प नहीं उठेंगे और आत्मा स्व-स्वरूप में पूर्णतः स्थिर होगी। इस अवस्था को जैन दर्शन में शैलेषी अवस्था कहा है।[२७२] वहाँ केवलज्ञान ही शेष रहता है।

निर्वाण होने पर आत्मा को स्वाभाविकरूप से ऊर्ध्वगमन स्थान प्राप्त होता है।[२७३] जैन शास्त्र में **सिद्धशिला** तथा गीता से 'परमधाम' मोक्ष मुक्तिस्थान आदि नामों से संबोधित किया गया है। निर्वाण यह आत्मा की पूर्ण विकसित स्थिति है, इसमें कोई शंका नहीं है। इसलिए जीवन का अंतिम ध्येय और चरमप्राप्ति निर्वाण ही है।

कर्मअंत

जिसप्रकार बीज जल जाने के बाद पौधा उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज जल जाने पर संसाररूपी पौधा उत्पन्न नहीं होता।[२७४] जिसने प्राप्त हुए इंधन को जला डाला है और जिसको नये इंधन की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसी अग्नि अंततः निर्वाण को पहुँचती है, अर्थात् बुझ जाती है, उसी प्रकार मुक्त आत्मा सब कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त करती है, मोक्ष हासिल करती है।[२७५]

कर्मों से मुक्तजीव एक क्षण में उच्चलोक के अग्रभाग पर पहुँच जाता है, जैसे तुंबिका के ऊपर आठ बार मिट्टी का लेप किया हो और उसे पानी में डाल दिया जाये तो वह नीचे चली जाती है, किंतु ज्यों-ज्यों मिट्टी का लेप हटता जाये, वह पानी के स्तर से ऊँची आ जाती है, उसी प्रकार सिद्धों की गति को समझें।[२७६]

कर्मक्षय का फल : मोक्ष

यात्री जब यात्रा के लिए निकलता है, तब अपने साथ मुख्यतः तीन वस्तुएँ लेता है- भोजन, कपडे और बिछाना। इन तीन वस्तुओं में से एक भी वस्तु की कमी होगी, तो उसकी यात्रा सुखरूप नहीं होगी, उसी प्रकार मोक्ष की यात्रा के लिए साधक को तीन बातों की आवश्यकता है, वे हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें से एक भी बात नहीं होगी, तो साधनापथ शांतिपूर्ण नहीं हो सकेगा। साधना पथ पर आरूढ मुमुक्ष को इन तीनों अलौकिक रत्नों की आवश्यकता है।

हृदय, बुद्धि और शरीर के समान साधना के क्षेत्र में भी रत्नत्रय की आवश्यकता है। अपने जीवन में जिस प्रकार हृदय, बुद्धि और शरीर इन तीनों की अपने स्थान पर आवश्यकता है, उसी प्रकार साधनामय जीवन हृदय के द्वार साध्य सम्यग्दर्शन, बुद्धि के द्वारा साध्य सम्यग्ज्ञान और शरीर के सब अंगोपांग द्वारा साध्य सम्यक्चारित्र की नितांत आवश्यकता है। एक का भी अभाव होगा तो नहीं चलेगा। अगर शरीर अस्वस्थ होगा तो बुद्धि और हृदय में गडबडी होगी और वे अच्छी तरह से काम नहीं कर सकेंगे। अगर बुद्धि में विकार

आये तो व्यवहार में पागलपन और यदि शरीर तथा हृदय निष्ठापूर्वक काम नहीं करेंगे तो भावनाएँ विकृत होगी, पुनः यदि व्यक्ति स्वार्थी और क्रूर बना, तो बुद्धि और शरीर भी अपना कार्य व्यवस्थित रूप से नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार दर्शनज्ञान और चारित्र इन तीनों का साधनामय जीवन में व्यवस्थित रूप से होना अत्यंत जरूरी है। यदि एक का अभाव होगा तो साधनापूर्ण नहीं होगी।

साधनामय जीवन में अगर केवल चारित्र ही होगा और ज्ञान दर्शन नहीं होगा तो मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। अंधा और लंगडा दोनों मनुष्य एक दूसरे के सहकार से योग्य जगह पहुँच सकेंगें। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों के संयोग से ही मोक्ष मिल सकता है। अकेला ज्ञान लंगडा है, वह चलने में असमर्थ है। अकेला चारित्र अंधा है, उसे रास्ता नहीं दिखाई देता। अकेला दर्शन भी व्यर्थ है। मोक्ष प्राप्ति में तीनों का संयोग नितांत आवश्यक है।[२७७]

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। वह अज्ञान ही रहता है। ज्ञान के बिना चारित्र जीवन में सम्यक्रूप से नहीं आ सकता। चारित्ररहित को कर्मबंधन से मुक्ति नहीं मिलती और मुक्त हुए बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान के द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय का बोध होता है। दर्शन से श्रद्धा होती है और चारित्र से तत्त्व जीवन में आते हैं।

संसार के त्रिविध तापों से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों अत्यंत आवश्यक हैं। इन तीनों के संयोग से ही मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को जानने से पहले 'सम्यक्त्व' का अर्थ जानना अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार कमलों से झील, चंद्रमा से रात, कोयल से वसंत ऋतु शोभायमान होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण सम्यक्त्व से सुशोभित होता है।

सम्यक्त्व को सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। उसका अर्थ है सच्ची श्रद्धा, यानि विवेकपूर्वक श्रद्धा, कर्तव्य-अकर्तव्य अथवा हेय, उपादेय पर विवेकपूर्वक साधना के मार्ग में दृढ विश्वास रखना। श्रद्धा प्रगट होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों की सहायता से सम्यक्चारित्र का विकास होता है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

देव के प्रति देवबुद्धि, गुरु के प्रति गुरुबुद्धि और धर्म के प्रति धर्मबुद्धि शुद्ध प्रकार से होने पर वह सम्यक्त्व होता है।[२७८] संसार में सम्यक्त्वरूपी रत्न से अधिक मूल्यवान दूसरा रत्न नहीं है। सम्यक्त्वरूपी बंधू से दूसरा बंधू नहीं। सम्यक्त्व का लाभ ही सबसे बडा लाभ

है। जो भव्यप्राणी अंतर्मुहूर्त (४८मिनिट) के लिए भी निर्मल सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। वह चिरकाल तक संसार में नहीं भटकता और अंततः उसे मोक्ष प्राप्त होता है।[२७९]

जैन धर्म में सम्यक्त्व पर बहुत बल दिया गया है। सम्यक्त्व यह आत्मा का गुण है। सम्यक्त्व यह बीज है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर नहीं फूट सकता और बाद में वृक्ष भी खडा नहीं रहता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अलावा जितनी क्रियाएँ हैं या जितना धर्म कार्य है, वह सब व्यर्थ है। सम्यक्त्व का सरल अर्थ है- विवेकदृष्टि। प्रत्येक कार्य में विवेक चाहिए। सम्यक्त्व का दूसरा अर्थ है- श्रद्धा। देव, गुरु और धर्म इन पर पूर्ण विश्वास ही **'सम्यक्त्व'** है।

सम्यक्त्व के विपरीत मिथ्यात्व है। देव, गुरु और धर्म इनमें इच्छित गुण न होने पर भी उन्हें देव, गुरु और धर्म के रूप में स्वीकार करना यह मिथ्यात्व है। जिस मनुष्य में सम्यक्त्व होता है। उसका हृदय दयालु होता और परोपकार से युक्त होता है। संयत, नियमित और नियंत्रित जीवन यही श्रेष्ठ जीवन है। जो मनुष्य इच्छानुसार अनियंत्रित जीवन जीता है, इन्द्रियों की अमर्यादित वृत्तियों का स्वच्छन्द उपयोग करता है उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। वह दुःखों के भयंकर परिणामों से बच नहीं सकता। रागद्वेष, मोह यही संसार परिभ्रमण का मूल है इसलिए उनसे दूर रहकर ही अपने शाश्वत लक्ष्य 'मुक्ति' तक पहुँचा जाता है। सम्यक्त्व मुक्ति का एकमेव साधन है। परमार्थ को जानना, परमार्थ के तत्त्वदृष्टा की सेवा करना सम्यक्त्व से भ्रष्ट और कुदर्शनी (मिथ्यात्वी) इनसे दूर रहना, यही सम्यक्त्व में श्रद्धा रखना है। चारित्र सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकता, परंतु सम्यक्त्व चारित्र के बिना हो सकता है।[२८०]

सम्यग्दर्शन

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रथम तथा अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना आगमज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि सब व्यर्थ हैं। रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन अतीव महत्त्वपूर्ण है। सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और चारित्र का मूल है। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ ज्ञान और चारित्र दोनों मिथ्या हैं। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान तो होता है, परंतु जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं होता, इसलिए सम्यग्दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया है।

कोई व्यक्ति यदि अर्हत् आदि द्वारा उपदेशित प्रवचनों पर या आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत आगमों पर श्रद्धा रखकर गुरु आज्ञा का सम्यक्दृष्टि से पालन करे तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।[२८१] जिस प्रकार नगर का द्वार प्रमुख होता है, चेहरे पर आँख प्रमुख होती है, वृक्ष में मूल प्रधान होता है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं में सम्यक्त्व का प्रमुख स्थान है।

जिनका दर्शन शुद्ध है, वही शुद्ध है और उसे ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। दर्शन विहीन आत्मा मोक्ष मंजिल तक नहीं पहुँच सकती। सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्ष को समाप्त करने के लिए एक कुल्हाडी है। सम्यग्दर्शन यह महान रत्न है, सभी जीवों का आभूषण है साथ ही मोक्षप्राप्ति में सहायक मूल है।[२८२]

जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, वह किसी भी प्रकार का पाप नहीं करता।[२८३] मानवता का सार ज्ञान है। ज्ञान का सार सम्यग्दर्शन है।[२८४] आत्मा को अज्ञानरूपी अंधकार से दूर कर आत्मभाव के आलोक में आलोकित विवेकयुक्त दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दों में तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। व्यावहारिक दृष्टि से तीर्थंकर (जिनेश्वर भगवान) की वाणी में, जिसका दृढ विश्वास है, वही सम्यग्दर्शी है।

सम्यग्दर्शन के अभाव में जो क्रियाएँ की जाती हैं, वे शरीर पर होने वाले फोडे के समान दुःखकारक और आत्महित के लिए व्यर्थ हैं। मिथ्यादृष्टि का तप केवल देह दण्ड है। मिथ्यादृष्टि का स्वाध्याय भी निष्फल है क्योंकि उनका ज्ञान कदाग्रह बन जाता है। उसका दान और शील भी निंदनीय होता है।[२८५]

ऐसा कहा जाता है कि- श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन चक्र था, इसलिए वे सारे शत्रुओं को पराजित करके तीनों खंडों के अधिपति बने। इसी प्रकार यदि आत्मरूपी कृष्ण के पास सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र होगा तो वह भी कषायरूपी शत्रुओं को पराजित करके तीनों लोक का स्वामी बन सकेगा। न्यायदर्शन ने तत्त्वज्ञान को 'सम्यग्दर्शन' कहा है। सांख्यदर्शन ने भेदज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है। योगदर्शन ने विवेक ख्याति को, बौद्ध दर्शन ने क्षणभंगुरता की और चार आर्यसत्यज्ञान को, गीता ने योग को सम्यग्दर्शन कहा है। इस पर से यह स्पष्ट होता है कि जैन संस्कृति के इस मौलिक तत्त्व को सभी विचारकों ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। सचमुच सम्यग्दर्शन आत्म उत्क्रांति का द्वार है।[२८६] जैनदर्शन मनन और मीमांसा[२८७] में भी यही बात कही है।

सम्यक्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान यह मोक्षमार्ग की दूसरी सीढी है। आत्मतत्त्व के स्वरूप का ज्ञान अथवा आत्म कल्याण के मार्ग को जान लेना 'सम्यग्ज्ञान' है। आत्मज्ञान के बिना सारी विद्वता व्यर्थ है। संसार के सारे क्लेश अज्ञान के कारण हैं। उस अज्ञान को दूर करने के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है और आत्मज्ञान प्राप्त करना ही वास्तविक मोक्ष है।[२८८]

ज्ञान यह आत्मा का निजगुण है। ज्ञान से आत्मा भिन्न नहीं है, आत्मा और ज्ञान अभिन्न है।[२८९] आत्मा में स्वभावतः अनंत ज्ञानशक्ति विद्यमान है, परंतु ज्ञानावरणीय कर्म के कारण वह पूर्ण प्रकाशित नहीं हो पाती। जैसे जैसे आवरण नष्ट होता है, वैसे वैसे ज्ञान

प्रकाश भी बढ जाता है। आत्मा की कभी भी ऐसी अवस्था नहीं होती उसमें किञ्चित भी ज्ञान न हो।[२९०]

जिस प्रकार धागेवाली सुई कहीं भी गिरने पर गुम नहीं होती, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान युक्त जीव संसार में परिभ्रमण नहीं करता।[२९१] जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है, साथ ही आत्मा विशुद्ध बनता है, उसे ही जिनशासन में 'ज्ञान' कहा है।[२९२]

जिससे जीव राग-द्वेष से विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है, जिससे मैत्रीभाव से भावित होता है, उसे ही जिनशासन में 'ज्ञान' कहते हैं।[२९३] आत्मा क्या है? कर्म क्या है? बंधन क्या है? कर्म आत्मा के साथ बद्ध क्यों होते है? आदि विषयों का यथार्थ परिज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और अथयार्थज्ञान मिथ्याज्ञान है।

ज्ञान यह तीसरी ऑख के समान है। उसके अभाव में भक्त भगवान नहीं बन सकता, जीव शिव नहीं बन सकता, आत्मा भवबंधन से मुक्त नहीं हो सकता। आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती, नर नारायण नहीं बन सकता। सुप्रसिद्ध लेखक शेक्सपियर ने कहा है कि ज्ञान के पंखों द्वारा हम स्वर्ग तक उड सकेंगें। कन्फयशियस ने ज्ञान को आनंद प्रदाता कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यग्ज्ञान ही सच्चे सुख का कारण है। जब तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक विकारों का विनाश नहीं होता और विचारों का विकास भी नहीं हो सकता।[२९४]

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन दोषों से रहित तथा नय और प्रमाण से होने वाले जीवादि पदार्थ का यथार्थ ज्ञान ही 'सम्यग्ज्ञान' है। संक्षेप में या विस्तार से तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानना, इसे ही विद्वान लोग सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[२९५]

वैदिक दार्शनिकों ने भी सम्यग्ज्ञान को महत्त्व दिया है और उसे ब्रह्मविद्या कहा है। आध्यात्मविद्या में ही सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है, वह सब में प्रमुख है।[२९६] सभी विद्याओं को दीपक के समान प्रकाश देने वाली है और परिपूर्णता प्राप्त करानेवाली है। वही सबसे उत्कृष्ट धर्म है इस आत्मविद्या के द्वारा राग-द्वेष नष्ट होते हैं और यही सर्वोत्तम राजविद्या है।

न्यायदर्शन, मिथ्याज्ञान और मोह आदि को संसार का मूल कारण मानता है। सांख्यदर्शन विपर्यय को संसार का मूल कारण मानता है। बौद्ध दर्शन, राग-द्वेषजन्य अविद्या को संसार का मूल कारण मानता है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का महत्त्व सम्यग्दर्शन जितना ही है, इसलिए ज्ञान सर्व प्रकाशक है, ऐसा कहा जाता है। प्रथम ज्ञान और उसके बाद में चारित्र का क्रम है। ऐसा जैन शास्त्र में माना गया है। जैन शास्त्रों में दया को अतीव महत्त्व है। फिर भी ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है- पढमं नाणं तओ दया। प्रथम ज्ञान और बाद में दया।[२९७]

वेदांत और सांख्य दर्शन भी मोक्ष के लिए सम्यग्ज्ञान को ही आवश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार बंधन का एकमात्र कारण मिथ्याज्ञान है। जैनाचार्य श्री विद्यानंदीजी के मतानुसार सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान होता है और सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है।[२९८]

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र यह मोक्ष मार्ग की तीसरी सीढी है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के समान ही सम्यक्चारित्र भी महत्त्वपूर्ण है। आत्मस्वरूप में रमण करना और जिनेश्वर देव के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखना और उसी प्रकार आचरण करना, यही सम्यक्चारित्र है।

जिस प्रकार सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान मोक्ष के साधन हैं, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र भी मोक्ष का साधन है। चारित्र याने स्व-स्वरूप में स्थित होना। शुभाशुभ भावों से निवृत्त होकर स्वयं के शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिर रहना, यही सम्यक्चारित्र है। ऐसा चारित्र ज्ञानी को ही होता है, अज्ञानी को नहीं होता। यदि दुःख से मुक्ति चाहिए तो सम्यक्चारित्र को स्वीकार करना चाहिए।

मोक्ष का अंतिम कारण सम्यक्चारित्र ही है। चारित्र गुण का पूर्ण विकास मुनि पद में होता है। इसलिए मुनि पद धारण करना चाहिए।[२९९] ज्ञान यह नेत्र है और चारित्र यह चरण है। रास्ता देख तो लिया, परंतु पैर अगर उस रास्ते पर नहीं चले, तो इच्छित ध्येय की प्राप्ति असंभव है। चारित्र के बिना ज्ञान काँच की आँख के समान केवल दिखाने के लिए है। सचमुच वह आँख पूर्णतया निरुपयोगी होती है। ज्ञान का फल विरक्ति है।

ज्ञानस्य फलं विरतिए।

ज्ञान प्राप्त होने पर भी अगर विषयों में आसक्ति होगी तो वह वास्तविक ज्ञान नहीं है।[३००]

सम्यक्चारित्र यह जैन साधना का प्राण है। विभाव में गए हुए आत्मा को पुनः शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित करने के लिए सत्य के परिज्ञान के साथ जागरूक भाव से सक्रिय रहना ही सम्यक् आचार की आराधना है, और यही सम्यक्चारित्र है। चारित्र एक ऐसा हीरा है कि जो किसी भी पत्थर को तराश सकता है। उत्तम व्यक्ति मितभाषी होते हैं और आचरण में दृढ होते हैं। बौद्ध साहित्य में सम्यक्चारित्र को ही सम्यक् व्यायाम कहा है।[३०१]

तत्त्व के स्वरूप को जानकर पापकर्म से दूर होना, अपनी आत्मा को निर्मल बनाना, यही सम्यक्चारित्र का असली अर्थ है।[३०२] जिस प्रकार अंधे मनुष्य के सामने लाखों, करोडों

दीपक जलाए रखना व्यर्थ है उसी प्रकार चारित्रशून्य व्यक्ति का शास्त्राध्ययन व्यर्थ है। समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र धर्म और स्वभाव-आराधना ये सारे एकार्थवाची शब्द हैं।[३०३]

सम्यक्चारित्र की आराधना करने से दर्शन, ज्ञान और तप इन तीनों की भी आराधना होती है, परंतु दर्शन आदि की आराधना से चारित्र की आराधना होती ही है, ऐसा नहीं। चारित्ररहित ज्ञान और सम्यक्त्वरहित लिंग (वेश) संयमहीन तप निरर्थक है।[३०४] जो मनुष्य चारित्रहीन है वह जीवित होकर भी मृतवत् है। सचमुच चारित्र ही जीवन है। जो चारित्र से गिर जाते हैं या च्युत हो जाते हैं उनका जीवन नष्ट हो जाता है। एक अंग्रेजी कहावत है-

If Weath is lost, nothing is lost,

If heath is lost, Something is lost.

If character is lost, Everything is lost.

मानव का धन नष्ट हुआ तो उसका कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि धन पुन: प्राप्त किया जा सकता है। अगर उसका आरोग्य नष्ट हुआ तो थोडा बहुत नष्ट हुआ है, परंतु अगर मानव ने चारित्र ही गँवा दिया, तो उसने सर्वस्व गवाँ दिया है। विश्व में असली जीवन चारित्रशील व्यक्ति ही जीते हैं। भोगी, स्वार्थी और विषयलंपट व्यक्ति का जीवन निरर्थक है। सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने के लिए शरीरबल, बुद्धिबल और मनोबल की आवश्यक है।[३०५]

जो जाना जाता है, वह ज्ञान है। जो देखा जाता है, या माना जाता है, उसे दर्शन कहा है और जो किया जाता है वह चारित्र है। ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र तैयार होता है।[३०६] जीव के ये ज्ञानादि तीनों भाव अक्षय और शाश्वत होते हैं।[३०७] सम्यक्चारित्र का आचरण करनेवाला जीव चारित्र के कारण शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। वह धीर, वीर पुरुष अक्षय सुख और मोक्ष प्राप्त करता है।

चारित्र के दो भेद

सम्यक्चारित्र के दो भेद- १) निश्चय चारित्र और २) व्यवहार चारित्र।

इनके दूसरे नाम हैं- १) वीतराग चारित्र और २) सराग चारित्र[३०८] ।

निश्चय चारित्र

निश्चयनय के अनुसार आत्मा का आत्मा में, आत्मा के लिए तन्मय होना यही निश्चयचारित्र है, वीतराग चारित्र है, ऐसे चारित्रशील योगियों को ही निर्वाण की प्राप्ति होती

है।[३०९] निश्चयदृष्टिचारित्र का वास्तविक अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है, इस चारित्र में आत्मरमणता मुख्य होती है। ऐसे चारित्र का प्रादुर्भाव सिर्फ अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। और अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होनेवाले सभी कार्य शुद्ध माने गये हैं।

चेतना में से जब राग-द्वेष, कषाय और वासनारूपी अग्नि पूर्ण शांत होती है, तब वास्तविक जीवन का निर्माण होता है। इस प्रकार का सदाचार ही मोक्ष का कारण है। जब साधक प्रत्येक क्रिया में जागृत रहता है, तब उसका आचरण बाह्य आवेग और वासनाओं से चलित नहीं होता। तभी वह निश्चयचारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। और यही चारित्र मुक्ति का कारण है।

आत्मा की विशुद्धि के कारण इस चारित्र की प्राप्ति होती है। जिसका ज्ञान प्राप्त करके जो योगी पाप तथा पुण्य दोनों से ऊपर उठ जाता है, उसे ही निर्विकल्प चारित्र प्राप्त होता है। शुद्ध उपयोग के द्वारा सिद्ध होने वाला अतीन्द्रिय, अनुपम, अनंत और अविनाशी सुख प्राप्त होता है।[३१०]

व्यवहार चारित्र

जो आत्मा सांसारिक संबंध के त्याग के लिए उत्सुक है, परंतु जिसके मन से आसक्ति के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, उसके चारित्र को व्यवहारचारित्र या सराग चारित्र कहते हैं।[३११]

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति यही व्यवहार या सरागचारित्र है। व्यवहारचारित्र की शुरुआत आत्मा के मन, वचन और कर्म की शुद्धि से होती है और उस शुद्धि का कारण आचार के नियमों का परिपालन है। सामान्यत: व्यवहारचारित्र में पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों आदि का समावेश होता है।[३१२]

जीव को सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान से युक्त चारित्र से देवेंद्र, धरणेंद्र और चक्रवर्ती आदि के वैभव के साथ निर्वाण की भी प्राप्ति होती है। सामान्यतया सरागचारित्र से देवेंद्र आदि का वैभव प्राप्त होता है और वीतराग चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[३१३]

निश्चयचारित्र यह साध्यरूप है और व्यवहार उसका साधन है। साधन एवं साध्यरूप इन दोनों चारित्रों को क्रमपूर्वक धारण करने पर जीव मोक्ष को प्राप्त होता है। बाह्य शुद्धि होने पर अभ्यंतर शुद्धि होती है और अभ्यंतर दोषों के कारण ही बाह्य दोष होते हैं।[३१४] शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य आभ्यंतर परिग्रहरूप पदार्थों का त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है। उसे ही निश्चयचारित्र या शुद्धोपयोग भी कहते हैं।[३१५]

अन्य दर्शन में त्रिविध साधनामार्ग

जैन दर्शन के समान ही बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया है। शील, समाधि और प्रज्ञा बौद्ध दर्शन का यह त्रिविध साधनामार्ग भी जैन दर्शन के त्रिविध साधनामार्ग के समानार्थक है। तुलनात्मक दृष्टि से शील को सम्यक्चारित्र, समाधि को सम्यग्दर्शन और प्रज्ञा को सम्यक्ज्ञान के रूप में माना जा सकता है। सम्यग्दर्शन यह समाधि से इसलिए तुलनीय है कि दोनों में चित्त विकल्प नहीं है।

गीता में भी ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग के रूप में त्रिविध साधनामार्ग का उल्लेख है। हिंदु परंपरा में परमसत्ता के तीन पक्ष सत्यं-शिवम्-सुंदरम् माने गये हैं। इन तीन पक्षों की उपलब्धि के लिए उन्होंने त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुंदर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माना गया है।

उपनिषद् में भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधनामार्ग प्रस्तुतीकरण किया है। पाश्चात्य परंपरा में भी तीन नैतिक आदेश उपलब्ध हैं।

१) स्वयं का स्वीकार करो। (Accept thyself)
२) स्वयं को पहचानो। (Know thyself)
३) स्वयं बनो। (Be thyself)

पाश्चात्य चिंतन के ये तीन नैतिक आदेश दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समानार्थी हैं। आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व, आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व और आत्म निर्माण में चारित्र का तत्त्व अंतर्भूत है।[३१६]

* * *

संदर्भ

१. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), श्रु. अ. १, उ. १. सू. २

२. पुण्य पापागमद्वार लक्षणः आस्त्रवः।
राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), १/४/१६

३. आयवणं जीवतडागे ..... योगित्वलक्षणः।
स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरि टीका), स्था. ५. उ. २, सू. ४१८, पृ. ३००

४. सरसः सलिला ..... व्यपदिश्यते॥ तत्त्वार्थसार (श्रीमद् अमृतचंद्र सूरि), पृ. ११०

५. तत्प्रणालिकथा .... व्यपदेशमर्हति।
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), भाग- २, अ. ६, सू. २ टी. पृ. ५०६

६. नवपदार्थ (आ. भिक्षु), पृ. ३६९

७. आस्त्रवत्येनन आस्त्रवण मात्र वा। राजवार्तिक (भट्टाकलंक देव), १.४.९

८. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), श्रु. १, अ. ५, उ. ६. सू. ५८७-८८

९. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), श्रु. १, अ. ५, उ. ६. सू. ५८९-९०

१०. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ९/१२

११. षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्रसूरि), पृ. २११

१२. जैन लक्षणावली (संपा. बालचंद्र सिद्धांत शास्त्री), भाग- १ पृ. २२१

१३. जैन तत्त्वादर्शन (युवाचार्य मधुकर मुनि), पृ. २२७

१४. जैन दर्शन (मुनि श्री न्यायविजयजी), पृ. २१

१५. कायबाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥ स आस्त्रवः ॥२॥
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ६, सूत्र १,२

१६. समयसार प्रवचन (पं. विजयमुनि शास्त्री), पृ. ५४

१७. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - १ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. २९६

१८. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - १ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. २९६

१९. भावनायोगः एक विश्लेषण, (आ. आनंदऋषिजी), पृ. २३७-२३८

२० नवपदार्थ (आ. भिक्षु), पृ. ३७०

२१. पंचास्तिकाय (कुंदकुंदाचार्य), गा. १३५, पृ. १९९

२२. पंचास्तिकाय (कुंदकुंदाचार्य), गा. १३९, पृ. २०३

२३. तत्त्वार्थसार (श्रीमद् अमृतचंद्रसूरि), गा. १०१ पृ. १३७

२४. तत्त्वार्थसार (श्रीमद् अमृतचंद्रसूरि), गा. १०२ पृ. १३८

२५. भावनायोगः एक विश्लेषण (आ. आनंदऋषिजी), पृ. २३८-२३९

२६. बृहदद्रव्यसंग्रह (श्री. नेमिचंद्र सिद्धान्तदेव), गा. २९. ३०, ३१. पृ. ७७-७९

२७. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - १ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. २९६

२८. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ६, सूत्र ५

२९. तत्वार्थ श्लोकवार्तिक (श्रीमद विद्यानंद स्वामी), पृ. ४४४
३० जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - १ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. २९६
३१. तत्त्वार्थसूत्र (अनु. पं. सुखलालजी), पृ. २४१-२४२
३२. तत्त्वार्थसार (श्रीमद् अमृतचंद्र सूरि), चतुर्थ अधिकार, श्लो. ५ पृ. ११०, १११
३३. ठाणांगसूत्र (अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी), ठा. ५ उ. २ पृ. ५६२
३४. समवायांग (सुत्तागमे) (संपा. पुप्फभिक्खु), भाग- १ स. ५ पृ. ३१९
३५. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ६, सूत्र १
३६. भावनाशतक (भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचंद्रजी म.), पृ. २२४
३७. भावनायोग (आ. श्री आनंद ऋषिः एक विश्लेषण), पृ. २४०
३८. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ३ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ३११
३९. योगशास्त्र, (आ. हेमचंद्र), (संपा. मुनि समदर्शी प्रभाकर महासती उमराव कंबर, पं. शोभाचंद भारिल्ल) श्लो. ३, पृ. २८
४० जैन दर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य), पृ. २२७
४१. धवला (कुंदकुंदाचार्य), १/१/९/१६२/२
४२. बृहद्द्रव्यसंग्रह (श्री. नेमिचंद्र सिद्धान्तिदेव), (अमृतचंद्र टीका), गा. ३०, पृ. ७८
४३. स्थानांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), दशम स्था. पृ. ७०९
४४. कर्म संहिता (सा. युगल निधि कृपा), पृ. ३६६
४५. आत्मन् की दिशा में (मुनिज्ञान), पृ. ११२
४६. जैनयोग (आचार्य महाप्रज्ञ), पृ. १७
४७. भावनाशतक (भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचंद्रजी म.), पृ. २३१
४८. भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. २८३
४९. भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. २४२-२४३
५० जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ३ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. २१२
५१. उत्तराध्ययन सूत्र (जीवनश्रेयस्कर पाठशाला), पृ. ९८
५२. भावनाशतक, (भारतभूषण पं. मुनि श्री रत्नचंद्रजी म.), पृ. २३६
५३. प्रतिक्रमणसूत्र, (पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.सा.), पृ. ४५
५४. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ३ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ.१४७
५५. भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. २४४-२४६
५६. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण (देवेंद्रमुनि शास्त्री), पृ. १९८-१९९
५७. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ४/६
५८. आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), प्र.श्रु. १ अ. २, उ. ४, सूत्र ८५ पृ. ५४
५९. जैन दर्शन में नवतत्त्व (जैन साध्वी डॉ. धर्मशीला), पृ. १६९
६० दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), सूत्र ८, गा. ४०

६१. दु:खशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवकुर्वन्ति इति कषाया: । धवला (वीरसान), पृ. १४२
६२. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - २ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ३५
६३. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), सूत्र ८, गा. ३८
६४. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. ९, गा- ५४
६५.भावनाशतक (भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचंद्रजी म.), पृ. २३८
६६. कषाय मुक्ति किल एव मुक्ति।
भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. २४९
६७. योगशास्त्र (आ. हेमचंद्र), गा. ६-८, २३, पृ. ११६
६८. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ३ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ३९०
६९. भावनाशतक (भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचंद्रजी म.), पृ. २४२
७० जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण (देवेंद्रमुनिशास्त्री), पृ.२००
७१. गीता (गीताप्रेस, गोरखपुर), अ. ६, श्लोक ३५
७२. पातांजल योग दर्शन (स्वामी विज्ञानाथमलजी), सूत्र १२, पृ. ३०
७३. प्रश्नव्याकरणसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), प्रथम श्रुतस्कंध
७४. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. २०, गा-३६
७५. भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. २५५-२५६
७६. नवपदार्थ (आचार्य भिक्षु), पृ. ४८८
७७. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ४ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १४२
७८. सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य) भाष्यकार, उमाशंकर शर्मा, पृ. १६५
७९. जैनदर्शन (मुनिश्री न्यायविजयजी), पृ. २२
८० तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ९, सूत्र १
८१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि), अ. २८, गा-११
८२. योगशास्त्र (आ. हेमचंद्र), श्लोक - ७९, पृ. १३३
८३. प्रशमरति प्रकरण (उमास्वातिजी वाचक), सटीकम् सहित। पृ. ७, पृ. २२०
८४. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ४ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १४३
८५. भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. ३५६
८६. भारतीय संस्कृतिकोश (सं. पं. महादेवशास्त्रीजोशी), तीसरा खंड, पृ. ६१
८७. गोम्मटसार (श्री. नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती),
जीवकांड गुणस्थान, गा. ८, ६९, पृ. ४३०
८८. सूत्रकृतांगसूत्र (अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.), श्रु. २, अ. २१, पृ. ४९८
८९. नवतत्त्व साहित्य-संग्रह (उदयविजयगणी), पृ. १४, १५
९० सप्त-तत्त्व-प्रकरण (हेमचंद्र सूरि), पृ. १४,१५
९१. सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपादाचार्य), अ. १/४, पृ. ६

९२. योगशास्त्र (आ. हेमचंद्र), श्लोक - ७९-८०, पृ. १३३-१३४
९३. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण (देवेंद्रमुनिशास्त्री), पृ २०३, २०४
९४. नत्थि चरित्तं सम्मत्त विहूणं.... व सम्मत्तं॥ नांदंसणिस्स ..... अमोक्खस्स निव्वाणं॥
उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि) अ. २८, गा-२९, ३०
९५. जैन दर्शन के नव तत्त्व (पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.सा.), पृ. १९८
९६. भावनाशतक (भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचंद्रजी म.), श्लो.- ५८, पृ. २५५
९७. जे आया से विण्णया.. तं पडुच्च पडिसंखाए।
आचारांगसूत्र (संपा. युवा मधुकरमुनि), १.५.५.१७१
९८. स्थानांगसूत्र (संपा. युवा. मधुकरमुनि), ठाणा-२, उ. १, सूत्र - ७०
९९. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. १, सूत्र ३
१०० करामत छे कर्मना केल्क्युलेटरमां
(पू. जयेशाबाई म.सा, पू. नमीताबाई म.सा.), पृ. १३१
१०१. योगशास्त्र (आ. हेमचंद्र), द्वितीय प्रकाशन, श्लोक - १५, पृ. ३३
१०२. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग - ४ (क्षु. जिनेन्द्र वर्णी), पृ.३६१
१०३. निग्रंथ प्रवचन (अनु. जैनदिवाकर पं. मुनिश्री चौथमलजी), पृ. २४०
१०४. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ७, सूत्र - १८
१०५. तत्त्वार्थसार (श्रीमदअमृतचंद्र सूरि), चतुर्थ अधिकार, श्लो. ८४, पृ. १३२
१०६. सम्मत्तदंसणं न करेइ पावं।
आचारांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), ३/२
१०७. भावनाशतक (भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचंद्रजी म.), श्लो., पृ. ६०
१०८. उपासकदशांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), पृ. २८
१०९. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ९, गा.- ४८
११०. उपासकदशांगसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), पृ. २४
१११. जैनलक्षणावली (बालचंद्रसिद्धांत शास्त्री), भाग- १, पृ. १०७
११२. जैनलक्षणावली (बालचंद्रसिद्धांत शास्त्री), भाग- १, पृ. २
११३. भावनायोग एक विश्लेषण (आ. श्री आनंद ऋषि), पृ. २५६-२७१
११४. कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय (श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल), पृ. ३९
११५. दशवैकालिकसूत्र (अनु. जैनाचार्य आत्मारामजी म.), अ. ३-४, पृ. ३४/१४१
११६. प्रश्नव्याकरणसूत्र (अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.),
आस्रवद्वार, पृ. १ से १३० व संवरद्वार, १३१ से २२८
११७. भगवतीसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), श.-३, उ.-३, श.- १, उ.- ६
११८. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - ३०, सू. - २,३
११९. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ.- २९, सू. - १४

१२०. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - ३० सू.- ४, ५
१२१. 'एकदेश कर्म संशय लक्षणा निर्जरा'।
सर्वार्थसिद्धि (श्रीमद् आ. पूज्यपादाचार्य) १/४
१२२. खवेत्तापुव्वकम्माइं .... पक्कमन्ति महेसिणो॥
उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - २८ / गा. ३६
उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - ३० / गा.- ५, ६
१२३. समयसार प्रवचन (पं. विजयमुनि शास्त्री), पृ. ८१-८२
१२४. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (वाचस्पति गैरोला), पृ. २१६
१२५. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (सिद्धसेनगणि), स्वोप्रज्ञभाष्य,
भा.२, अ. ८, सूत्र २४, पृ. १७३
१२६. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ९, सूत्र - १९-२०
१२७. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - ३० / सूत्र - ८, ३०
१२८. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- २, अ- ९ गा. १९-२०
१२९. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (उमास्वाति), अ. ९ सूत्र १९ पृ. ४१२
१३० तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- २, अ- ९ गा. १९, पृ. ६१८
१३१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - ३० / सूत्र - १४-२३
१३२. सुत्तागमे (भगवई) (संपा. पुप्फभिक्खू), भाग- १, श. २५.३.७, पृ. ८९३
१३३. सुत्तागमे (समवाइय) (संपा. पुप्फभिक्खू), भाग- १, श. ६, पृ. ३२०
१३४. सुत्तागमे (ओववाइयसुत्तं) (संपा. पुप्फभिक्खु), भाग- २, पृ. ९
१३५. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - १ / गा.-२
१३६. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - ३० / गा.- २६
१३७. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- २, अ- ९ सू. १९-६१८-१९
१३८. सुत्तागमे (भगवई) (संपा. पुप्फभिक्खू), भाग- १, श. २४.३.७, पृ. ८९४
१३९. 'नत्थि जीवस्स नासुति' उत्तराध्ययनसूत्र, (युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २ गा. २७
१४०. 'आयावयाहि चय सोगमल्लं'।
दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २, गा. ५
१४१. जैनधर्म में तप (मरुधर केसरीप्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीलालजी म.), पृ. २८८, २९०,
२९२, २९५, ३०२
१४२. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- ९, सूत्र- १९ पृ. ६२९, भाग- २
१४३. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (उमास्वाति), अ. ९, सूत्र १९, पृ. ४१४
१४४. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - १ / गा. ३०
१४५. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- २, अ- ९, सूत्र - २०, पृ. ६२०
१४६. जैनधर्म में तप (मरुधर केसरीप्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीलालजी म.), पृ. ३९०-३९२

१४७. सामायिकसूत्र (पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.सा.), अग्रेंजी अनु. पृ. १०
१४८. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- २, अ- ९, सूत्र - २२, पृ. ६२०
१४९. पंचाषकविवरण (आ. हरिभद्रसूरि), १६/३
१५०. जैनधर्म में तप (मरुधर केसरीप्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीलालजी म.), पृ. ३९०-३९२
१५१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. -११.१३,
१५२. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - १. गा.-१,९,२७,२९
१५३. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - १.गा.- ७,१५,१६
१५४. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - १.गा.-२२, अ. ८.४१ अ. ९/२२
१५५. सुत्तागमे (भगवई) (संपा. पुप्फभिक्खू), भाग- १, श. २४., उ. ७, पृ. ८९५
१५६. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), ९.२.२
१५७. 'परोस्परोपग्रहो जीवानाम्।' तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ५, गा. २१
१५८. भगवद्गीता (डॉ. राधाकृष्णन), अ. ३/११
१५९. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - २९ / सूत्र- ४४
१६०. दसविधे वेयावच्चे पण्णत्ता तं जहा.... साहम्मिय वेयावच्चे'।
उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २९. सू.- ४४
१६१. सुत्तागमे (संपा. पुप्पभिक्खु), ठाणे, भाग- १, पृ. ३०४
१६२. स्थानांग टीका (अभयदेवसूरि), ५/३/४६५
१६३. जैन दर्शन के नवतत्त्व (जैनसाध्वी डॉ. धर्मशीला), पृ. २६५
१६४. सज्जाए वा निउत्तेणं सव्वदुक्ख विमोक्खणे॥
उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - २६. गा. १०
१६५. सज्जाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ॥
उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - २९.१९
१६६. बृहत्कल्पभाष्य, चंद्रप्रज्ञप्ति(संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), गा. ८९
१६७. तैतरिय आरण्यक, २.१४
१६८. तैतिरीयोपनिषद्, १.११.१
१६९. स्वाध्यायादिष्ट देवतासंप्रयोग'। पातञ्जलयोगदर्शन
१७०. सज्झाए पंचविहे पन्नते तं जहा- वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा, अणुप्पेहा धम्मकहा, से तं सज्झाए सुत्तागमे ।
(सं पुप्पभिक्खु (सुत्तागमे), ठाण, भाग- १, सं. २५, उ. ७, पृ. ८९६
१७१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. - २९ / सूत्र- १८
१७२. निःसंगनिर्भयत्व जीविताशाव्युदासाधर्थो व्युत्सर्गः ॥
तत्त्वार्थ टीका (अकलंकदेव), सूत्र - १०

१७३. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- २, अ- ८, सूत्र - २७, पृ. ६२५
१७४. जैनदृष्टि (डॉ. इन्द्रचंद्र शास्त्री), पृ. ८१-८२
१७५. जीव-अजीव (मुनि श्री नथमल), पृ. १८२
१७६. योगदर्शनअनेयोगसमाधि (विश्वशांति चाहक), पृ. ३५३
१७७. जैनधर्म में तप (मरुधर केसरीप्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीलालजी म.), पृ. ४७०
१७८. आवश्यकनिर्युक्ति (आ. भद्रबाहु), १४५६
१७९. शुभैकप्रत्ययो ध्यानम् । (द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिक) (आचार्य सिद्धसेन), १८/११
१८०. जैनधर्म में तप (मरुधर केसरीप्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीलालजी म.), पृ. ४७०-४७२
१८१. सुत्तागमे (ठाणंग) (संपा. पुप्पभिक्खु), भाग- १, अ. ४, उ. १, पृ.२२४
१८२. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति). (मराठी अनु. ब्र. जीवराज गौतमचंद्र दोशी), पृ. २७६
१८३. सकषायाचाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः।
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. ८, सूत्र- ३
१८४. तत्त्वार्थसार (श्रीमद्‌मृतचंद्र सूरि),
(सं.प. पन्नालालसाहित्याचार्य), श्लो. १३ पृ. १४२
१८५. णत्थि बंधे मोक्खो वा। णे व सन्नं निवेसए।
अत्थि बंध मोक्खो वा एवं सन्नं निवेसए॥१५
सूयगडंगसूत्र, (अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.) श्रु. २, गा. १५, पृ. ४९८
१८६. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (क्षु. जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ३, पृ. १६९-१७०
१८७. उत्तराध्ययनसूत्र (अनु. जैनाचार्य घासीलालजी म.), अ. २८, गा. १४, पृ. १५३
१८८. नवपदार्थ (आ. भिक्षु), पृ. ७०७
१८९. अध्यात्म साधना (विजयमुनि शास्त्री), पृ. ३७-३८
१९०. चिन्तन की मनोभूमि, (उपाध्याय अमरमुनि), पृ. ६१
१९१. नवपदार्थ (आ. भिक्षु), पृ. ७१४, ७१५
१९२. सुत्तागमे (ठाणे), सं पुप्पभिक्खु, भाग- १, उ. ४, पृ. २००-३१७
१९३. स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरि टी.), स्थान- २, उ. ४, पृ. ८३, १८३
१९४. पण्णवणासूत्र, (संपा. पुप्पभिक्खु) (सुत्तागमे), भाग- २, प. २३, उ. १, पृ. ४८६
१९५. स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरि टी.), स्थान- २, उ. ४, पृ. ८३
१९६. स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरि टी.), स्थान- २, उ. ४, पृ. १४
१९७. स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरि टी.),,स्थान- १, उ. ४, पृ. १४, १५
१९८. प्रवचनसार (कुंदकुंदाचार्य), (ज्ञेयाधिकार), अ.२, गा. ८३, ८४, पृ. २१७-२१८
१९९. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), विवेचनकर्ता, पं. सुखलालजी, पृ. ३१५-३१६
२००. षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्रसूरि), पृ. २७७
२०१. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), संपा. प. पन्नालाल साहित्याचार्य, पंचमअधिकार,

श्लो. २१, पृ. १४५

२०२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (उमास्वाति), अनु. धीरजलाल के तुरखिया, अ. ८.४, पृ. ३७

२०३. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ३, पृ. ८७

२०४. तत्त्वार्थसूत्र (गृद्धपिच्छाचार्य), अनु. जीवराज गौतमचंद्र दोशी, अ. ८, पृ. २१८

२०५. जैनसिद्धांतदीपिका (आ. श्रीतुलसी), अ. ४, पृ. ६६

२०६. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ३, पृ. ८७

२०७. जैनसिद्धांतदीपिका (आ. श्रीतुलसी), श्लो. ७, पृ. ६६

२०८. जैनसिद्धांतदीपिका (आ. श्रीतुलसी), श्लो. १०, पृ. ६८

२०९. तत्त्वार्थसूत्र (गृद्धपिच्छाचार्य), अनु. जीवराज गौतमचंद्र दोशी, अ. ८, पृ. २१९

२१०. सवार्थसिद्धि (पूज्यापादाचार्य), अ. ८, सूत्र- ३, पृ. २२३

२११. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ४, पृ. ४५७

२१२. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), पृ. ३१६

२१३. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव), टी. भाग-२, अ. ८, सूत्र- ३ पृ. ५६७

२१४. जैनसिद्धांतदीपिका (आ. श्रीतुलसी), श्लो. ७, पृ. ६८

२१५. नवतत्त्व प्रकरणम् (श्रीदेवगुप्ताचार्य प्रणीत श्रीमद् अभयदेवसूरि), गा. ७१, पृ. ४७

२१६. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), पृ. ३१६

२१७. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम (हिंदी अनु. खूबचंद्रजी सिद्धांत शास्त्री), पृ. ३५५

२१८. जैनतत्वप्रकाश (जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३७२

२१९. जैनसिद्धांतदीपिका (आ. श्रीतुलसी), श्लो. ७, पृ. ७०

२२०. नवपदार्थ (आ. भिक्षु), पृ. ७१८

२२१. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), पंचमअधिकार, श्लो. ४७-५०, पृ. १५८

२२२. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), (संपा. प. पन्नालाल साहित्याचार्य) पृ. १४५-१४६

२२३. तत्त्वार्थसूत्र (गृद्धपिच्छाचार्य), मराठी अनु. जीवराज गौतमचंद्र दोशी, पृ. २१९

२२४. जैनतत्वप्रकाश (जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.), पृ. ३७३

२२५. जीवकर्म वियोगश्च मोक्ष उच्यते।

स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरि टीका), स्थान- १, पृ. १५

२२६. 'कृत्स्न कर्मक्षयौ मोक्षः।' तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. १०, सूत्र - ३

२२७. सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य), पृ. १६७

२२८. नवतत्त्व साहित्य संग्रह (हेमचंद्रसूरि), (सप्तप्रकरणम्), पृ.१७ संयो. उदयविजयगणी

२२९. नवतत्त्व साहित्य संग्रह (उमास्वाति), पृ. ७

२३०. नवतत्त्वप्रकरण (चारित्रचक्रवर्ती श्री जयशेखरसूरि), पृ. २९

२३१. समयसार प्रवचन (पं. विजयमुनि शास्त्री), पृ. ८९

२३२. नवतत्त्वसाहित्य संग्रह (संपा. उदयविजयगणी, हेमंचद्र सप्ततत्त्वप्रकरणम्), पृ. १७

२३३. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण (देवेंद्रमुनि शास्त्री), पृ. २२४
२३४. आवश्यकसूत्र (संपा. पू. डॉ. धर्मशीलाजी म.), पृ. १०५
२३५. तदनंतरमूर्ध्व गच्छत्या लोकान्तात्। तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. १०, सूत्र -५
२३६. जैनतत्त्वदर्शन (श्री मधुकरमुनि), पृ. ३०-३१
२३७. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवा. श्रीमधुकरमुनि), अ. २८/२
२३८. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ३, पृ. ३३३
२३९. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ३, पृ. ३३३
२४०. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), अष्टमअधिकार, श्लो. २, पृ. १९२
२४१. षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरि), सं. डॉ. महेंद्रकुमार जैन, पृ. २८४
२४२. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. १, सूत्र- १
२४३. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव), टी. भाग-१, पृ. २७१
२४४. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. ९९
२४५. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. १००-१०१
२४६. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. १००
२४७. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. १००,
(भ. महावीर निर्वाण विशेषांक), द्वितीय खंड, १९७४
२४८. श्री अमरभारती, (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. १०१,
(भ. महावीर निर्वाण विशेषांक), द्वितीय खंड, १९७४
२४९. दर्शन दिग्दर्शन (राहुल सांकृत्यायन), अ. १५, पृ. ५३३
२५०. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. १०१,
(भ. महावीर निर्वाण विशेषांक), द्वितीय खंड, १९७४
२५१. श्वेताश्वतरोपनिषद् (गीताप्रेस, गोरखपुर) अ. २, १५, पृ. १६०
२५२. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. १०२-१०३
२५३. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २३, गा. ८१, ८३
२५४. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २३, गा. ८४
२५५. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. २३, गा. ३६
२५६. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. ८७-८८,
(भ. महावीर निर्वाण विशेषांक), द्वितीय खंड, १९७४
२५७. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ३, पृ. ३३३-३३४
२५८. पंचास्तिकाय (कुंदकुंदाचार्य, अमृतचंद्र जयसेनाचार्य टी.), पृ. १५२, १७३, २१६
२५९. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), टीका, भाग- १, पृ. ४०
२६०. नवतत्त्वप्रकरणसार्थ (वेणीचंद्र सूरचंद्र), पृ. ८
२६१. उत्तराध्ययनसूत्र (संपा. जैनाचार्य घासीलालजी म.), टीका,

भाग- ४, अ.- २९. पृ. ३५४-३५५
२६२. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), (अनु. पं. सुखलालजी), अ. १०, सूत्र- १, पृ. ३८१
२६३. आप्तपरीक्षा कारिका (विद्यानंद स्वामी), गा. १९४, ११५, पृ. २४६
२६४. तत्त्वार्थराजवार्तिक (भट्टाकलंकादेव), भाग- १, अ- ८, गा - ६,७, पृ. १४६
२६५. श्री अमरभारती, (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. ८७-८८
२६६. आचारांगसूत्रचूर्णि, अ. ४
२६७. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), अ. १०, सूत्र - १
२६८. श्री अमरभारती (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), खंड- २, पृ. ८९
२६९. नियमसार (कुंदकुंदाचार्य), गा. १७८-१७९
२७०. 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। भगवद्गीता (डॉ. राधाकृष्णन्)
२७१. नमोत्थुणं (शक्रस्तव) सामायिक सूत्र,
अमरभारती, (पं. मुनिश्रीनेमिचंद्रजी), पृ. ८९-९०
२७२. जयाजोगे निरुंभित्ता..... सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥
दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ४.२४
२७३. तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवई सासओ।
दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ४, गा. २५
२७४. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), अष्टमअधिकार, श्लो. ७, पृ. १९३
२७५. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), अष्टमअधिकार, श्लो. २६, पृ. १९८
२७६. णमो सिद्धाणं पद- समीक्षात्मक परिशीलन (डॉ. धर्मशीलाजी मं.), पृ. २४९
२७७. समणसुत्तं, (सर्व सेवा संघप्रकाशन), (पं. बेचरदासजी दोशी), श्लो.१९३,पृ.६४
२७८. जैनदर्शन (न्यायविजयजी म.सा.), पृ. ६७०६८
२७९. शिक्षासारसंग्रह (संग्रहकर्ता श्री. भैरोदान सेडिया), पृ. १
२८०. निग्रंथ प्रवचन (चौथमलजी म.), श्लो. ७, पृ. २३८, २४४
२८१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ४, पृ. ३५०
२८२. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- ४, पृ. ३५६
२८३. सुत्तागमे आयारे (सं पुप्पभिक्खु), भाग- १, उ. १, पृ. १२
२८४. कुंदकुंदभारती (कुंदकुंदाचार्य), दर्शनपाहुड, गा. ३१, पृ. २३५
२८५. वल्लभप्रवचन (आ. श्री. विजयवल्लभसूरि), भाग- २, पृ. १७७-१९१
२८६. धर्म और दर्शन (देवेंद्रमुनि शास्त्री), पृ. १३२
२८७. जैनदर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल), पृ. ४२३
२८८. श्री नंदीसूत्र टीका (संपा. जैनाचार्य श्री आत्मरामजी म.), पृ. ६१
२८९. सुत्तागमे (भगवई), (संपा. पुप्पभिक्खु), भाग- १, स. १२, उ. १०, पृ. ६७२
२९०. सुत्तागमे (नंदीसुत्तम्), संपा. पुप्पभिक्खु, भाग- २, पृ. १०७४

२९१. समणसुत्तं (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), संस्कृतछाया परिशोधन,गा.२४८पृ. ८०
२९२. समणसुत्त, (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), संस्कृतछाया परिशोधन, पृ. ८२-८४
२९३. समणसुत्तं (पं. बेचरदासजी दोशी), गा. २५३, पृ. ८३
२९४. जैनदर्शन के नवतत्त्व (जैनसाध्वी डॉ. धर्मशीलाजी), पृ. ३६४
२९५. सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य), पृ. १३७
२९६. सत्येन लभ्यस्तपसा एष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक- ३ (गीताप्रेस), गोरखपुर, खंड-१, पृ. ९४
२९७. दशवैकालिकसूत्र (संपा. युवाचार्य मधुकर मुनि), अ. ४, गा. १०
२९८. श्री नंदीसूत्र (संपा. जैनाचार्य श्री आत्मरामजी म.), पृ. १४-१५
२९९. कुंदकुंदभारती (कुंदकुंदाचार्य),प्रस्तावना, पृ. ४१
३००. जैनदर्शन के नवतत्त्व (जैनसाध्वी डॉ. धर्मशीलाजी), पृ. ३६९
३०१. धर्म और दर्शन (देवेन्द्रमुनि शास्त्री), पृ. १४३
३०२. जैनदर्शन (मुनि श्री न्यायविजयजी), पृ. ५०
३०३. समणसुत्तं (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), गा. २६६, २७५ पृ. ८६, ९०
३०४. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- २, पृ. २८६
३०५. उज्जवलवाणी (महासती श्री उज्ज्वलकुमारीजी), भाग १, पृ. २९८
३०६. कुंदकुंदभारती (कुंदकुंदाचार्य), अष्टपाहुड, गा. ३, पृ. २४१
३०७. कुंदकुंदभारती (कुंदकुंदाचार्य), अष्टपाहुड, गा. ४, पृ. २४१
३०८. तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्रसूरि), श्लो. २, पृ. २०८
३०९. समणसुत्तं (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), गा. २६८, पृ. ८८,
३१०. समणसुत्तं (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), गा. २६९, २७८ पृ. ८८, ९०
३११. समणसुत्तं (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), गा. २६९, २७८ पृ. ८६, ८८, ९०
३१२. कुंदकुंदभारती (कुंदकुंदाचार्य), ज्ञानाधिकार, गा. ६
३१३. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- २, पृ. २८४
३१४. समणसुत्तं (संपा. पं. बेचरदासजी दोशी), गा. २८०, पृ. ९०, ९२
३१५. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (जिनेन्द्रवर्णी), भाग- २, पृ. २८५
३१६. जैनदर्शन के नवतत्त्व (जैनसाध्वी डॉ. धर्मशीलाजी), पृ. ३७८

* * *

सप्तम प्रकरण

उपसंहार

सप्तम प्रकरण

उपसंहार

सुप्त शक्ति को जगाएँ	३५६
अनंतशक्ति का स्त्रोत कहा?	३५६
भारतीय दर्शन में साधना पथ	३५७
जैनसंस्कृति	३५८
भारतीय दर्शन और जैनदर्शन	३५८
विसर्जन से सर्जन	३५९
कर्म की महत्ता सभी क्षेत्रों में	३६०
कर्मसिद्धांत के मूल ग्रंथ आगम वाङ्मय	३६१
कर्म का अस्तित्व	३६३
कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन	३६६
कर्म का विराट स्वरूप	३६९
कर्मों की प्रक्रिया	३७२
कर्मों से सर्वथा मुक्ति : मोक्ष	३७६

सप्तम प्रकरण

उपसंहार

सुप्त शक्ति को जगाएँ

एक छोटे से परमाणु में महाविस्फोटक शक्ति होती है, एक छोटे से बीज में विराट वृक्ष की विशालता समाहित है, एक छोटीसी अग्नि की चिनगारी में रुई से भरे गोडाऊन को नष्ट करने की शक्ति होती है, एक छोटीसी विष की गोली में मानव के प्राण हरण करने की शक्ति होती है, छोटे से दीपक में अंधकार को दूर करने की शक्ति होती है, अत्तर की एक बूँद में दुर्गंधित वातावरण को सुगंध में परिवर्तित करने की शक्ति होती है। ठीक उसी प्रकार छोटे से छोटे शरीर में रहने वाली आत्मा में अनंत-अनंत शक्ति सन्निहित है, किंतु उस विशाल शक्ति पर कर्म का घना आवरण छाया हुआ है। जब तक आवरण नहीं हटेगा तब तक विशाल शक्ति का प्रगटीकरण नहीं हो सकेगा।

बीज की विराट शक्ति को प्रादुर्भूत करने के लिए उस बीज को व्यवस्थित रीति से भूमि में बपित करना आवश्यक है। उसके बाद हवा, पानी से सिंचन, संरक्षण आदि की भी अत्यंत आवश्यकता रहती है। इतना होने पर ही छोटा सा बीज विराट वृक्ष का रूप ले सकता है। आत्मिक शक्ति को जागृत करने के लिए योग्य पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अनंत-अनंत आत्माएँ विभिन्न योनियों में परिभ्रमण कर रही हैं। कर्म का वलय उन्हें हिताहित के विवेक विज्ञान से विकल्प बनाये हुए है।

बीज के लिए योग्यभूमि की आवश्यकता के अनुसार मानव जीवन की आवश्यकता है। जिसको पाकर आत्मा स्व के हिताहित की ज्ञानप्राप्ति के साथ हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति ले सकता है। प्रभु महावीर ने आत्मजागरण के लिए मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है। मानव जीवन में सत् पुरुषार्थ करके चेतन आत्मा अपने विराट शुद्ध स्वरूप को जानकर कर्मक्षय के द्वारा मोक्ष मंजिल तक पहुँच सकता है।

अनंतशक्ति का स्त्रोत कहाँ ?

प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन का कथन है कि, 'मैं समस्त भूमंडल, सप्त नक्षत्रों और सीजर के बाहुबल, प्लेटो के मस्तिष्क, ईसा के हृदय और शेक्सपीयर के कविता का स्वामी हूँ।' दार्शनिक इमर्सन के इस कथन को सामान्य व्यक्ति गलत अर्थों में भी ले सकता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति यह कह दे- 'मैं संपूर्ण विश्व का स्वामी हूँ' तो लोग उसके कथन को उन्मत्त प्रलाप ही समझेंगे। साधारण जनता इसी कोटि में इमर्सन के कथन को भी ले सकती

है, किंतु गहराई से विचार करने पर इमर्सन के कथन का मुक्त ज्ञान उजागर होता है।[१]

वर्तमान युग में जितना भी भौतिक विकास हो रहा है, आश्चर्यजनक साधनों का निरंतर आविष्कार हो रहा है, उन सबके मूल में कर्ता कौन है? आखिर है तो मानव ही, मनुष्य की मेधा ही तो विश्व में नये-नये आविष्कार करने में समर्थ है। इन सब शक्तियों का आविष्कार मानव के अंतरंग से ही होता है। जो आश्चर्यजनक शक्ति एक वैज्ञानिक में दिखती है। उससे भी कई गुनी अधिक शक्ति, विश्व के प्रत्येक प्राणी में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। हर मानव अनंत शक्ति का स्वामी है, किसी की शक्ति आवृत है तो किसी की शक्ति अनावृत। इस विभेद के कारण ही आत्मिक शक्ति के विविध रूप दृष्टि गोचर हो रहे हैं।

इमर्सन का यह कथन इस अर्थ में सत्य है, कि उसकी आत्मा में सत्ता की अपेक्षा से अखिल विश्व का स्वामित्व विद्यमान है। सीजर के बाहुबल और प्लेटों के मस्तिष्क से भी बढकर संपूर्ण विश्व में जितनी भी विलक्षण एवं अद्‌भुत शक्तियाँ परिलक्षित होती हैं। वे सभी शक्तियाँ मानव के अंतर में विद्यमान हैं।

प्रभु महावीर ने अपने विशिष्ट ज्ञानलोक में देखकर विश्व के प्राणियों की आत्मिक शक्ति को जागृत करने के लिए यह देशना प्रदान की **'अप्पा सो परमप्पा'** आत्मा ही परमात्मा है। विश्व की प्रत्येक आत्मा में अनंत शक्ति का स्त्रोत विद्यमान है। उस शाश्वत सत्ता की अपेक्षा से विश्व की समस्त आत्माएँ संपूर्ण विश्व का स्वामी हैं।

भारतीय दर्शन में साधना पथ

भारतीय दर्शन अत्यंत सूक्ष्मदर्शी है। जीवन के रहस्यों की उद्‌घाटित करने में भारतीय मनीषियों ने जो पुरुषार्थ किया वह अनुपम है। अन्तर्निरीक्षण की प्रेरणा देते हुए उन्होंने आध्यात्मिक आनंद की सर्वोत्कृष्टता स्थापित की। जीवन का परम सत्य बताया। जिज्ञासु, मुमुक्षु साधक को उत्तरोत्तर जीवन की लंबी यात्रा में गतिशील रहने की प्रेरणा दी। वह एक ऐसी यात्रा है जिसका पथ बडा कंटकाकीर्ण है। अतएव साधक को अत्यधिक आत्मबल, साहस और धैर्य रखते हुए सावधान किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में उसी अंतर्मुखी आध्यात्मिक यात्रा का विश्लेषण है। जिसका प्रारंभ कर्मसिद्धांत के मर्म को जानने से होता है तथा समापन कर्मों से मुक्त होने से होता है। जो महापुरुष सफलतापूर्वक उस यात्रा पथ पर आगे बढते हुए अंतिम मंजिल तक पहुँच जाते हैं, वे सफल हो जाते हैं, अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। वे निर्विकार, निर्मल परम शुद्ध चिन्मय अवस्था अधिगत करते हैं तथा मुमुक्षु के लिए प्रेरणास्त्रोत हैं।

जैनसंस्कृति

जैन, वैदिक एवं बौद्ध इन तीनों भारतीय धर्मों की सांस्कृतिक विचारधारा चिरकाल से साथ-साथ बहती चली आयी है। भारतीय वाङ्मय में इन तीनों का मौलिक चिंतन, तात्त्विक विवेचन, सैद्धान्तिक विश्लेषण और आध्यात्मिक साधना का अपना-अपना पृथक् स्थान है। साधारण जन इस तत्त्व को न समझने के कारण अपनी अनंत शक्ति की अभिव्यक्ति से वंचित रह जाते हैं, उस शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए अहर्निश पुरुषार्थ अपेक्षित है। प्रबल पुरुषार्थ से एक न एक दिन अनंत शक्ति का स्रोत अवश्य फूट पडेगा। कायर मानव अपनी शक्ति से अपरिचित रहकर वैभाविक परिणामों में ही भटकता रहता है और वैभाविक अवस्था उसे वास्तविक सुख नहीं दे पाती।

महात्मा गाँधीजी के मन में दृढ विश्वास था कि अहिंसक आंदोलन से यह देश निश्चित रूप से स्वतंत्र हो जायेगा। उन्होंने जब अहिंसक आंदोलन चलाया तब अनेक लोगों ने हँसी उडाई, लेकिन गाँधीजी अपने आत्मबल के आधार पर बढते ही चले गये। इस आत्मविश्वास का अलौकिक प्रभाव हुआ। गाँधीजी के अनूठे आत्मबल के सामने ब्रिटिश शासन को झुकना पडा और भारत स्वतंत्र हुआ।

इस प्रकार आत्मिक शक्ति को लेकर चलने वाले क्या नहीं कर सकते? बस! आवश्यकता है उस अनंत शक्ति के केंद्र को समझने की, उसका ज्ञान प्राप्त कर दृढ संकल्प के साथ आगे बढे तो संपूर्ण विश्व का स्वामी बन सकता है। यही बात आध्यात्मिक जगत की है, आत्मा पर कर्मों का आवरण है यदि उस आवरण को दूर किया जाए तो आत्मा शुद्ध दैदीप्यमान, अनंत शक्ति का स्वामी बन जायेगी।

भारतीय दर्शन और जैनदर्शन

भारतीय दर्शन आध्यात्मिक दर्शन है। चार्वाक दर्शन से अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा का अस्तित्व माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय दर्शन प्राय: आत्मवादी है। प्राचीन काल से भारतीय ऋषि मुनियों ने आत्मा के संबंध में चिंतन, मनन किया है। आत्मस्वरूप को पहचानना ही उन्होंने अपने जीवन का ध्येय माना है। भारतीय दर्शनों का विकास आत्मतत्त्व का केंद्र बिंदु है। भगवान महावीर ने कहा है-

जे एगं जाणई से सव्वं जाणइ।

जो एक आत्म तत्त्व को जानता है वह सब कुछ जानता है।

छांदोग्य उपनिषद् के शांकर भाष्य ६/११ में भी यही बताया है कि-

आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

एक आत्मतत्त्व को जान लेने पर सब कुछ जाना जाता है। भारतीय दर्शन में आत्मा के महत्त्व को सदैव स्वीकार किया है। यद्यपि आज विज्ञान युग है और प्रचुर भौतिक सुखसुविधायें उपलब्ध हैं, फिर भी आध्यात्मिक प्रगति के बिना मानव को सुख नहीं मिलेगा। ऐसा कहा जाता है, व्यक्ति जब अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढता है, तब उसे अलौकिक आनंद की अनुभूति होने लगती है, परंतु दुःख निवृत्त के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन रत्नों की आराधना से जीवात्मा अंतिम लक्ष को प्राप्त कर सकती हैं। सच्चे आत्मस्वरूप की पहचान के लिए कर्मसिद्धांत को समझना तथा कर्म के जंजीरों से मुक्त होने का उपाय बताया है।

ज्ञान, शक्ति पुरुषार्थ और संकल्प शक्ति ये जीव की मुख्य शक्तियाँ हैं। जीवात्मा जैसा विचार करता है वैसा उस पर संस्कार होता है और संस्कारों की छाप जन्मोजन्म तक रहती है। जीव अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतबलवीर्य इस अनंत चतुष्टय से युक्त है। सभी जीवों के आत्मा में अनंत शक्ति विद्यमान है सिर्फ उस शक्ति को पहचानकर उसका सदुपयोग करना है।

विसर्जन से सर्जन

भव्य प्रासाद को बनाने के लिए पूर्व स्थित खंडहर को गिराना होगा, जब तक खंडहर का सर्वथा विनाश नहीं होगा तब तक भव्य महल का निर्माण नहीं हो सकेगा। ठीक यही बात जीवन के सर्जन के विषय में है। भव्य जीवन का निर्माण करने के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष इन षड्रिपु और अष्ट कर्मरूपी विकृतियों को बिल्कुल साफ करना होगा, जब तक अष्टकर्म क्षय नहीं होगें तबतक भव्य जीवन का सर्जन नहीं हो सकता, तथा मोक्ष मंजिल प्राप्त नहीं हो सकती।

गंदगी को साफ किये बिना कमरा सजाया नहीं जाता, सजावट के लिए गंदगी को दूर करना आवश्यक है। इसी प्रकार अध्यात्म जीवनोत्कर्ष के लिए कर्मरूपी गंदगी को हटाना ही होगा। वर्तमान युग में दृश्यमान जगत का मानव कर्मों की गंदगी से भरा हुआ है। उस गंदगी को हटाये बिना वह ऊपरी टीपटाप से अर्थात् भौतिक समृद्धि से अपने जीवन को सजाने का प्रयास कर रहा है, किंतु यह सजावट वास्तविक न होने से सुख प्राप्ति का कारण नहीं बन पाती। वास्तविक, शाश्वत सुख प्राप्ति के लिए कर्म के मर्म को समझना आवश्यक है।

कर्म एक ऐसी शक्ति है जिसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। अणुबंब से संसार के भौतिक साधनों का विकास होता है और दुरुपयोग से शत्रुओं का विनाश होता है। वाहन चालक व्यवस्थित हो तो व्यक्ति को गन्तव्य स्थान पर पहुँचा सकता है। वही वाहन चालक अनियंत्रित रूप से चलाये तो घातक भी बन जाता है।

ठीक उसी प्रकार अशुभ कर्मबंध मानव को नरक में ले जाते हैं और शुभ कर्म मानव को उच्चगति प्राप्त कराते हैं।

कर्म की महत्ता सभी क्षेत्रों में

आज विश्व में चारों ओर कर्म, कर्म और कर्म की आवाजें आ रही हैं। क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक और क्या राजनैतिक इसी प्रकार नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्म को प्रधानता दी जा रही है। भारतीय धर्मों और दर्शनों ने ही नहीं, पाश्चात्य धर्मों और दर्शनों ने भी एक या दूसरे प्रकार से कर्म की महत्ता को स्वीकार किया है। पश्चिमी देशों में Good deed और Bad deed के नाम से कर्म शब्द प्रचलित है।

जैन दर्शन ने ही नहीं भारत के मीमांसा, वेदांत, योग, सांख्य, बौद्ध और गीता आदि दर्शनों ने भी कर्म को एक या दूसरे प्रकार से माना है। चार्वाक दर्शन ने आत्मा का अस्तित्व न मानकर भी अच्छे और बुरे कार्य के रूप में कर्म को माना है। इस प्रकार झोपडी से लेकर महलों तक कर्म शब्द गूँज रहा है। जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण में कर्म रमा हुआ है। कोई भी जीवित प्राणी कर्म किये बिना रह नहीं सकता। भारत के प्रसिद्ध संत तुलसीदास जी ने कहा है-

कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा।

यह विश्व कर्म प्रधान है, जो प्राणी जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। सिद्धांत चाहे कितना भी ऊँचा हो किंतु व्यावहारिक धरातल पर या दैनिक जीवन में उपयोगी सिद्ध न होता हो तो वह केवल हवाई कल्पना ही है। वही सिद्धांत जीवित है जो व्यावहारिक जीवन में खरा उतरता हो। इस दृष्टि से कर्म सिद्धांत भी मात्र कोरे आदर्श की आकाशी उड्डान नहीं है, अपितु आदर्श के साथ-साथ जीवन के दैनिक व्यवहार में भी वह कदम-कदम पर उपयोगी है। यदि कर्मसिद्धांत को जीवन की हर छोटी बडी घटनाओं के साथ जोड दिया जाये तो मनुष्य अशुभ कर्म करने से बच सकता है। इससे उसके व्यावहारिक जीवन में भी कहीं गतिरोध नहीं आता।

इस प्रकार शुभ-अशुभ परिणामों को देखकर व्यक्तियों के शुभ-अशुभ व्यवहार की व्याख्या कर्म के द्वारा की जाती है। इन्हीं शुभाशुभ व्यवहार की व्याख्या से कर्म सिद्धांत ने दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत किया है। वह कहता है, 'अच्छे कर्मों का फल शुभ होता है और बुरे कर्मों का फल अशुभ होता है।' इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कर्म सिद्धांत मानव तथा मानवेतर समस्त प्राणियों के दैनिक व्यवहारों की व्याख्या कर्म के द्वारा प्रस्तुत करता है।

इतना ही नहीं जो लोग कर्म सिद्धांत पर आक्षेप करते हैं कि कर्मवाद इस जन्म में प्राप्त सुख-दु:खरूप फल की संगति पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के साथ बिठाता है, उनके इस आक्षेप का भी खंडन हो जाता है। चाहे इस जन्म में किये गये कर्मों का फल हो या पूर्वजन्मकृत कर्मों का फल हो किंतु कहलाता वह पूर्वकृत कर्म ही है। पूर्वकृत में इस जन्म के और पूर्वजन्म के कर्म भी आ जाते हैं, इसलिए यह नि:संदेह कहा जा सकता है कर्म सिद्धांत केवल आदर्श या सिद्धांत की व्याख्या नहीं करता अपितु कर्म के द्वारा व्यवहारिक जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है। कर्म सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है- 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।' यह सूत्र जीवन को नैतिक और व्यवहारिक दृष्टि से उन्नत बनाने का आधार बनता है। जब मनुष्य की यह धारणा पक्की बन जाती है कि बुरे कर्मों का फल बुरा मिलता है, तब उसे बुराई से बचने की प्रेरणा मिलती है।

कर्म सिद्धांत के अनुसार आचरण करने से मनुष्य के जीवन में प्रमाद की मात्रा कम हो जाती है। कषाय मंद से मंदतर हो जाते हैं और भोग के प्रति रुचि भी कर्म हो जाती है। स्पष्ट है कि कर्मसिद्धांत आस्रव और बंध से बचने तथा संवर-निर्जरा के अनुसार चलने का संदेश देता है। कर्मसिद्धांत के अनुसार व्यवहारिक जीवन में हर कदम पर सावधानी रखकर चले तो मनुष्य बहुत कुछ अंशों में पाप कर्मों से बच सकता है।

प्रथमप्रकरण - कर्मसिद्धांत के मूल ग्रंथ आगम वाङ्मय

इस प्रथम प्रकरण में जैन दर्शन और साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म काल की सीमा में आबद्ध नहीं है, वह अनादि है। विभिन्न युगों में तीर्थंकरों द्वारा कर्मसिद्धांत के विषय में विश्लेषण होता रहा है। संयम, विरति, साधना, तपश्चरण, शील, सद्भावना आदि आचार मूलक सिद्धांत कर्मवाद और अनेकांतवाद दर्शन पर आधारित है। वर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत हमें आगमों के रूप में प्राप्त है।

कर्मसिद्धांत जैन धर्म और दर्शन पर आधारित है। जिस पर साधना के बहुमुखी आयाम आश्रित हैं। अष्टकर्मों को नष्ट करना साधना का चरम लक्ष्य है। आगमों और पश्चात्वर्ती जैन साहित्य में विभिन्न प्रसंगों में आठों ही कर्मों पर विविध दृष्टियों से व्याख्या की गई है। आगम आदि ग्रंथ जैनधर्म और दर्शन के मूल स्त्रोत हैं। जैन परंपरा में अपने सिद्धांतों के अनुरूप साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ है। आगमों पर तथा अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर विद्वानों ने व्याख्यायें लिखी और स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की, साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। साहित्य सर्जन का यह क्रम निरंतर गतिशील रहा। प्राकृत और संस्कृत में विपुल साहित्य रचा गया। लोक भाषाओं में भी रचनाओं का वह क्रम विकासशील रहा।

जैन आगम तथा उससे संबंधित पश्चात्वर्ति साहित्य इस कर्म सिद्धांत के प्रबंध का मुख्य साधन है। कर्म सिद्धांत का स्वरूप और विश्लेषण स्पष्ट करने में यह उपयोगी होगा। इसी दृष्टिकोण से प्रथम प्रकरण में संक्षेप में आगमों, उनका व्याख्या साहित्य तथा इतर साहित्य पर प्रकाश डाला गया है।

जैन धर्म का स्रोत अनादिकाल से गतिशील है। यह निःसंदेह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि आज भी जैन धार्मिक परंपरा जैसी भगवान महावीर के समय में थी, उसी प्रकार साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकामय चतुर्विध संघ के रूप में अखंडित विद्यमान है। अन्य धार्मिक परंपराएँ आज अपने प्राचीनतम आचार संहिता मूलरूप में दृष्टि गोचर नहीं होतीं। जैनधर्म का साहित्य भंडार बडा विशाल है। आगमों के संबंध में पूर्व पृष्टों में यह उल्लेख किया ही जा चुका है कि प्राचीन भारतीय जीवन समाज एवं चिंतनधारा पर बडे व्यापक रूप में प्रकाश डाला गया है।

आगमोत्तर-काल में विविध शैलियों में विपुल मात्रा में साहित्य रचा गया। जैन साहित्यकारों, कवियों और लेखकों का इस बात की ओर सदा से ही विशेष ध्यान रहा कि वे ऐसे ग्रंथों की रचना करें, जिनसे साधु-साध्वियों को तो लाभ होता ही है, गृहस्थ-जिज्ञासुओं और साधकों को भी मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त होती है।

आगम समाज की अनुपम निधि है। उसे समाज का दर्पण कहा जाता है। जिस तरह दर्पण में व्यक्ति का आकार दृष्टि गोचर होता है, वैसे ही साहित्य और आगम में समाज का सजीव चित्रण विद्यमान रहता है। वह कभी पुरातन नहीं होता। जितनी बार उसका अध्ययन किया जाता है, उसे पढा जाता है, उतनी ही उसमें नवीनता प्राप्त होती है।

क्षणे-क्षणे यज्जवामुपैति तदेव रूपं रमणीयः।

जो प्रतिक्षण नवीनता प्राप्त करता जाए, वही रमणीयता या सुंदरता का रूप है, अर्थात् साहित्य का सौंदर्य कभी पुरातन नहीं होता, कभी मिटता नहीं, इसलिए उसमें समग्र मानव जाति का आकर्षण, हित एवं कल्याण, सन्निहित रहता है।

इस दृष्टि से जैन-साहित्य की अनुपम विशेषता है। उससे सहस्त्राब्दियों तथा शताब्दियों से कोटि-कोटि जनता लाभान्वित होती रही है। आज भी साहित्य अपने उसी प्राचीन गौरव के लिए प्रसिद्ध है। साहित्य को-

सत्यं शिवम् सुंदरम्

कहा जाता है। वह सुंदर होने के साथ-साथ सत्य है। त्रैकालिक शाश्वतता लिए हुए है। तथा शिव या परम कल्याणकारी है।

जिस समाज एवं धर्म का साहित्य जीवित होता है। वह समाज और धर्म कभी मरता नहीं, मिटता नहीं। वह अजरअमर होता है। जैन साहित्य इसी कोटि में आता है। विभिन्न विद्याओं की शैलियों में - पद्यात्मक, गीतात्मक, गद्यात्मक आदि रूपों में दर्शन विषयक सूत्रग्रंथ, महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तकाव्य, चंपुकाव्य, चरितकाव्य, कथानक, रास इत्यादि अनेक प्रकार की रचनायें हुई। उन सब में लेखकों का, रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य यही रहा कि जन-जन को धार्मिक जीवन अपनाने की प्रेरणा प्राप्त हो। लोग आध्यात्मिक उत्थान के पथ पर आगे बढें।

संयम, शील, त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि की दिशाओं में सदैव प्रगति करते जायें। इस प्रकार निरंतर आगे बढते हुए जन्म-मरण से छूट जाये, मोक्ष-लक्ष्मी या सिद्धावस्था को प्राप्त करें। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता, जैनधर्म के (कालचक्र) छह आरा की मान्यता, श्रमण संस्कृति की विशेषता इत्यादि विषयों का वर्णन प्रथम प्रकरण में किया गया है।

जैन मान्यतानुसार अनंत चौबीसी हो गई हैं, उनमें से वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकर और भगवान महावीर का विवेचन इस प्रथम प्रकरण में दर्शाया है। भगवान महावीर का उपदेश और श्रुत परंपरा इस विषय पर आलेखन किया हुआ है। जैन धर्मग्रंथ, आगम, आगमसाहित्य की तीन वाचयाएँ उनका विभाजन, वर्गीकरण और बत्तीस आगमों में कर्मसिद्धांत का वर्णन तथा आगमों की विशेषताएँ आदि का प्रथम प्रकरण में वर्णन किया हुआ है।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत और भगवान महावीर की वाणी का आगम ग्रंथों में गणधर भगवंतों ने जो उत्तम प्रकार से संकलन किया है, वह जैनधर्म को समझने के लिए अनिवार्य है। भगवान महावीर का उपदेश आगमों के पन्ने-पन्ने पर ही नहीं, लेकिन शब्द-शब्द में गूंथा हुआ है, इसलिए आगम ग्रंथ का जैन समाज पर महान उपकार है। विश्व के आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उसका अद्‌भुत प्रभाव है। जैनधर्म को संपूर्ण रीति से समझने के लिए आगम ग्रंथों के अभ्यास की नितांत आवश्यकता है, इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में श्रमण संस्कृति की विशेषता और आगमों में कर्म-सिद्धांत का संक्षेप में परिचयात्मक विवरण देने का विनम्र प्रयत्न किया है।

द्वितीयप्रकरण - कर्म का अस्तित्व

जैन दर्शन को समझने की कुंजी है - 'कर्मसिद्धांत'। यह निश्चित है कि समग्रदर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्‌घाटित करता है 'कर्मसिद्धांत'। इसलिए जैन दर्शन को समझने के लिए कर्मसिद्धांत को समझना अनिवार्य है।

द्वितीय प्रकरण में कर्म के अस्तित्व के विषय में प्रकाश डाला है। इसमें इन्द्रभूति गौतम की आत्मा विषयक शंका और उसका निवारण, ज्ञानगुण के द्वारा आत्मा का अस्तित्व, शरीरादि भोक्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि, परलोक के रूप में आत्मा की सिद्धि, उपादान कारणों के रूप में आत्मा की सिद्धि, आगम प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व, आत्मा का असाधारण गुण चैतन्य, जहाँ कर्म वहाँ संसार, संसारी दशा का मुख्य कारण कर्म इत्यादि विविध दृष्टि-कोणों से विश्लेषण किया गया है।

कर्म के आवरणों के निरोध मूलक संवर के लिए जिन प्रबल आत्म परिणामों की आवश्यकता होती है वह तप के द्वारा, ध्यान के द्वारा, अभ्यास द्वारा, कर्मक्षय किया जाता है। पुनः पुनः संसार सागर में परिभ्रमण करानेवाला कर्मप्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। चिरकाल से लिप्त कर्ममल धुलता जाता है, यह दूसरी आध्यात्मिक उपलब्धि है जिसका उल्लेख आगमों में आगमगत अनुयोगों में तथा कर्मग्रन्थों में हुआ है इन दोंनो आध्यात्मिक उपलब्धियों से यह परमोत्कृष्ट परिणाम प्रस्फुटित होता है। जिसके लिए जीव अनंतकाल से व्याकुल है।

दार्शनिक भाषा में जीव को संसार परिभ्रमण और कर्मों से मुक्ति/मोक्ष प्राप्त करना इससे बढकर इस त्रैलोक्य में दूसरी कोई उपलब्धि नहीं है, कर्मक्षय का यह महत्तम लक्ष्य है। कर्म अस्तित्व का मूलाधार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म क्यों माने? पूर्वजन्म के समय शरीर नष्ट होता है आत्मा नहीं, प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा पूर्वजन्म का वृत्तांत, प्रत्यक्ष ज्ञानियों और भारतीय मनीषियों द्वारा पुनर्जन्मकी सिद्धि, ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत, उपनिषद में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख, भगवत्गीता में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख, बौद्ध दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म, सांख्यदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म योग दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म, पूर्व जन्म के वैर-विरोध की स्मृति से पूर्वजन्म की सिद्धि, पाश्चात्य ग्रंथों में पुनर्जन्म की सिद्धि आदि अनेक दृष्टियों से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का विस्तृत विश्लेषण यहाँ किया गया है।

कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया

इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन आदि जितने भी आस्तिक दर्शन हैं उन्होंने कर्म को आत्मा के द्वारा कर्ता माना है। आत्मा को ही कर्मों का कर्ता, फल भोक्ता, क्षय कर्ता एवं विचित्रताओं व विलक्षणताओं का मूल कारण माना है। कर्मों का निरोध एवं क्षय करने का पुरुषार्थ भी आत्मा ही करती है। अतः कर्म का क्षय स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करने से पूर्व आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करना अनिवार्य समझा।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होने के साथ ही आत्मा और कर्म का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कुछ धर्मसंप्रदाय आत्मा को मानते हुए भी उसका पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म नहीं मानते।

चार्वाक तो आत्मा को ही नहीं मानते, वे तो उसी जन्म में पंचभूतों से उत्पन्न चैतन्य शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट होना मानते हैं। चार्वाक दर्शन का कहना है कि-

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत भस्मि भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

नास्तिक मतों का निराकरण कर्म सिद्धांत ने प्रतिपादित किया है कि आत्मा सचेतन होते हुए भी अचेतन (पौद्गलिक) कर्म के साथ उसकी यात्रा, प्रवाहरूप से अनादि अनंत है, किंतु व्यक्तिगत रूप से अनादि सांत भी है, जैसे प्रति समय कर्म बाँधते हैं वैसे कर्मों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम भी संवर और निर्जरा के कारण होता रहता है। आत्मा के साथ कर्मों के संयोग के कारण वह विभिन्न गतियों और योनियों में तब तक परिभ्रमण करता रहता है जब तक वह सर्व कर्मों से मुक्त नहीं हो जाता है। इस दृष्टि से कर्म के कारण जीव का एक जन्म के शरीर का अंत होकर दूसरे जन्म में जाना पुनर्जन्म है।

कर्मविज्ञान ने इस परिणामी नित्यत्व के कारण कर्ममुक्त आत्मा का पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सर्वज्ञों द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया है। आगम प्रमाण से एवं वर्तमान युग में परामनोवैज्ञानिकों एवं जैव वैज्ञानिकों के द्वारा जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि विभिन्न धर्म संप्रदायों ने जातिस्मरण (पूर्वजन्म की स्मृति) ज्ञान से प्रामाणिक करके प्रत्यक्ष सिद्ध किया है। अतः पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की विभिन्न सच्ची घटनाएँ तथा पूर्वजन्म के मानवों द्वारा प्रेतयोनि में जन्म लेकर मानवों को अपना अस्तित्व को कर्म-विज्ञान ने सिद्ध करके दिखाया है। इस प्रकरण में अनेक प्रकार से विवेचन किया है।

कर्म अस्तित्व कब से कब तक? तात्त्विक दृष्टि से कर्म और जीव का सादि और अनादि संबंध, आत्मा अनादि है तो क्या कर्म भी अनादि है? भव्य जीव और अभव्यजीव के लक्षण आदि विषयों का निरूपण किया है। जिस प्रकार स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का संबंध अनादि मानने पर भी मनुष्य के प्रयत्न विशेष द्वारा इन्हें पृथक्-पृथक् किया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्म का संबंध प्रवाहरूप से अनादि होते हुए भी दोनों को महाव्रत, समिति-गुप्ति, दशविध-धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्राराधना, बाह्याभ्यंतर तप आदि से पृथक्-पृथक् किया जाता है। अतः आत्मा और कर्म का अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि अनंत, भव्यजीव की अपेक्षा से प्रवाहतः अनादिसान्त और एक भव्य साधक के विशेष कर्म की अपेक्षा से सादिसांत है, यह भी कर्म सिद्धांत ने सिद्ध कर दिया है कि प्रवाह रूप से अनंत जीवों की अपेक्षा से संसार अनादि अनंत है; किंतु एक व्यक्ति की अपेक्षा से जन्ममरण, कर्म आदि का अंत होने से वह अनादि सांत भी है। जब तक कर्म है तब तक संसार है, जब कर्म का सर्वथा अभाव हो जायेगा, तब संसार का अंत होकर मोक्ष हो जायेगा।

कर्मक्षय की प्रक्रिया जैन धर्म की प्राणप्रतिष्ठा है, जिससे सिद्ध परमात्मा सर्वोच्च शिखर-सिद्धालय पर सुशोभित हैं। साधक से साधना मार्ग शुरु होता है। वह धर्म के द्वारा कर्म के भार से मुक्त होता है तथा कर्मक्षय करने की कला आत्मसात कर लेता है। जैन धर्म में साधक को कर्मसिद्धांत समझना यह मूल पाया है, यही कारण है कि इस शोध प्रबंध में जैनधर्म में कर्मसिद्धांत का उल्लेख किया गया है।

तृतीयप्रकरण - कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

भारतवर्ष में जितने भी तीर्थंकर, सर्वज्ञ, केवलज्ञानी, ऋषिमुनि, साधुसंत, श्रमणोपासक, साधक हुए हैं, उन सभी ने अपने-अपने ढंग से अध्यात्म साधना करते समय आत्मा के साथ जन्मजन्मांतर से बद्ध कर्म को आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ किया है। उन आध्यात्मिक शक्तियों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा रूप महाव्रतों की साधना करते समय राग-द्वेष मोह हिंसादि अशुद्ध साधना, मिथ्यादृष्टि आदि दूषित बातें न अपनाने का ध्यान रखा। आत्मगुणों के विघातक अष्ट कर्मों का क्षय करके वे स्वयं वीतराग, सर्वज्ञ, जीवनमुक्त परमात्मा बनें और उन्होंने भव्य जीवों को कर्म से मुक्त होने का अनुभव ज्ञानरूप प्रसाद वितरित किया।

तृतीय प्रकरण में कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन इसका विशेष विश्लेषण किया गया है। उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है- कर्मप्रवाह तोडे बिना परमात्मा नहीं बनते, कर्मवाद का आविर्भाव का कारण, भगवान ऋषभदेव के द्वारा कालानुसार जीवन जीने की प्रेरणा, कर्ममुक्ति के लिए धर्मप्रधान समाज का निर्माण, भगवान ऋषभदेव के द्वारा धर्म, कर्म, संस्कृति आदि का श्रीगणेश, भगवान ऋषभदेव द्वारा कर्मवाद का प्रथम उपदेश, कर्मवाद का आविर्भाव क्यों और कब? तीर्थंकरों द्वारा अपने युग में कर्मवाद का आविर्भाव आदि विषयों का विश्लेषण इस प्रकरण में किया गया है।

कर्मवाद का आविर्भाव

जैन कर्मविज्ञान मर्मज्ञों के समक्ष यह प्रश्न आया कि जैन दृष्टि से कर्मसिद्धांत का आविर्भाव कब से हुआ? तो उन्होंने आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के जीवन पर आद्योपांत दृष्टिपात किया है। तीर्थंकर परंपरा से पूर्व भोगभूमि का वातावरण था, जिसमें प्राणी को आजीविका के लिए कुछ भी नहीं करना पडता था। कल्पवृक्ष द्वारा सारी जीवनोपयोगिता पूर्ण होती थी। पूर्वोपार्जित कर्मों का भोग जीव करता था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म से इस परंपरा में परिवर्तन होने लगा। फलस्वरूप आजीविका के लिए प्राणी को कर्म करने की अपेक्षा हुई। तीर्थंकर ऋषभदेव ने कर्मभूमि का प्रर्वतन किया। असि-मसि-कृषि आदि ललित-कलाओं का सूत्रपात आम जनता के सामने किया। इन कर्मों को धर्म मर्यादा में करते हुए कर्म का निरोध करने के साथ पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने के लिए सम्यग्दृष्टिपूर्वक

शुद्ध धर्म का प्रशिक्षण एवं उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि आत्मा के साथ कर्म प्रतिक्षण बंधता है। वैसे ही धर्म पुरुषार्थ से कर्म छूट भी सकते हैं।

भगवान ऋषभदेव से कर्मवाद का आविर्भाव भी हुआ, उन्होंने आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का निरोध, क्षय करने हेतु अगार धर्म से अणगार धर्म अंगीकार किया। आम जनता को भी अपने जीवन द्वारा इन दोनों धर्मों का उपदेश दिया। दोनों धर्मों का लक्ष्य एक ही था। सर्व कर्म से मुक्ति पाना, इसलिए कर्मवाद के प्रथम उपदेशक, आविष्कार करनेवाले एवं प्रेरक भगवान ऋषभदेव कहे जाते हैं।

भगवान महावीर द्वारा कर्म का आविर्भाव, जैनदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थानकाल, कर्मवाद के समुत्थान का मूलस्त्रोत, कर्मवाद का विकासक्रम, विश्व वैचित्र्य के पाँच कारण, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषार्थवाद, मोक्ष प्राप्ति में पंचकारण समवाय, सर्वत्र पाँच कारण से कार्यसिद्धि आदि विषयों पर विवेचन इस प्रकरण में किया गया है।

अवसर्पिणी काल के कालक्रम में हुए चौबीस तीर्थंकरों ने अपने अपने युग में कर्मसिद्धांत की अनुभूति के आधार पर प्रचार प्रसार किया। एक तीर्थंकर के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर होने पर लाखों वर्ष निकल जाते हैं। इतने लंबे काल में जनता की तत्त्वज्ञान की स्मृति, धारणा परंपरा धूमिल हो जाती है, इस कारण बीच-बीच में कर्मवाद का तिरोभाव हो जाता है।

कर्मवाद का समुत्थान कब से और किनके द्वारा हुआ? तो जैन विज्ञान विशारदों ने एक मत से यह निर्धारित किया कि वर्तमान में जितना भी तत्त्वज्ञान है तथा जो भी आगम या द्वादशांग शास्त्र हैं, वे सभी भगवान महावीर के उपदेश की संपत्ति हैं। भगवान महावीर ने अपने जीवन के अनुभवों से कर्म सिद्धांत का प्रचार प्रसार किया, इसलिए कर्मवाद के आद्य समुत्थान का श्रेय भगवान महावीर को है और इसे ही समुत्थानकाल समझना चाहिए।

कर्मविज्ञान के तत्त्वज्ञों ने कर्म सिद्धांत के प्रत्येक पहलुओं पर सांगोपांग चिंतन, मनन एवं विश्लेषण किया है। जैन कर्ममर्मज्ञों ने कर्मवाद की व्यापकता की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया है। कर्मवाद के संबंध में अनेक ग्रंथों की रचना हुई। जिनकी व्याख्या जीवन के सभी क्षेत्रों को स्पर्श करती है। जैन कर्म सिद्धांत वैज्ञानिकों ने विश्ववैचित्र्य की व्याख्या कर्मवाद के आधार पर की। साथ ही उन्होंने प्रत्येक कार्य में निम्नोक्त पाँच कारणों पर विचार करना अनिवार्य बताया। १) काल, २) स्वभाव, ३) नियति, ४) कर्म, ५) पुरुषार्थ। जैन कर्म वैज्ञानिकों ने प्रत्येक प्रवृत्ति, कार्य या घटना ये पाँच कारणों की मुख्यता या गौणता के आधार पर माना है।

पाँच कारणों की समीक्षा

संसार के प्रत्येक कार्य उपरोक्त पाँचों कारणों के मेल से होता है। यह उदाहरणों से सिद्ध करके बताया है तथा अंत में निष्कर्ष के रूप में कर्म और पुरुषार्थ इन दोनों को पुरुषार्थ के रूप में बताया है। वर्तमान में किया जाने वाला उद्यम पुरुषार्थ है तथा भूतकाल में किया पूर्वकृत पुरुषार्थ कर्म है। पाँच कारणों में से प्रथम तीन कारण काल, स्वभाव और नियति यह जड से संबंधित हैं, और अंतिम दो कारण कर्म और पुरुषार्थ ये चेतन से संबंधित हैं, इसलिए पुरुषार्थवाद को ही कर्मक्षय में मुख्य कारण मानकर संवर, निर्जरा एवं मोक्ष की ओर गति-प्रगति करने की प्रेरणा कर्मसिद्धांत देता है, क्योंकि चेतना का स्व-पुरुषार्थ ही पाँचों कारणों में उत्तरदायी है।

'कर्म' शब्द के विभिन्न अर्थ और रूप

जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्मों का सार्वभौम साम्राज्य है, कर्म और उसके फल पर विश्वास रखना चाहिए। व्यवहार में कर्म शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। समस्त शारीरिक, मानसिक, वाचिक क्रियाओं को कर्म कहा जाता है। किसी स्पंदन, हलचल या क्रिया के लिए कर्म शब्द का उपयोग किया जाता है।

वैय्याकरणों ने कर्मकारक अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग किया है, वैदिक परंपरा में यज्ञ-याग को 'कर्म' कहा है। चारों वर्णों में निश्चित कर्तव्यों को एवं मर्यादा पालन करने को कर्म कहा है, पौराणिक मत के अनुसार धार्मिक क्रियाको कर्म कहते हैं, गीता में आकांक्षा रहित अनासक्त भाव से किया गया कार्य 'कर्म' कहा गया है। बौद्ध दार्शनिकों ने शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रिया के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है। जैन दर्शन के अनुसार जीवात्मा के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग आदि हेतुओं (कारणों) से जो क्रिया की जाती है, वह कर्म है।

कर्म के दो रूप- द्रव्य और भावकर्म। द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्रक्रिया, कर्म संस्काररूप भी और पुद्गलरूप भी, आत्मा की वैभाविक क्रिया कर्म, प्रमाद ही संस्कार रूप कर्म (आस्त्रव) का कारण, कार्मण शरीर कार्य भी है और कारण भी है, जीव पुद्गल कर्म चक्र आदि विषयों का विस्तृत निरूपण इस प्रकरण में किया है।

जैन दर्शन में कर्म के समस्त स्वरूप को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए कर्म के भावात्मक और द्रव्यात्मक दोनों पक्षों पर विशदरूप से विचार किया है। ज्ञानावरणीय पुद्गल द्रव्य का पिंड 'द्रव्यकर्म' है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति अथवा उस पिंड में फल देने की शक्ति 'भावकर्म' है। 'द्रव्यकर्म' में पुद्गल की मुख्यता और आत्मिक

तत्त्व की गौणता होती है जबकि भाव कर्म में आत्मिक तत्त्व की मुख्यता और पौद्गलिक तत्त्व की गौणता होती है।

कर्म सांसारिक प्राणियों के जीवन में बँधा हुआ एक नियम है। भगवान महावीर ने कहा है कि जो नियम है, धर्म है; वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, जिनोपदिष्ट है।' वह नियम इस प्रकार है- जहाँ स्वाभाविक क्रिया नहीं है, वैभाविक क्रिया है वहाँ आत्मा कर्म से बद्ध होती है, इसलिए कर्म केवल संस्कार रूप ही न होकर पुद्गल रूप भी है।

क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में नियमानुसार कर्मबद्ध जीव आत्मा के रागादि परिणामजन्य संस्कार के रूप में रहते हैं, फिर आत्मा में स्थित प्राचीन कर्मों के साथ ही नये कर्मबंधन की प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार परंपरा से कदाचित् कर्मबद्ध अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मद्रव्य का संबंध है। संसारी जीव और कर्म के इस अनादि संबंध को जीव पुद्गल कर्मचक्र के नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार कर्मवाद एक ऐतिहासिक पर्यालोचन का इस तृतीय प्रकरण में विस्तारपूर्वक तुनलात्मक दृष्टि से विवेचन किया है, जिसे सरलतापूर्वक लोग समझ सकें।

मानव जीवन को उन्नत और तेजस्वी बनाने के लिए धर्म ही श्रेष्ठ है। धर्म से आत्मा का विकास होता है। जिसको धर्म की रुचि होती है, वही अपने बाँधे हुए कर्मों को क्षय करने में सक्षम होता है और उसके द्वारा ही सिद्धत्व की ओर प्रयाण कर सकता है। कर्मक्षयरूपी पुष्प की माला जो साधक धारण करेगा उसका जीवन वैराग्यरूपी सद्गुणों से सुंगधित होगा और राग-द्वेष कर्मरूपी दुर्गंध दूर होगी तब साधक शीघ्रातिशीघ्र वीतरागता को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

चतुर्थप्रकरण - कर्म का विराट स्वरूप

पुष्प में जैसे सुंगध, तिल में जैसे तेल, दूध में जैसे मलाई, धातु में जैसे मिट्टी, लोहे के गोले में जैसे अग्नि उसी प्रकार आत्म प्रदेशों में कर्म पुद्गल का समावेश होता है। आत्मा के साथ राग-द्वेषादि के कारण कर्म पुद्गल क्षीर-नीर की तरह एकीभूत हो जाते हैं। कर्म जब तक रहते हैं, तब तक जीव संसार में विविध गतियों और योनियों में विविध प्रकार के शरीर धारण करके परिभ्रमण करते रहते हैं, नाना दुःख उठाते हैं तथा भयंकर से भयंकर यातनाएँ सहन करते हैं, इसलिए साधक को इन कर्मों को आत्मा से पृथक् करना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब कर्म के स्वरूप को व्यक्ति जान ले।

कमल के विकास में सूर्य निमित्त बनता है, कुमुदों के विकास में चंद्र निमित्त बनता है, अंधकार को दूर करने में प्रकाश निमित्त बनता है, आत्मोन्नति के विकास में धर्म निमित्त

बनता है, मोक्ष प्राप्ति में ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीयकर्म, वेदनीयकर्म, मोहनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अंतरायकर्म आदि आठकर्मों का क्षय निमित्त बनते हैं।

आठकर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय आदि घातिकर्म हैं; और वेदनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म अघातिकर्म हैं।

ज्ञानावरणीय

ज्ञानरूपी गुण को ढांकने वाला कर्म ज्ञानावरणीयकर्म है। जो कर्म ज्ञान नहीं होने देता, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जिस प्रकार आँख पर पट्टी बाँधने से वस्तु नहीं दिखाई देती उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को आवृत करता है, इससे ज्ञान नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म छः प्रकार से बँधता है और उसका फल १० प्रकार से भोगा जाता है।

ज्ञान के पाँच भेद हैं-

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

दर्शनावरणीय कर्म का निरूपण, दर्शनावरणीय कर्म छः प्रकारे बाँधते हैं और ९ प्रकार से भोगे जाते हैं तथा दर्शनावरणीय कर्म का प्रभाव।

दर्शनावरणीय कर्म

आत्मा के दर्शनगुणों को रोकने वाला 'कर्म' 'दर्शनावरणीय कर्म' है, जो दर्शन अर्थात् आत्म-अनुभूति में बाधक बनता है वह 'दर्शनावरणीय' कर्म है। जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन नहीं होने देता उसी प्रकार यह कर्म सामान्य बोध नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म ६ प्रकार से बंधता हह और ९ प्रकार से भोगा जाता है।

वेदनीयकर्म का विस्तार, साता-असाता का विस्तार साता-असाता कर्म का फलानुभाव।

वेदनीयकर्म

जिससे सुख-दुःख का अनुभव होता है वह वेदनीयकर्म है। वेदनीयकर्म का स्वभाव मधु से लिप्त हुई तेज तलवार के समान है। उसे चाटने पर वह मीठी लगती है, लेकिन जिव्हा को काटती है, उसी प्रकार वेदनीयकर्म सुख-दुःख का अनुभव कराता है।

वेदनीयकर्म के दो भेद : सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म । यह दश प्रकार से बंधता है और १२ प्रकार से भोगा जाता है।

मोहनीय

मोहनीय कर्म का निरूपण, मोहनीय कर्म का विस्तार, चारित्रमोहनीय कर्म का स्वरूप,

दर्शन मोहनीयकर्म की तीन प्रकृतियाँ, चारित्र मोहनीयकर्म के दो भेद, कषाय-चारित्रमोहनीयकर्म की १६ प्रकृतियाँ नौ कषाय चारित्र मोहनीयकर्म की ९ प्रकृतियाँ हैं।

मोहनीय कर्म

सम्यक्त्व और चारित्र गुणों का घात करनेवाला कर्म मोहनीय कर्म है। मोहनीयकर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है, जिस प्रकार मदिरा जीव को बेभान कर देती है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म जीव के विवेक को नष्ट कर देता है।

मोहनीयकर्म के दो भेद : १) दर्शन मोहनीयकर्म, २) चारित्र मोहनीय।

मोहनीयकर्म ६ प्रकारे बाँधा जाता है और पाँच प्रकार से भोगा जाता है।

आयुष्यकर्म

आयुष्यकर्म का निरूपण, आयुष्यकर्म का विस्तार, आयुष्यकर्म १६ प्रकारे बाँधे और चार प्रकार से भोगे जाते हैं। आयुष्यकर्म का प्रभाव आदि विषयों का विवेचन इस प्रकरण में है।

जो कर्म जीव को किसी गति विशेष में, शरीर विशेष से बाँधे रखता है, उसे आयुष्यकर्म कहते हैं। जिससे जन्म होता है वह आयुष्यकर्म है। आयुष्यकर्म का स्वभाव हथकडी के समान है, जिस प्रकार हथकडियाँ सजा की अवधि तक बाँधे रखती है, उसी प्रकार आयुकर्म भी आयुष्य की समाप्ति तक जीव को शरीर विशेष से बाँधकर रखता है। आयुष्यकर्म चार प्रकार से बाँधा जाता है और उसका फल १६ प्रकार से भोगा जाता है।

नामकर्म

जिस कर्म से जीव के शरीर की निर्मिति होती है, वह नामकर्म है। जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति होती है, उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के समान है। जिस प्रकार चित्रकार अनेक आकार बनाता है उसी प्रकार यह कर्म, मनुष्य, तिर्यंच आदि शरीर बनाता है।

नामकर्म के दो भेद - १) शुभनामकर्म, २) अशुभनामकर्म ।

शुभनामकर्म बंध चार प्रकार से होता है और १४ प्रकार से भोगा जाता है। अशुभ-नामकर्म चार प्रकार से बांधा जाता है और चौदह प्रकार से भोगा जाता है।

नामकर्म का निरूपण, नामकर्म का विस्तार, नामकर्म आठ प्रकार से बाँधा जाता है। नामकर्म २८ प्रकार से भोगा जाता है, नामकर्म का प्रभाव ।

गोत्रकर्म

गोत्रकर्म का निरूपण, गोत्रकर्म की १६ प्रकृतियाँ, गोत्रकर्म १६ प्रकार से भोगें तथा

गोत्रकर्म का प्रभाव आदि विषयों का निरूपण है। जिस कर्म उदय से जीव को प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है वह गोत्रकर्म है अथवा उच्च-नीच अवस्था प्राप्त होती है उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

गोत्रकर्म का स्वभाव कुंभकार के समान है। जिस प्रकार कुंभकार छोटे बडे अनेक कुंभ बनाता है, उसी प्रकार यह नामकर्म उच्चनीच गोत्र प्राप्त कराता है। गोत्रकर्म दो प्रकार का है- उच्चगोत्र और नीच।

उच्चगोत्र और नीचगोत्र आठ प्रकारसे बाँधा जाता है। और आठ प्रकार से भोगा जाता है।

अंतरायकर्म

अंतराय कर्म का निरूपण, अंतराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ, अंतराय कर्मबंध के पाँच कारण, अंतराय कर्म पाँच प्रकार से भोगे, अंतराय कर्म का प्रभाव।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न पैदा करने वाला कर्म 'अंतराय कर्म' है। अंतराय कर्म का स्वभाव राजा के खजानची के समान है। जिस प्रकार राजा की इच्छा के बिना राजा का खजानची दान नहीं कर सकता, अंतरायकर्म दानादि देने नहीं देता।

अंतराय कर्म पाँच प्रकारे बाँधा जाता है। और पाँच प्रकार से भोगा जाता है।

इस प्रकरण में कर्मबंध की परिवर्तनीय अवस्था के दस कारण, कर्मबंध का मूल कारण राग-द्वेष, राग और द्वेष में नुकसान कारक कौन? प्रशस्तराग, अप्रशस्तराग और उनके प्रकार आदि विषयों का विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकरण में आठ कर्मों का नवनीत रूप संक्षिप्त में वर्णन किया गया है। विवेचन में समीक्षात्मक दृष्टि रखी गई है, इसलिए जहाँ जहाँ अपेक्षित लगा है वहाँ वहाँ जैनेतर विचारधाराओं को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धत्व की गौरवमय लंबी यात्रा कर्मक्षय करने पर पूर्ण होती है। आंतरिक पवित्रता, उज्ज्वलता और विशुद्धता आदि कर्मक्षय पर आधारित है। इस प्रकरण में कर्म का विराट स्वरूप के संबंध में किया गया निरूपण सिद्धावस्था या मोक्षमार्ग के साथ जुडा हुआ है। प्रायः इन सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को सविस्तार रूप में प्रकट किया गया है, जिसका ज्ञान मुमुक्षुओं के लिए निश्चय ही लाभप्रद होगा।

पंचमप्रकरण - कर्मों की प्रक्रिया

प्रस्तुत शोधग्रंथ के पंचम प्रकरण में पुद्गल से जीव परतंत्र बनता है, कर्म विजेता तीर्थंकर, आत्मा शरीर के संबंध से पुनः पुनः कर्मबंध, सुख दुःख जीव के कर्माधीन, प्रत्येक

आत्मा स्वयंभू शक्ति संपन्न, कर्म छाया की तरह, कर्म के नियम में कोई अपवाद नहीं जड़ पुद्गल कर्म में असीम शक्ति, कर्मशक्ति से प्रभावित जीवन आदि कर्म संबंधी विषयों का समावेश हुआ है।

सांसारिक जीव का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है। जिसके पीछे कर्म न लगे हुए हों, जीव का ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सुख, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शक्ति, आरोग्य, यश, अपयश, अंगोपांग, मान, सन्मान आदि सभी कर्म की शक्ति के नीचे दबे हुए है। संसार की कोई भी गति, योनि, जाति, क्षेत्र, परिस्थिति, वातावरण, श्रेणी, वर्ग, भूमि आदि एक भी स्थान न बचा हो जहाँ कर्म का सार्वभौम राज्य न हो। कर्म ऐसा शक्तिशाली विधाता है या यमराज है जो प्रत्येक प्राणी के पीछे यहाँ तक महान शक्तिशाली व्यक्तियों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तिओं, वासुदेवों, साधु-साध्वी, श्रमणोपासकों, राजा, सम्राट, धनकुबेर आदि के पीछे भी मुक्ति न हो तब तक कर्म जन्म-जन्मांतर तक लगा रहता है। कर्म की गति सर्वत्र अबाध है। कहीं भी छिपकर बैठ जाने पर भी कर्म के फल से छुटकारा नहीं मिलता। कर्म महाशक्तिशाली रूप है।

इन कर्मों के आगे तीर्थंकरों का भी नहीं चलता तो सामान्य व्यक्ति की बात ही क्या? कर्म और आत्मा दोनों में प्रबल शक्तिमान कौन? कर्म शक्ति को परास्त किया जा सकता है, आत्मशक्ति कर्म शक्ति से अधिक कैसे? आदि विषयों का निरूपण इस प्रकरण में किया गया है।

निश्चय दृष्टि से तो आत्मा की शक्ति अतिशय है। कर्मचक्र की अनवरत गति से यह नहीं समझ लेना चाहिए की उसकी गति पर ब्रेक नहीं लग सकता; बंधे हुए कर्मों को तप, त्याग, चारित्र, व्रत, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा या उदय में आने पर या समभाव से भोगकर नष्ट किया जा सकता है, आत्मा कर्मचक्र से कब तक ग्रस्त रहती है, जब तक वह राग-द्वेष मोह क्रोधादि कषाय के आवेग के कारण बंधनों से बद्ध रहती है। व्यक्ति चाहे तो इन विकारों से आत्मा को बचाकर बंधन से मुक्त हो सकता है, यदि कर्म शक्ति पर आत्म शक्ति विजयी न हो तो तप, संयम की साधना निरर्थक हो जायेगी। अनंत-अनंत तीर्थंकरों, वीतराग पथानुगामी अनेक साधु-संतों की आत्मा ने नये आते हुए कर्मों का निरोध और पूर्वकृत कर्मों का क्षय करके कर्मशक्ति पर विजय प्राप्त की है।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि कर्म महाशक्ति रूप है, किंतु जब आत्मा को अपनी अनंत शक्तियों का भान हो जाता है और वह भेद विज्ञान का महान अस्त्र हाथ में उठाकर तप, संयम में प्रबल पुरुषार्थ करता है तो कर्म की उस प्रचंड शक्ति को परास्त करता है।

इस प्रकरण में आगे बताया गया है कि कर्म मूर्त या अमूर्त, आत्मगुणरूप, कर्म को मूर्तरूप न मानने का क्या कारण, मूर्त का लक्षण और उपादान, जैन दार्शनिक ग्रंथों में कर्म की मूर्तत्व सिद्धि, आप्तवचन से कर्म मूर्त रूप सिद्ध होता है आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

जैन दर्शन कर्म को मूर्त मानता है, क्योंकि उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श होने से वह पौद्गलिक है, रूपी है। अमूर्त में वर्णादि चारों गुण नहीं होते। मूर्त, मूर्तही रहता है, वह कदापि अमूर्त नहीं होता, कर्म मूर्त होते हुए भी सूक्ष्म है। वह सामान्य व्यक्ति के चर्मचक्षु से अदृश्य है। आत्मा को अमूर्त और कर्मों को मूर्त माना जाता है। कर्म के मूर्त कार्यों को देखकर भी उसका मूर्तत्व सिद्ध होता है। अमूर्त आत्मा कभी मूर्त नहीं होती और न ही मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के रूप में परिणत होता है। दोनों स्वतंत्र हैं, एक दूसरे को जरूर प्रभावित करते हैं और अलग भी हो जाते हैं।

कर्मों के रूप

कर्म, विकर्म और अकर्म सांपरायिक क्रियाएँ बंधकारक ईर्यापथिक नहीं, क्रिया से कर्म का आगमन अवश्य, अबंधकारक क्रियाएँ रागादि कषाययुक्त होने से बंधकारक होती हैं, साधनात्मक क्रियाएँ अकर्म के बदले कर्मरूप बनती हैं, कर्म का अर्थ केवल प्रवृत्ति नहीं अकर्म का अर्थ केवल निवृत्ति नहीं। भगवान महावीर की दृष्टि से प्रमाद कर्म, अप्रमाद अकर्म, कर्म-विकर्म में अंतर आदि विषयों का निरूपण इस प्रकरण में किया है।

जैन दर्शन में कर्म, अकर्म और विकर्म की वास्तविक पहचान पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जब तक शरीर है तब तक शरीरधारी को मन, वचन और काया से कोई न कोई कर्म-क्रिया या प्रवृत्ति करनी ही पडती है, यदि सभी क्रियाएँ कर्म कहलाने लगें तो कोई भी मनुष्य तो क्या तीर्थंकर केवलज्ञानी, वीतरागी या अप्रमत्त निर्ग्रंथ भी कर्म परंपरा से मुक्त नहीं हो सकते। नये कर्म बंध से बच भी नहीं सकेंगे, फिर तो कर्मरहित अवस्था एक मात्र सिद्ध परमात्मा की ही माननी पडेगी। जैन कर्मसिद्धांतविदों ने कहा है यद्यपि क्रिया से कर्म आते हैं, परंतु वे सभी बंधकारक नहीं होती, जैनागमों में पच्चीस क्रियाएँ बतायी गई हैं, उनमें से २४ क्रियाएँ सांपरायिक हैं याने कषाय रागद्वेष आदि से युक्त होती हैं इसलिए कर्मबंधकारक हैं और पच्चीसवीं ईर्यापथिकी क्रिया है जो विवेकयुक्त = यत्नाचार परायण, अप्रमत्त संयमी या वीतरागी की गमना-गमनादि या आहार विहारादि चर्या रूप होती है। वह क्रिया कषाय एवं रागादि आसक्तिरहित होने से कर्मबंध कारिणी नहीं होती। बंधक और अबंधक कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है, अपितु कर्ता के परिणाम, मनोभाव या विवेक-अविवेक आदि

हैं। यदि कर्ता के परिणाम रागादियुक्त नहीं हैं, शारीरिक क्रियाएँ भी संयमी जीवन यात्रार्थ अनिवार्य रूप से मद विषयासक्ति, असावधानी, विकथा, अयत्ना, निंदादि प्रमादरहित होकर की जाती है अथवा स्वपर-कल्यणार्थ प्रवृत्ति की जाती है या कर्मक्षयार्थ सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना अप्रमत्तभाव से की जाती है तो उससे होने वाले कर्म रागद्वेष से रहित होने से बंधकारक नहीं होते। अतएव ऐसे कर्मों को अकर्म समझना चाहिए।

भगवान महावीर ने प्रमाद को कर्म कहा है। अप्रमाद को अकर्म कहा है- कर्ता के परिणाम अशुभ होने से संवर और निर्जरावाले स्थान में आस्त्रव और बंध तथा शुद्ध परिणाम हो तो आस्त्रव और बंध होने वाले स्थान में संवर और निर्जरा भी होती है, इस प्रकार कर्म सिद्धांत ने 'कर्म' का अर्थ केवल सक्रियता या प्रवृत्ति नहीं, तथैव 'अकर्म' का अर्थ केवल सक्रियता या प्रवृत्ति नहीं, तथैव अकर्म व अर्थ केवल निष्क्रियता या निवृत्ति नहीं है। जो कर्म रागादि से प्रेरित होकर किया जाता है वह सांपरायिक क्रियाजनित कर्म है इसके सिवा जो रागादिरहित होकर मात्र कर्तव्य रूप से किया जाये वह ईर्यापथिक क्रियाजनित शुद्ध कर्म = अबंधक कर्म = अकर्म है।

जैसे कर्म से ही अकर्म प्रादुर्भूत होता है उसी प्रकार विकर्म भी कर्म से प्रादुर्भूत होता है। कर्म के दो विभाग- एक शुभ और दूसरा अशुभ। शुभ योगत्रय के साथ कषायरहित हो तो शुभास्त्रव = पुण्यरूप शुभबंध = कर्म कहलाता है तथा अशुभ योगत्रय के साथ कषाय हो तो अशुभास्त्रव = पापरूप अशुभबंध = विकर्म कहलाता है।

आचारांग सूत्र में मूलकर्म को विकर्म और अग्रकर्म (शुभकर्म) को कर्म में गिनकर दोनों से बचकर अकर्म करने की प्रेरणा दी है।

इस पंचम प्रकरण में आगे भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म का स्वरूप, बौद्ध दर्शन में कर्म, विकर्म और अकर्म का विचार कौन से कर्म बंधकारक और कौनसे अबंधकारक, तीनों धाराओं में कर्म-विकर्म और अकर्म में समानता, कर्म का शुभ-अशुभ और शुद्ध रूप, शुभकर्म स्वरूप और विश्लेषण, शुभ और अशुभ के निर्णय का आधार, बौद्ध दर्शन में शुभाशुभत्व का आधार, वैदिक धर्मग्रंथों में शुभत्व का आधार, जैनदृष्टि से कर्म का एकांत शुभत्व का आधार, शुद्ध कर्म की व्याख्या, शुभ-अशुभ दोनों कर्मों को क्षय करने का क्रम, अशुभ कर्म से बचने पर शुभ कर्म प्रायः शुद्ध बनते हैं इत्यादि विषयों का विशद विश्लेषण किया है।

संसाररूपी महासमुद्र में अकुशल, अर्धकुशल और कुशल तीन प्रकार के नाविक के

समान तीन प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। जो अकुशल प्रमादी नाविक होता है उसकी नौका छिद्रयुक्त होने से डूब जाती है। उसी प्रकार अकुशल व्यक्ति द्वारा संसाररूपी महासमुद्र में पाप कर्म का ज्वार आता है। आस्त्रव-निरोध-रूप संवर न कर पाने के कारण उसकी जीवन नैया पापकर्म से परिपूर्ण होकर डूब जाती है। जो दूसरे अर्धकुशल नाविक की तरह होते हैं। उनकी जीवन नैया छिद्रयुक्त होते हुए भी व्रत, नियम, जप, तप, संयम आदि पुण्यों से वे अपनी डूबती जीवन नैया की मरम्मत करते रहते हैं और आस्त्रवछिद्र बंद करते रहते हैं। तीसरे प्रकार के साधक अतिकुशल नाविक के समान कष्टों, विपत्तियों, उपसर्गों, परिषहों तथा कषायों के प्रसंग पर समभावरूपी धुरी से अपनी जीवन नैया को खेते हुए प्रशांत कर्मजल से संवर निर्जरा के जल मार्ग से आगे बढते जाते हैं और संसार समुद्र को पार करके सर्वकर्मजल से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

त्रिविध नाविकों के अनुरूप संसारी जीवों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में क्रमशः अशुभ-शुभ और शुद्धकर्म; दूसरे शब्दों में पाप, पुण्य और धर्म कहलाते हैं। शास्त्रों में इन्हें अशुभास्त्रवरूप-शुभास्त्रवरूप और संवर निर्जरारूप बताया है। अंतिम शुद्धकर्म को अकर्म कहा है।

गीता में इन्हीं तीनों कर्मों को तामस, राजस और सात्त्विक कर्म के रूप में पृथक्-पृथक् लक्षण बताकर निरूपित किया है। बौद्ध दर्शन में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्तकर्म कहा है।

बंधक और अबंधक की दृष्टि से विचार करें तो शुभ और अशुभ कर्मबंधक हैं। एक मात्र शुद्ध कर्म ही अबंधक है। छद्मस्थ साधक ज्ञाताद्रष्टा एवं समभावी रहकर शुद्धोपयोग में रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

निष्कर्ष यह है शुभाशुभकर्म का क्षेत्र व्यावहारिक और नैतिकता का है। जिसका आचारण समाज सापेक्ष है। जबकि आध्यात्मिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना का है, अनासक्त वीतरागदृष्टि का है, जो व्यक्ति सापेक्ष है, उनका अंतिम लक्ष्य व्यक्ति को बंधन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना है। यही कर्म के शुभाशुभ और शुद्ध रूप का मूलाधार है।

षष्ठमप्रकरण - कर्मों से सर्वथा मुक्ति : मोक्ष

जैन दर्शन में कर्मों का स्वरूप बताते हुए आस्त्रव, संवर, निर्जरा के द्वारा मोक्ष तक किस प्रकार पहुँचा जाता है इसका विस्तृत विवेचन यहाँ किया गया है। जैनधर्म की मान्यतानुसार प्रत्येक साधक को पाप प्रवृत्ति से मुक्त होकर कर्मक्षय करके मोक्ष की दिशा में

प्रगति करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो दोष का परिहार और गुणों का स्वीकार यह मानव का सच्चा कर्तव्य है। यह प्रवृत्ति मानव को परमसुख और शांति देगी।

प्रत्येक साधक को विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसका मार्गदर्शन वीतराग परमात्मा भगवान महावीर ने बारंबार किया है, क्योंकि मानव मन की चंचलता का माप निकालना बहुत कठिन है इसलिए भगवान महावीर ने सभी साधकों को मन पर अंकुश रखने के लिए विजय मिलाने के लिए बारंबार निर्देश किया है।

''कर्मों से सर्वथा मुक्ति मोक्ष ''। इस षष्ठम प्रकरण में कर्म प्रवेश जीव में कैसे होता है? आस्त्रव की व्याख्याएँ, आस्त्रव के लक्षण, पुण्यास्त्रव और पापास्त्रव, द्रव्यास्त्रव और भावास्त्रव, ईर्यापथिक और सांपरायिक आस्त्रव, आस्त्रव के पाँच भेद इत्यादि विषयों का समाधान किया गया है।

कर्म प्रायोग्य पुद्गल परमाणु सारे आकाश प्रदेश में ठसाठस भरे हैं, जीव के आसपास फैले हुए हैं, वे घुमते रहते हैं, कर्म उसी जीव में प्रवेश करते हैं जहाँ रागद्वेष या कषाय की स्निग्धता हो अथवा जहाँ मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग आदि पाँचों आस्त्रव द्वारों में से कोई भी द्वार खुला होगा तो कर्म का आगमन होगा तो यह आस्त्रव है। आस्त्रव द्वारों में से कोई भी द्वार खुला होगा तो कर्म का आगमन होगा यह आस्त्रव है।

जैसे समुद्र चारों ओर से खुला रहता है जिससे जल से परिपूर्ण नदियाँ उसमें प्रविष्ट होती हैं, इसी प्रकार संसारी आत्मारूपी समुद्र में चारों ओर से कर्मरूपी जल आने के द्वार खुले हों तो मिथ्यात्व, अविरती, प्रमाद, कषाय और योगादि पाँचों आस्त्रव स्त्रोतों से कर्मों का आगमन निश्चित होगा। इसलिए भगवान महावीर ने समस्त संसारी जीवों को सावधान करते हुए कहा है- तीनों लोक में सभी दिशाओं से कर्मों के स्त्रोतों का आगमन होता है। रागद्वेषादि या आसक्ति घृणादिरूप भावकर्म भवरजाल रूप हैं, इन्हें सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करके साधक को इन कर्मस्त्रवों से निवृत्त होना चाहिए।

जीव का परिणमन दो प्रकार का होता है- शुभ और अशुभ। शुभभाव- पुण्यास्त्रव और अशुभभाव- पापास्त्रव। जिस जीव में प्रशस्त भाव है, अनुकंपायुक्त परिणाम है और चित्त की कलुषता का अभाव है उस जीव को पुण्यास्त्रव का बंध होता है, इससे विपरीत आचरण वाले जीवों को पापास्त्रव का बंध होता है।

वास्तव में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग, इन पाँचों पापों का त्याग करना ही पुण्यास्त्रव है। वैसे तो भगवान महावीर ने पुण्यास्त्रव और पापास्त्रव की

उपादेयता बताकर कहा है कि दोनों ही त्यागने योग्य है और शुद्धोपयोग में रहने का उपदेश दिया है।

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों के योग से पुद्गल कर्म का आगमन होता है वह द्रव्यास्त्रव है, और आत्मा के निज शुभाशुभ परिणामों के कारण पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आते हैं, उन परिणामों को भावास्त्रव कहते हैं। सकषाय जीव के सांपरायिक आस्त्रव और अकषाय जीव के ईर्यापथ आस्त्रव कहते हैं। अर्थात् संसारी जीव रागद्वेषयुक्त कषाय सहित क्रिया करते हैं उसे सांपरायिक आस्त्रव कहते हैं, जब कि तीर्थंकर परमात्मा रागद्वेषरहित जन कल्याणार्थ आत्मशुद्धि के लिए क्रिया करते हैं उसे ईर्यापथिक आस्त्रव कहते हैं।

आस्त्रव के पाँच भेद हैं- मिथ्यात्व आस्त्रव, अव्रत आस्त्रव, प्रमाद आस्त्रव, कषाय आस्त्रव, और अशुभयोग आस्त्रव आदि पाँच भेद हैं।

''कर्मबंध च मिथ्यात्वमुक्तम्''।

कर्मबंध का मूल कारण मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व

वीतराग के प्रति रुचि होने पर भी उनके विषय में विपरीत अभिनिवेश को उत्पन्न करने वाले को मिथ्यात्व कहा जाता है। आगमशास्त्र में मिथ्यात्व को पाप कहा है।

अव्रत आस्त्रव

व्रत को विरती कहते हैं और अव्रत को अविरति कहते हैं।

प्रमाद आस्त्रव

मिथ्यात्व और अविरती के समान प्रमादास्त्रव भी जीव का शत्रु है। जागृतता का अभाव प्रमाद कहलाता है। आत्म कल्याण और सत् प्रवृत्ति में अनादर होना प्रमाद है।

कषाय आस्त्रव

जिसके द्वारा संसार की वृद्धि होती है, उसे कषाय कहते हैं। कषाय की गति बडी तीव्र होती है। जन्ममरणरूपी यह संसार कषायों से भरा हुआ है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ हैं।

योगास्त्रव

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काया से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्मपरमाणुओं के साथ आत्मा का योग संबंध स्थापित करती है। इसलिए इसे योग कहा गया है। यदि इन पाँचों ही कर्मास्त्रवों को रोकना हो तो सर्वप्रथम मन,

वचन, काया का निग्रह करना पडेगा।

संवर का संवरण, आस्त्रव को रोकना तथा कर्मों को न आने देना संवर है। आत्मप्रदेश में आगमन करने वाले कर्मों को रोकना ही संवर है। आस्त्रव में आत्मा के पतन की अवस्था दिखाई गई है और संवर में आत्मा के उत्थान की अवस्था दिखाई गई है। आस्त्रव में दोष उत्पादक कारण बताये हैं और संवर में उन कारणों को निर्मूलन करने का उपाय बताया है। संवर में आत्म निग्रह होता है।

आगे इस प्रकरण में सम्यक्त्व का प्रकाश मोक्ष, सम्यक्त्व के लक्षण, सम्यक्त्व के भेद, उसके पाँच अतिचार, विरती, अप्रमाद, अकषाय, अयोगादि आस्त्रव और संवर में अंतर, निरास्त्रवी होने का उपाय आदि विषयों का निरूपण है।

सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का बीज है। सम्यक्त्व याने जिनवचन पर श्रद्धा रखना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है। सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष प्राप्ति की गॅरंटी तथा भव संख्या निश्चित हो जाती है, सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष यात्रा प्रारंभ होती है। सम्यक्त्व के बिना कोई भी व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। सम्यक्-संवर के लिए स्थिरता और सुरक्षा के लिए पाँच अंगों का पालन करना अनिवार्य है। वह पाँच अंग हैं- प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था।

भौतिकता की चकाचौंध में वर्तमान युग का मानव सुविधावादी होता जा रहा है। ऐसे लोग अज्ञान, अंधविश्वास, भ्रांति, मिथ्यादृष्टि, स्वच्छंदाचार का शिकार हो रहे हैं, फिर विरती (प्रत्याख्यान) आदि से रहित जीवन स्वेच्छाचारी निरंकुश हो जाता है। स्थानांगसूत्र में ऐसा जीवन इहलोक, परलोक और आगामी भवों में गर्हित, निंदित कहा गया है। जीवन को विरती युक्त बनाने पर ही संवर, निर्जरा उपार्जित होती है। इसके विपरीत असयंत अविरति जीव भले ही हर समय पापकर्म में प्रवृत्त न हो तो भी त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम आदि अंगीकार न करने से पाप प्रवृत्ति का बंध होता है, अतः प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए सम्यक्त्वपूर्वक विरती संवर की साधना अनिवार्य है। विरती संवर का यही सक्रिय उपाय है।

अप्रमाद कर्म को रोकनेवाला सजग प्रहरी है। इसके बिना साधक की साधना दूषित हो जाती है, इसलिए भगवान महावीर ने गौतम गणधर जैसे उच्च कोटि के साधक को भी उपदेश दिया हे गौतम ! **समयं गोयम मा पमायए**' समय मात्र का प्रमाद मत करो। अप्रमादी साधक सदा जागृत रहकर धर्म क्रिया करता है और निर्जरा भी करता है। स्थानांगसूत्र में भी साधक को अप्रमत्त रहकर शुभयोग संवर के लिए उपयोग रखने को कहा है।

संसाररूपी कारागार से मुक्त होने के लिए अकषाय संवर की साधना अनिवार्य है। कषाय आत्मा का स्वभाव नहीं विभाव है। उससे आत्मगुणों की क्षति होती है। अतः सम्यक्दृष्टि पूर्वक कषायों का निरोध करने से कषाय छूट सकते हैं। अकषाय संवर होता है और कषायजनित कर्मों की निर्जरा होती है।

सांसारिक जीवों की प्रत्येक प्रवृत्ति, मन, वचन, काया के संयोग से होती है। इस प्रवृत्ति को जैन दर्शन में योग कहा है। जिन पाप क्रियाओं से आत्मा बाँधी जाती है उन पाप क्रियाओं को आस्रव या कर्मबंधका द्वार कहते हैं। संयममार्ग पर प्रवृत्त होकर इन्द्रिय, कषाय और संज्ञा का निग्रह करने पर ही आत्मा में पाप बंध नहीं होता है इसे ही संवर कहते हैं, यही आस्रव और संवर में अंतर है।

आगे इस प्रकरण में कर्मों का निर्जरण निर्जरा है, निर्जरा का अर्थ, निर्जरा के दो प्रकार, निर्जरा के बारह भेद, तप का महत्त्व, बंध का स्वरूप, बंध के दो भेद- द्रव्य बंध और भावबंध आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

कर्मों से मुक्त करने वाला तत्त्व निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ पूर्वकृत कर्मों का झड जाना। मोक्षलक्षी बनकर किये जाने वाले तप से निर्जरा होती है। कर्मों का आंशिक रूप से क्षय होना और आत्मा का आंशिक रूप से विशुद्ध होना निर्जरा है। निर्जरा के दो भेद- १) सविपाकी, और २) अविपाकी।

कर्मों का अपनी काल मर्यादा के परिपक्व होने पर अपना फल देकर नष्ट हो जाना सविपाकी निर्जरा है, जब कि पूर्वबद्ध कर्मों को उनकी काल मर्यादा के पूर्ण होने के पूर्व ही उदय में लाकर समाप्त कर देना अविपाक निर्जरा है। छः बाह्य, छः आभ्यंतर भेद से कुल मिलाकर निर्जरा के बारह भेद हैं।

बाह्य और आभ्यंतर तप का लक्ष्य आत्मशुद्धि और समाधि है। बाह्य तप आभ्यंतर तप का प्रवेश द्वार है। दोनों प्रकार के तप एक दूसरे के पूरक हैं। साधक को सकाम निर्जरा या अविपाक निर्जरा के लिए इन बारह प्रकार के तपों की साधना करनी चाहिए। इनके द्वारा कर्मों की अनायास निर्जरा और महानिर्जरा होती है।

तप यह चिंतामणि रत्न के समान है, कर्मरूपी शत्रु को नष्ट करने का अमोघ साधन है। वह संसाररूपी समुद्र को पार कराता है। वह आध्यात्मिक साधना का प्राण है। आत्म प्रदेश में कर्मपुद्गलों का और जीव का अग्नि और लोहपिंड के समान संबंध है, वही बंध है। जब

तक आस्रव द्वार खुला रहता है तब तक बंध होता ही रहेगा। जहाँ आस्रव है वहाँ बंध है। जिससे कर्म बांधा जाता है वह बंध है। जो बंधनरूप है वह बंध है। मोक्ष में जाने का बाधक कारण है, वह बंध है। बंध यह आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है।

आस्रव के द्वारा कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों में आते हैं। निर्जरा द्वारा कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों से बाहर निकलते हैं। कर्मपरमाणुओं का आत्म प्रदेशों में आना अर्थात् आस्रव और उनका अलग होना अर्थात् निर्जरा तथा उन दोनों के बीच की स्थिति को बंध कहते हैं। बंध के दो भेद हैं- द्रव्यबंध और भावबंध। कर्म पुद्गल का आत्मप्रदेशों के साथ जो संबंध बनता है उसे द्रव्यबंध कहते हैं, और भावबंध वह है जो राग, द्वेष, मोह आदि विकार भावों से कर्म का बंध होना। भाव बंध में बेडी का बाह्यबंध द्रव्यबंध और रागद्वेष आदि विभावों का बंधन भावबंध है।

आगे इस प्रकरण में कर्मों से सर्वथा मुक्ति कैसे की जाये, कर्मों का स्वरूप क्या है, मोक्ष प्राप्ति का उपाय, मोक्ष के लक्षण, मोक्ष का विवेचन, विभिन्न दर्शनों में मोक्ष, जैनदर्शन में मोक्ष, द्रव्यमोक्ष और भाव मोक्ष, कर्मक्षय का क्रम, मोक्ष समीक्षा, कर्मक्षय का फलमोक्ष, मोक्ष प्राप्ति का सोपान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि का विश्लेषण है।

कर्मों का क्षय करने के लिए मोक्ष का स्वरूप जानना अत्यंत आवश्यक है। प्राणीमात्र का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है। जैनधर्म में मोक्ष प्राप्ति के मुख्य दो कारण माने गये हैं- संवर और निर्जरा। संवर से आस्रव कर्म का आगमन रुक जाता है अर्थात् नये कर्मों का आगमन नहीं होता और निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म बंधन से मुक्त हो जाना यही मोक्ष है।

जीव मात्र का चरम और परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष में आत्मा की वैभाविक दशा समाप्त हो जाती है। आत्मा एकबार कर्ममुक्त होने पर फिर से कर्मयुक्त नहीं होती। मोक्षप्राप्ति के चार उपाय आगमों में बताये गये हैं- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

जीव रागद्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करके रत्नत्रय की आराधना करता है, तथा अष्टकर्मों को क्षय करने की प्रक्रिया प्रारंभ करता है। सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अंतरायकर्म ये चार घाती कर्मों को क्षय किया जाता है। इन चारों में भी मुख्य कर्म मोहनीय कर्म संपूर्ण रूप से नष्ट होता है, तब ज्ञानावरणीयादि तीनों कर्मक्षय होते हैं। तत्पश्चात् वेदनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म ये चार अघाती कर्म शेष रहते हैं। इसके बाद आयुष्यकर्म जब अन्तर्मुहूर्त (४८

मिनिट) से कम जितना समय शेष रहता है तब मन, वचन और काया के स्थूल व्यापार का निरोध करके केवलज्ञानी शुक्लध्यान में स्थिर होकर मन, वचन एवं काया के सूक्ष्म व्यापार और श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं। उसके बाद पाँच ह्रस्व स्वर अ, आ, इ, ई, ऊ का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक शैलेषी अवस्था में स्थिर हो जाते हैं। शेष आयुष्यकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म एक ही समय में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्ध बुद्ध मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। यह मोक्ष प्राप्ति का क्रम है।

जैन कर्म विज्ञान समग्र जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्यकलापों का वर्णन करता है, जन्म से मृत्यु तक की विविध अवस्थाओं का मुख्य कारणों और निवारणों के उपाय पर विस्तृत विवेचन किया है। जैनकर्मसिद्धांत जीवन विज्ञान है।

आगम और आगमोत्तर काल में जैनाचार्य और लेखकों द्वारा प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत में अन्य ग्रंथों में तथा विविध भाषाओं में कर्म संबंधी साहित्य रचा गया है, उन्होंने अनेक स्थलों पर कर्मसंबंधी अपनी शैली में व्याख्या की है। उनके विचारों को भी यथा प्रसंग उल्लेख करने का प्रयास इस प्रबंध में जैन धर्मानुसार कर्म सिद्धांत की यथामति चर्चा की है।

* * *

संदर्भग्रंथ - सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

अ) मूल व मूलाधार ग्रंथ

अंगुत्तरनिकाय-(भाग १-४)	जगदीश कश्यप, देवनागरी पाली सीरिज, नालंदा, १९६०
अथर्ववेद-	संपा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रका. वसंत श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडळ, श्री भारत मुद्रालय पारडी (सूरत), १९५७
अनुयोगद्वार सूत्र -	मलधारि हेमचंद्रकृत वृत्तिसहित, संपादक रायबहादुर धनपतसिंह, प्रकाशक देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, मुंबई, १९१५
अनुत्तरोपौतिक सूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८९
अन्तकृतदशासूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८१
आत्म-तत्त्व-विचार-	विचयलक्ष्मणसूरिजी, संपा. श्री ज्ञानचन्द्र विद्याविनोद, प्रका. शा. शान्तिलाल हीराचंद वोरा, मुंबई, १९६३
अर्थागम भगवती सूत्र-	संपा. पुप्फ भिक्षु, श्री प्यारे लाल ओमप्रकाश जैन सूत्रागम स्ट्रीट, एस. एस. जैन बाजार, गुडगांव छावनी (हरयाणा), १९७१
अष्टशती-	उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी म.सा.
अष्ट-सहस्री-	आचार्य विद्यानंदी, संपा. पं. वंशीधर, नाथारंगजी गांधी, अकलूज, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, १९१५
अष्टाध्यायी-	पाणिनी, एस्. एम्. कत्रे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८९
आचारांगचूला-	संपा. अनुयोग प्रवर्तक मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाचार्य देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री रत्नमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, मधुकर स्मृति भवन, व्यावर, १९९०
आचारांगचूर्णि-	जिनदासगणी, ऋषभदेव केसरीमल पेढी, रतलाम, १९१४
आचारांगसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा.,

	संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९९५
आचारांगनिर्युक्ति (सटीक)-	जिनहंस व पार्श्वचंद्राचार्य की टीका सहित, धनपतसिंह, कलकत्ता, वि. सं. १९३६
आदिपुराण-	उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी,
आप्तपरीक्षा-	श्री. विद्यानंद स्वामी, संपादक न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल जैन, कोठिया, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, जि. सहानपुर, १९४८
आवश्यकनिर्युक्ति (सटीक)-	श्रीमद् हरिभद्रसूरि, श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, चंदनबाला अपार्टमेंट, आर. आर. ठक्कर मार्ग, बालकेश्वर, मुंबई
आवश्यकसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक पं. शोभाचंद्र भारिल्ल, श्री आगम प्रकाशन समिती, पीपलिया बाजार, ब्यावर, १९८९
इष्टोपदेश-	आचार्य पूज्यपाद, संपा. मुतनश्री विशुद्धसागर, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, २००८
उत्तराध्ययनसूत्र-	गुजराती अनुवाद (दुर्लभजी श्वेताणी)
उत्तराध्ययनसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८४
उत्तराध्ययनसूत्र(सटीक) -	नेमिचन्द्राचार्य, आत्मवल्लभ ग्रन्थालय, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई
उत्तराध्ययनसूत्र-	संपादक-अनुवादक- पू. घासीलालजी महाराज, नियोजक- मुनिश्री कन्हैयालालजी, अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकराट, १९६०
उपासकदशांगसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८४
औपपातकिसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, २०००
ऋग्वेद-	संपा. पद्मभूषण पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रका. बसंत
श्रीपाद	सातवलेकर, स्वाध्याय मंडळ, पारडी (बलसाड),

कठोपनिषद्- संपा. पं. कृष्णमूर्ति, सिंकदराबाद, १९७०

कर्मग्रन्थ (भाग १-६)- पू. मिश्रीलाल जी म.सा., श्री चंद्रसुराणा, श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिती, पीपलिया बाजार, ब्यावर

कर्मप्रकृति- आचार्य शिवशर्म, मलयगिरिकृत टीका, श्रीमद् यशोविजय उपाध्याय, श्री देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, गोपीपुरा, सूरत, १९३६

कल्पसूत्र- पं. नेमिदन्द्रजी, रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर, १९९१

कल्पसूत्र- उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी म.सा., श्री तारकगुरु जैन ग्रंथालय, गुरू पुष्कर मार्ग, उदयपुर

कषाय-पाहुड- आचार्य गुणधर, संपा. सुमेरचन्द्र दिवाकर, शान्तिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण, १९६८

कार्तिकेयानुप्रेक्षा- आचार्य स्वामी कार्तिकेय, संपा. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास, १९६०

कुन्दकुन्द-भारती- संपा. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, श्रुत-भंडार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, १९७०

कुन्दकुन्दांचे रत्नत्रय- सकलन- श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल, अनु. आ. भा. सोनटक्के, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९६५

क्रियाकोश- केशवसिंह, वाचनाप्रमुख-आ. तुलसी, संपा. मोहनलाल बांठिया, जैन दर्शन समिती, कलकत्ता, १९६९

गीता-रहस्य- गीता प्रेस, गोरखपुर

गोम्मटसार (जीवकाण्ड)- श्रीमन् नेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती, शा. रेवाशंकर जगजीवन जवेरी, पं. खूबचंद्र सिद्धांत शास्त्री, द्वितीय वृत्ति, जवेरी बाजार मुंबई, १९२७

चन्द्र-प्रज्ञप्ति- संपा. मुनिश्री कन्हैयालाल, देवेन्द्रमुनि, अनु. युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९९८

छांदोग्य-उपनिषद्- मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर, पंचम आवृत्ति, वि. सं. २०२३

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र- अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा.,

	संपादक छगनलाल शास्त्री, श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, २००२
जीवाजीवाभिगमसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक पं. शोभाचंद्र भारिल्ल, श्री आगम प्रकाशन समिती, पीपलिया बाजार, ब्यावर, १९८९
जैनयोग-	आचार्य हरिभद्रसूरि, संपा. डॉ. छगनलाल शास्त्री, मुनिश्री हजारीमल सुमति प्रकाशन, व्यावर, १९८१
जैन-स्तोक-संग्रह-	धींगडमलजी गिडिया, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति संरक्षक संघ, व्यावर (राज.), १९९६
जैनागम स्तोक संग्रह-	मगनमुनि, श्री जैन दिवाकर दिव्यज्योति कार्यालय, व्यावर (राज.)
ज्ञानसार-	न्यायाचार्य उपाध्याय यशोविजयजी, विवेचनकार- मुनिराज श्री भद्रगुप्त विजयजी, विश्वकल्याण ट्रस्ट, संघवी पोल, मेहसाना, वि. सं. २०३३
ज्ञाताधर्मकथा-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य मिश्रीमलजी, श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८१
ज्ञानार्णव-	संपा. डॉ. दर्शनलता, श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा (राज.), १९९७
ठाणंगसुत्त-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक मिश्रीलालजी म.सा.,श्री आगम प्रकाशन समिती, पीपलिया बाजार, ब्यावर
ठाणंगसूत्र (बालावबोध)-	पू. अमोलकऋषि, प्रका. श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति, व्यावर (जोधपुर), १९४२
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-	श्रीमद् विद्यानंद स्वामी, संपादक मनोहरलाल न्यायशास्त्री, गांधी नाथारंग, जैन ग्रंथालय, पो. मांडवी, मुंबई, १९१८
तत्त्वार्थराजवार्तिक-	भट्टाकलंकदेव, संपा. पं. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस,१९५३
तत्त्वार्थसूत्र-	श्रुतसागरीय वृत्ति
तत्त्वार्थसूत्र-	जीवराज जैन गभंथमाला, सोलापुर
तत्त्वार्थसूत्र-	वाचक उमास्वातिविरचित, विवेचक- पंडित सुखलालजी संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५ पुनर्मुद्रण- १९८५

तत्त्वार्थसार-	आचार्य अमृतचन्द्रसूरि, संपा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी-५
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-	सिद्धसेनगणि, प्रका. देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, मुंबई, वी. नि. २४५६
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-	आचार्य उमास्वाति, अनु. धीरजलाल के. तुरछिया, श्री जैन गुरुकुल, व्यावर (राज.), वि. सं. २०१०
तन्त्रवार्तिक-	पं. गंगाधर शास्त्री, बनारस संस्कृत सीरीज प्रकाशन, बनारस १९८७
तैत्तरीय आरण्यक-	पं. बाबा शास्त्री फडके, आनंद आश्रम, पुणे, १९८१
त्रिशष्ठीशलाकापुरुषचरित-	गणेश ललवाणी, अनु. राजकुमारी बेगानी, जैन श्वेतांबर नाकोडा, पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर, प्रकाशक प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८९
थेरीगाथा-	शेषराव मेश्राम, महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृति मंडळ, मुंबई, १९९३
दशवैकालिकसूत्र-	अनुवादक आत्मारामजी म.सा., जैन शास्त्र-माला कार्यालय, लाहौर, १९४६
दशवैकालिकसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८५
दशवैकालिक-	वाचना प्रमुख- आचार्य तुलसी, संपादक- अनुवादक- मुनी नथमल, आगम हिंदी संस्करण ग्रंथमाला, ग्रंथ-१ जैन विश्वभारती लाडनू, १९७४
दशवैकालिकनिर्युक्ति-	आचार्य भद्रबाहुस्वामी, संपा. मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रंथ परिषद, ग्रंथांक- १७, अहमदाबाद, १९७३
दशवैकालिकवृत्ति-	आचार्य हरिभद्रसूरि, आगमोदय समिती, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१८
दशाश्रुतस्कंधसूत्र -	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर
दर्शनपाहुड-	आचार्य कुन्दकुन्द, संपा. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री शान्तिवीर दिगंबर जैन संस्थान, श्री महावीरजी (राजस्थान), १९६८

दीघनिकाय-	चिंतामणि वैजनाथ राजवाडे, बडौदा, १९१८
द्रव्यसंग्रह-	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, संपा. एस. सी. घोसाल, जे. एल. जैनी मेमोरियल सीरिज, दिल्ली, १९५६
द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका-	आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९६६
द्वादशांगसूत्र टीका-	आचार्य श्री अभयदेवसूरि,
धम्मपद-	अनुवाद. राहुल सांस्कृत्यायन, भिक्षुगणी प्रजानंद बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ
धवला-	आचार्य वीरसेन, संपा. डॉ. हीरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रंथमाला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
नन्दीसूत्र-चूर्णि-	संपा. पुण्यविजय, प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी, १९६६
नवतत्त्व-प्रकरण-	श्री देवगुप्ताचार्य (श्रीमद् अभयदेवसूरि), वल्लभदास त्रिभुवनदास गांधी, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वी. नि. २४३९
नवतत्त्व-प्रकरण-सार्थ-	संपादक- शेठ वेणीचंद सूरचंद, श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा, १९२७
नवतत्त्व-साहित्य-संग्रह-	उदय-विजयगणि, प्रका. - शेठ माणिकलालभाई मनसुखभाई शाह, अहमदाबाद, १९२२
नवपदार्थ-	आचार्य भिक्खु, अनुवाद- श्रीचन्द्र रामपुरिया, जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६१
नियमसार-	आचार्य कुन्दकुन्द, श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ, वी. नि. २५०३
नियमसार-	आचार्य कुन्दकुन्द, तात्पर्यवृत्ति, संपा. हिंमतलाल शाह, कुंदकुंदकहान जैन शास्त्रमाला, सोनगढ, १९५१
निशीथभाष्य-	संघदासगणि क्षमाश्रमण, संपा. अमरमुनि- कन्हैयालाल 'कमल', आगम साहित्य रत्नमाला, दिल्ली, १९८२
निषधकुमारचरित्र-	प्रवचनकार, पू. लीलावतीबाई महासतीजी साकलीबेन कपूरचंद गांधी, गांधी छाया, सेंट्रल बँक के ऊपर, आग्रा रोड, घाटकोपर, मुंबई ७७, वि.सं. २०२८
नीतिशतक-	भर्तृहरि, संपा. कृष्ण शास्त्री महाबल, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई
न्याय-कुमुदचन्द्र-	प्रभाचंद्र, माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुंबई, १९४१

न्यायदर्शन- उदयवीर शास्त्री, वि. गो. हासानंद, दिल्ली, १९९९

न्यायदर्शन (वात्स्यायन-भाष्य)- म. म. गंगानाथ झा, चौखंबा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, १९२५

न्याय-मंजरी- जयंत भट्ट, संपा. नगीन जी. शाह, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, १९८९

न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली- पं. स्वामी गोविंद सिंह, वेंकटेश्वर प्रेस, खेतवाडी, मुंबई, १९७२

पइण्णसुत्ताइं- संपादक मुनि पुण्यविजयजी मुनि, जयंतीलाल रतनचंद्र शाह, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, १९८४

श्री महावीर जैन विद्यालय,मुंबई,१९८४

पंचतन्त्र- ह. अ. भावे, वरदा प्रकाशन, पुणे, १९७७

पंचविंशतिका- आचार्य पद्मनन्दी, संपा. पं. बालचंद्र सिद्धांतशास्त्री, दिगंबर जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९६२

पंचसंग्रह- चंद्रमहर्षि, आगमोदय समिति, ग्रंथांक- ४७, सूरत, १९२७

पंचाध्यायी- आचार्य आदि चन्द्रप्रभु, संपा. पं. मक्खनलाल शास्त्री, महावीर कीर्ति दिगंबर जैन ग्रंथमाला,

पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) पंडित राजमल्ल, गांधी नाथारंगजी अकलूज, जैनेन्द्र मुद्रणालय, कोल्हापुर, शक. १८२८

पंचास्तिकाय- आचार्य कुन्दकुन्द, पं. मनोहरलाल, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल,आगास, वी. नि. २४९५

पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति)- राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल,आगास, वी. नि. २४९५

पंचास्तिकाय ब्र. शीतलप्रसाद, प्रकाशक- मूलचंद किशनदास कापडिया, जैनमित्र, दि. जैन पुस्तकालय, सूरत, वी.नि. २४५२

पंचाशकविवरण- आचार्य हरिभद्रसूरि, अभयदेवकृत टीका, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९१२

पण्णवणासूत्र- संपा. मुनिश्री कन्हैयालाल, आ. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पू. रत्नमुनि,अनुवाद- युवाचार्य मधुकर मुनिजी, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.), २००२

पण्णवणासूत्र- पुप्फ भिक्खु, प्रकाशक- बाबुरामलाल जैन नायब-

	तहसीलदार, सूत्रागम प्रकाशक समिती, जैन स्थानक, रेल्वेरोड, गुडगांव छावणी
परमात्मप्रकाश (योगसार)-	आचार्य योगीन्दु-देव, संपा. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७
पातंजल-योगदर्शन-	राजाराम शास्त्री बोडस, ग. चि. देव, सदाशिव पेठ, पुणे १९१५
पार्श्वनाथचरित्र-	वादिराज, माणिकचंद्र दिगंबर जैन ग्रंथमाला, मुंबई १९१६
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (सटीक)-	अमृतचन्द्राचार्य, संपा. क्षुल्लक धर्मानन्द, नई दिल्ली, १९८८
प्रज्ञापनासूत्र (सटीक)-	अनु. युवाचार्य मधुकरमनि, संपा. पं. शोभाचंद भारिल्ल, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८४
प्रमाण-मीमांसा-	कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य, संपा. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, तिलोकरत्न स्थानक जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी- अहमदनगर, १९७०
प्रवचनसार-	आचार्य कुन्दकुन्द, संपा. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, मुंबई, वी. नि. २४९१
प्रवचनसार-टीका-	आचार्य जिनसेन, संपा. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, मुंबई, वी. नि. २४९१
प्रशमरति-प्रकरण-	आचार्य उमास्वाति वाचक, वीराब्द जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वी. नि. २४३६
प्रश्नव्याकरणसूत्र-	देवेन्द्रमुनी म.सा. (प्रस्तावना), श्री तारकगुरू ग्रंथालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर
प्रश्नव्याकरणसूत्र-	आचार्य अभयदेव सूरि, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१९
प्रश्नव्याकरणसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक पं. शोभाचंद्र भारिल्ल, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, २०००
बृहद्-कल्पसूत्र-	संपा. मुनि चर्तुविजय, पुण्यविजय, आत्मानंद जैन ग्रंथमाला, भावनगर, १९३५
बृहद्-द्रव्यसंग्रह-	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास, वी. नि. २४९२

बृहदारण्यक-उपनिषद्-	श्रीकृष्णदत्त भट्ट, गोविंद भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-	मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, १९६४
भगवती आराधना-	आचार्य श्री शिवार्य, प्रकाशक, बाल ब्र. श्री हिरालाल खुशालचंद दोशी, संपादक सिद्धांताचार्य श्री. पं. कैलाशचंद्र सिद्धांत शास्त्री, १९९०
भगवई-	वाचना प्रमुख, आचार्य तुलसी - मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूँ राज.
भगवतीसूत्र- (अंगसुत्तानि)	वाचना प्रमुख, आचार्य तुलसी मुनि नथमल, प्रकाशक- जैन विश्वभारती, लाडनु राज. वि. सं. २०३१
भगवद्गीता-	संपा. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, अनु. एम. ए. विराज, राजापाल एण्ड संस,कश्मिरी गेट, दिल्ली, १९६७
भावना-शतक-	पं. मुनिश्री रत्नचन्द्रजी म. सा., श्री जैन साहित्य प्रसारक समिति, व्यावर, १९४२
मज्झिमनिकाय-	अनु. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बृहद् भारती, वाराणसी
मनुस्मृति-	मराठी अनु. मुकुंद गणेश मिरजकर, रा. रा. शंकर नरहरि जोशी, चित्रशाळा प्रेस, सदाशिव पेठ, पुणे, १८४९
महाबन्ध-	आजार्य वीरसेन, संपा. पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
महाभारत (अनुशासनपर्व)-	प्रा. गोविंद वामन कुलकर्णी, महाराष्ट्र ग्रन्थ भंडार, कोल्हापुर
महाभारत (शान्तिपर्व)-	प्रा. गोविंद वामन कुलकर्णी, महाराष्ट्र ग्रन्थ भंडार, कोल्हापुर
महाभारत (वनपर्व)-	प्रा. गोविंद वामन कुलकर्णी, महाराष्ट्र ग्रन्थ भंडार, कोल्हापुर
महावीरचरियं-	आचार्य गुणचन्द्र, ७५, मुंबई, १९२९
मिलिन्द-प्रश्न-	हिन्दी अनु. भिक्षु जगदीश कश्यप, भिक्षु महानाम प्रधानमंत्री धर्मोदय सभा,रामजीदास जेठिया लेन, कलकत्ता, १९५१
मीमांसा-दर्शन-	जैमिनीसूत्र,
मीमांसासूत्र-	पं. गंगाधर शास्त्री, चौखंबा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९०४
मुण्डकोपनिषद्- मुण्डक- ३	सानुवाद शंकरभाष्यसहित, मोतीलाल जालन, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.स. २०२३

मूलाराधना-	आचार्यश्री शिवार्य विरचित, विजयोदया टीकासहित, जीवराज जैन ग्रंथमाला, मांडवे, पुष्प १ले पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, फलटण, १९९०
योगदर्शन-(व्यास भाष्य)	पु. रंजनदेवी सौभाग्यचंद श्राफ, विश्व अभ्युदय आध्यात्मिक ग्रन्थमाला, मेहता बिल्डिंग, मुंबई, १९७३
योगशास्त्र-	आचार्य हेमचन्द्र, संपा. मुनि समदर्शी, श्री ऋषभचन्द्र जोहरी - श्री किशनलाल जैन, दिल्ली, १९६३
रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-	आचार्य समन्तभद्र, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९८४
राजप्रश्नीयसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक पं. शोभाचंद्र भारिल्ल, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८९
रामचरितमानस-	गोस्वामी तुलसीदास, गोविंद भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०५७
लोकप्रकाश-	विनय-विजयगणी, आगमोदय समिती, मुंबई, १९२९
विपाकसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक पं. शोभाचंद्र भारिल्ल, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२
विशुद्धिमार्ग-	रेवत धम्मो, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६९
विशेषावश्यकभाष्य-	श्रीमद् जिनभद्रगणी क्षमाक्षमण, संपादक डॉ. नथमल टाटीया रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत, जैनोलॉजी अॅड अहिंसा, वैशरली, बिहार, १९७२
वैराग्यशतक-	भर्तृहरि, चौखंभा विद्या भवन, वाराणसी, १९६७
वैशेषिकदर्शनसूत्र-	पं. विंध्येश्वरी प्रसाद दुबे, ब्रिज बी. दास एण्ड कं., बनारस, १८८५
व्यवहारसूत्रभाष्य-	मलयगिरी टीकासहित, संपादक वकील प्रिकमलाल अगरचंद, १९२८
व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र-	संपा. युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म. सा. 'मधुकर' अनु. अमरमुनि,श्री आगम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक पिपीलिया बाजार, ब्यावर (राज.),
शतपथ-ब्राह्मण-	डॉ. अलबेते येवेरेन शोधीतम, चौखंभा संस्कृत सीरिज,

	गोपाल मन्दिर गली, वाराणसी, १९६४
शान्ति-शतक-	सिंहलन मिश्री,
शास्त्रवार्ता-समुच्चय-	संपा. बापूलाल मांगीलाल दभोई, सूरत, वि.सं. २०२९
शिशुपाल-वध (महाकाव्य)-	महाकवि माघ, निर्णय सागर प्रेस, बुंबई, १९५७
श्वेताश्वतर उपनिषद्-	मोतीलाल जालान, गीता भाष्य-सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर
षट्खंडागम-	आचार्य भूतबलि-पुष्पदन्त, संपा. पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९९२
षड्दर्शन-समुच्चय (सटीक)-	आचार्य हरिभद्रसूरि, संपा. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन कार्यालय, दुर्गापुर कुंड, वाराणसी, १९७०
षड्दर्शन-रहस्य-	आचार्य हरिभद्रसूरि, संपा. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन कार्यालय, दुर्गापुर कुंड, वाराणसी, १९७०
श्रीनंदीसूत्र-टीका-	मलयगिरिकृत टीका, आगमोदय समिति, जवेरी बाजार, मुंबई, १९२४
श्रीबृहद् जैन थोक-संग्रह-	संपा. कान्तिलाल जगजीवन गांधी, जसवंतलाल शान्तिलाल शाह, सुधर्म प्रचार मंडल, गुजरात, २०००
सन्मतितर्क-प्रकरण-	सिद्धसेन दिवाकर, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९२१
समणसुत्त-	संकलनकर्ता- पं. बेचरदास दोशी, सर्व सेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी, १९७५
समरादित्यकथा-	आचार्य हरिभद्रसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
समयसार-	कुंदकुंदाचार्य, संपा. मोहनलाल सिद्धांत शास्त्री, राजचंद्र जैन शास्त्रमाला, बंबई, १९१९
समवायाङ्गसूत्र-	अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८२
संबोध-सत्तरी-	आचार्य हरिभद्रसूरि, अमृतसागरसूरि ज्ञान मन्दिर, दौलतनगर,मुंबई १९७३
सर्वदर्शन-संग्रह-	माधवाचार्य, भाष्यकार- प्रो. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४

सर्वार्थसिद्धि- आ. पूज्यपाद, तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति, पं. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक-१३, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४४

सर्वार्थसिद्धि- आ. पूज्यपाद, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, लालभाई दलपतभाई ग्रंथालय, अहमदाबाद, द्वितीय आवृत्ति

सांख्यदर्शन- उदयवीर शास्त्री, वि. गो. हासानंद, दिल्ली, १९९९

सांख्यकारिका- लक्ष्मीचंद्र शास्त्री, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, १९९४

सुत्तनिपात- प्रा. धर्मानंद कोसंबी (भाषांतरकार) प्रा. पु. वि. बापट प्रकाशक- धर्मानंद स्मारक ट्रस्ट, ५१ महात्मा गांधी रोड, मुंबई, १९१५

सुत्तागमे (ठाण)- संपादक पुप्फभिक्खु, श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगांव छावणी (पंजाब) १९५३

सुत्तागमे (भगवई)- संपादक पुप्फभिक्खु, श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगांव छावणी (पंजाब) १९५३

सुत्तागमे (समवायंग)- संपादक पुप्फभिक्खु, श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगांव छावणी (पंजाब) १९५३

सुत्तागमे (उववाइय)- संपादक पुप्फभिक्खु, श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगांव छावणी (पंजाब) १९५३

सुत्तागमे (आयारे)- संपादक पुप्फभिक्खु, श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगांव छावणी (पंजाब) १९५३

सुत्तागमे (नंदीसुत्तं)- संपादक पुप्फभिक्खु, श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगांव छावणी (पंजाब) १९५३

सूत्रकृताङ्गसूत्र-टीका आचार्य अभयदेवसूरि, शेठ माणिकचंद चुन्नीलाल, शेठ कान्तिलाल चुन्नीलाल, अमदावाद, १९३७

सूत्रकृताङ्गसूत्र- अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, वि. २०३९

सूत्रकृताङ्गसूत्र (सटीक)- शीलांकवृत्ति, प्रकाशक-- गंगारामजी के सुपुत्र श्री सेठ छगनलाल मूथा, राजकोट, १९९५

स्थानाङ्गसूत्र- अनुवादक युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., संपादक युवाचार्य श्री. मिश्रीमलजी म.सा. 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिती, ब्यावर, १९८१

स्याद्वाद-मंजरी (सटीक)- आचार्य हेमचन्द्र, अनु. डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, आनन्द (गुजरात), १९७०

स्थानाङ्गसूत्रटीक - अभयदेवसूरि, आगमोदय समिति, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई १९१८

हितोपदेश- श्रीरामचन्द्र झा, चौखंबा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, १९९९

ब) आधुनिक लेखकांचे ग्रंथ-

आचार्य, तुलसी- जैन सिद्धान्त दीपिका, अनु. मुनिश्री नथमल, आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर (राज.), १९७२

आचार्य, नरेन्द्रदेव- बौद्ध धर्म दर्शन,

आचार्य, श्री नानेश- जैन-धर्म, संपा. शान्तिमुनिजी, श्री समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इंदौर, १९८४

आचार्य, अमोलकऋषि- जैन तत्त्वप्रकाश, श्री अमोल जैन न्यायालय, धूलिया, १९८२

आचार्य, भिक्षु-नव पदार्थ, जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६१

आचार्य, विजयवल्लभसूरि- वल्लभप्रवचन, संपा. प्रो. मुनिलालजी जैन, श्री. आत्मानंदजी जैन महासभा, जैननगर, अंबाला शहर, १९७१

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- अमृत महोत्सव ग्रन्थ, अखिल भारतीय जैन कान्फ्रेंस, नई दिल्ली, १९८८

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, तारक गरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर,

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- As you like it (कर्म विज्ञान भाग १), तारक गरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९९०

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- कर्म विज्ञान (भाग १ से ९), तारक गरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९९०

उपाध्याय, देवेन्द्रमुनि- पार्श्वनाथ-चरित्र एक समीक्षात्मक अध्ययन, तारक गरू जैन ग्रन्थालय, गुरू पुष्कर मार्ग, उदयपुर,

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- भगवान महावीर एक अनुशीलन,

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- ऋषभदेव एक परिशीलन,

उपाचार्य, देवेन्द्र मुनिजी- कर्म एक विश्लेषणात्मक अध्ययन,

उपाध्याय, अमरमुनि- महाभारत की सूक्तियाँ (सूक्ति त्रिवेणी), सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६८

उपाध्ये, ए. एन.- महावीर ॲड हिज टिचींगज्, नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद, १९७७

ऋषि, अमोलक- जैन-तत्त्व-प्रकाश, श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, १९८२

ऋषि, अमोलक- सचित्र पचीस बोल, श्री तिलोकरत्न स्था. धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अहमदनगर

ऋषि आनंद- भावनायोग एक विश्लेषण, श्रीतिलोकरत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी, अहमदनगर, १९७५

कछारा, नारायणलाल- जैन कर्म सिद्धान्त : अध्यात्म और विज्ञान, धर्म दर्शन सेवा संस्थान, उदयपुर, २००६

काणे, पी. व्ही.- हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे, १९६२

गणि, उदयविजय- नव तत्त्व साहित्य संग्रह, प्रका. शेठ माणिकलालभाई मनसुखभाई शाह, अहमदावाद, १९२२

ग्लॅसेनॉप, हेलमुथ वॉन- द डॉक्ट्रिन ऑफ कर्मन् इन जैन फिलॉसॉफी, १९४२

चाहक, विश्वशांति - योगदर्शन और योग समाधि, विश्व अभ्युदय आध्यात्मिक ग्रंथमाला, कु. रंजनदेवी सोभाग्यचंद श्राफ, मेहेंत बिल्डिंग, खार, मुंबई, १९७३

जयेशाबाई-नमिताबाई- करामन छे कर्मना कॅलक्युलेटर, प्रणामि ज्ञान अनुष्ठान योजना ट्रस्ट, कांदीवली (पूर्व)

जैन, जगदीश चंद्र- जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००२

जैन, जगदीश चंद्र- प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८५

जैन, जगदीशचंद्र व मेहता, मोहनलाल- जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-२, अंगबाह्य आगम, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनागम, हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी ५- १९६६

जैन, महेन्द्रकुमार- जैन दर्शन, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९५५

जैन, लालचन्द्र- जैनदर्शन में आत्मविचार,

जैन, सागरमल- जैन, बौद्ध और गीता का समाजदर्शन, प्राकृत भारती प्रकाशन १२, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२

जैन, सागरमल- जैन कर्म सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारती प्रकाशन- २१, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२

जैन, सागरमल- जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनोंका तुलनात्मक अध्ययन, भाग १ व २, प्राकृत भारती प्रकाशन- १९-२०, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२

जैन, सागरमल- जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, प्राकृत भारती प्रकाशन-११, जयपुर, १९८२

जैन, हीरालाल- भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल- १९६२

जैनाचार्य, जवाहरलाल- जवाहर किरणावली, संपा. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, श्री जवाहर साहित्य समिति, भिनासर बाकानेर,

जोग, द. वा.- भारतीय दर्शन संग्रह, चित्रशाळा प्रकाशन, पुणे- २

जोशी, एल. एम.- फॅसेट्स ऑफ जैन रिलिजिअसनेस इन् कम्पॅरेटिव लाइट, एल. डी. इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, अहमदाबाद, १९८१

जोशी, पं. महादेव शास्त्री- भारतीय संस्कृति कोश, भारतीय संस्कृति कोश मंडळ, शनिवार पेठ, पूना, १९९४

टाटिया, नथमल- स्टडीज इन् जैन फिलॉसॉफी, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, १९५१

ठक्कर, हीराभाई- कर्मनो सिद्धान्त, जनरल प्रिंटर्स अेण्ड पब्लिसर, गिरगांव मुंबई, १९८३

डॉ. राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९६९

डिझिट, के. के.- अर्ली जैनिझम, एल.डी. इन्स्टिटयूट ऑफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद, १९७८

डांगे, सिंधू स.- बौद्ध धर्म आणि तत्त्वज्ञान, महाराष्ट्र विद्यापीठ ग्रंथनिर्मिती मंडळाकरिता, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, विजयानगर, पुणे- ३०

तिवारी, भोलानाथ- भाषा-विज्ञान,

दिवाकर, पं. सुमेरूचंद्र- जैन शासन, श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभा, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, १९९८

दीक्षित, श्रीनिवास हरि- भारतीय तत्त्वज्ञान, फडके प्रकाशन, कोल्हापूर, १९९६

देव, एस. बी.- द हिस्टरी ऑफ जैन मानॅकिझम, फॉम इन्स्क्रिप्शन्स अँड लिटरेचर, डेक्कन कॉलेज रीसर्च इंन्स्टिट्यूट, खंड १६, पूना १९५४

दोशी, रतनलाल- तीर्थंकर चरित, अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, व्यावर (राज.), १९९४

दोशी, रतनलाल- मोक्षमार्ग, अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, व्यावर (राज.), १९९४

धीरजमुनि- जैनतत्त्व-स्वरूप, वीतराग प्रकाशन, अभी एंटरप्राट्यजेस, सिम्पोळी रोड, बोरीवली, मुंबई, २००३

नाहटा- अगरचन्द्र- कर्म साहित्य का संक्षिप्त विवरण,

न्यायाचार्य, महेन्द्रकुमार- श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९५५

बाठिया, मोहनलाल- लेश्याकोश, जैन विषय-कोश ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९६६

भारिल्ल, डॉ. हुकुमचन्द्र- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापुनगर, जयपुर, १९७१

महेन्द्र कुमार- विश्व प्रहेलिका, साहित्य निकेतन, नया बाजार, दिल्ली, १९६९

मालवणिया, पं. दलसुख- आगम युग का जैन दर्शन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६

मालवणिया, पं. दलसुख- गणधरवाद, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदावाद

मालवणिया, पं. दलसुख- आत्म-मीमांसा, श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस

मुनि, अमर- चिंतन की मनोभूमि, संपा. डॉ. वशिष्ट नारायण सिन्हा, प्रकाशक समिति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा, १९७०

मुनि, ज्ञान- ज्ञान का अमृत, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, रापुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)

मुनि, ज्ञान- आत्मन की दिशा में, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, रापुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)

मुनि, चौथमल- निग्रन्थ प्रवचन, भाष्यकार- पं. शोभादन्द्र भारिल्ल,

प्रका. स्वरूपचंद्र तालेडा अभयराज नहार,
व्यावर (राज.) १९६६

मुनि, जवाहरलाल- गृहस्थ-धर्म, संपा. पं. शोभाचंद भारिल्ल,
श्री जवाहर साहित्य प्रकाशन समिति (भिनासार), १९७७

मुनि, दीपरत्न-सागर- आगम-दीप, श्री डे. के. ठक्कर, १६- अल्कानगर,
बडौदरा, १९९८

मुनि, नगराज- जैन आगम दिग्दर्शन, अर्हत प्रकाशन, इजरास्ट्रीट,
मुंबई, १९७२

मुनि, नथमल- जैन दर्शन मनन मीमांसा, संपा. मुनि दुलहराज,
आदर्श साहित्य प्रकाशन संघ, १९७३

मुनि, नथमल- जीव अजीव, जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा,
कलकत्ता १, वि. सं. १०२४

मुनि, न्यायविजय- जैन दर्शन, हेमदन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन, १९५०

मुनि, मधुकर- जैनतत्त्व-दर्शन, मुनिश्री हस्तिमल स्मृति प्रकाशन,
पिपलिया बरजार, व्यावर, १९७४

मुनि, मिश्रीमल- जैन धर्म में तप, मरुधर केशरी साहित्य प्रकाशन समिति,
जोधपुर, १९७२

मुनि, पं. सुरेश- कर्मवाद एक अध्ययन,

मुनि- रत्नसेन विजय- जैन विज्ञान, स्वाध्याय संघ, माउंट रोड, मद्रास, १९९४

मुनिराज, कुंदकुंदविजय- नमस्कार चिन्तामणि, श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेतांबर
मन्दिर, हरिद्वार, १९९९

मेवाडी, हस्तिमुनिजी- आगम के अनमोल-रत्न, धनराज घासीलाल कोठारी,
लक्ष्मी पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९६८

मेहता, भानुमतिबेन- वंदनीय साधुजनो, भानुमतिबेन के. मेहता, १९८१

मेहता, मोहनलाल- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रंथमाला,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी-५, १९६८

मेहता, मोहनलाल- जैन धर्म दर्शन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रंथमाला १९,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी-५, १९७३

मोहनलाल- कर्म सिद्धान्त,

मोहनोता, पुखराज- बडी साधु वंदना, श्री जयमल मेमोरियल ट्रस्ट,
जोधपुर, २०००

याकोबी, हर्मन- जैन सूत्राज्, द सेक्रेड बुकस् ऑफ ईस्ट, व्हॉल्यूम ४५, पार्ट- २, द उत्तराध्ययन सूत्र, द सूत्रकृतांग सूत्र, ऑक्सफोर्ड ॲट द क्लेरेनडॉन प्रेस, १९९५

युवाचार्य, महाप्रज्ञ- कर्मवाद, प्रेक्षाध्यान अकादमी, संपा. चन्द्रहास त्रिवेदी, अनेकान्त भारती प्रकाशन, अहमदावाद १५

युवाचार्य, महाप्रज्ञ- घट-घट दीप जले,

युवाचार्य, डॉ. शिवमुनि- भारतीय धर्म में मुक्ति-विचार, अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् , जयपुर, १९८८

वर्णी, जिनेन्द्र- कर्म सिद्धान्त,

वर्णी, जिनेन्द्र- कर्म रहस्य,

वाचस्पति, गैरोला- संस्कृति साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, चौखंबा संस्कृत सीरिज, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७

विजयानन्द (आत्माराम)- जैन तत्त्वादर्श, श्री आत्मानन्द जैन सभा, ४१ धनजी स्ट्रीट, बंबई, १९५६

वोरा, डॉ. सर्वेश- नवकार प्रभावना, नवकार प्रतिष्ठान, अंधेरी (पूर्व), मुंबई,

शास्त्री, इन्द्रचन्द्र- जैन-दृष्टि, हजारीमल मुनिश्री स्मृति प्रकाशन समिति, व्यावर, १९६८

शास्त्री, कैलाशचन्द्र- कर्मग्रंथ,

शास्त्री, कैलाशचन्द्र- कर्म का स्वरूप,

शास्त्री, देवेन्द्रमुनि- साहित्य और संस्कृति, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७०

शास्त्री, देवेन्द्रमुनि- जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, तारक गरू जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर,

शास्त्री, देवेन्द्रमुनि- भगवान पार्श्व- एक समीक्षात्मक अद्ययन, पं. मुनि श्रीमल प्रकाशन, श्री वर्धमान श्वे. स्थानकवासी जैन

श्रावक संघ, जैन साधना सदन, पूना, १९६९

शास्त्री, देवेन्द्रमुनि- धर्म और दर्शन, तारक गरू जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर, १९६७

शास्त्री, नेमिचंद्र- प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, १९८८

शास्त्री, फूलचन्द्र- कर्म मीमांसा,

शास्त्री, विजयमुनि- अध्यात्म साधना, संपा. श्री समदर्शी प्रभावकर, गिरधरलाल दामोदर दफ्तरी, सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, कांदावाडा, मुंबई ४, १९७०

शास्त्री, विजयमुनि- भावनायोग नी. साधना, संपा. मुनिश्री समदर्शी प्रभाकर, श्रीवधर्ममान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, वल्लभभाई रोड, मुंबई, १९७०

शास्त्री, विजयमुनि- समयसार प्रवचन, श्री. वर्धमान श्वेतांबर स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, जैन साधना सदन, नानापेठ, पूना, १९७०

शीलगुण विजय- अखंड ज्याति, चंपकलाल टी. खोखरवाडा,

शुब्रिंग, वॉल्टर- द रिलिजन ऑफ द जैनाज्, भाषांतर- अमूल्यचंद्र सेन, टी. सी. बुर्क संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९६६

शाह, धीरजलाल टोकरसी- नमस्कार महिमा, श्री जैन मित्र मंडल, सांताक्रुंज (वेस्ट), मुंबई, वि. स. २०१७

शाह, नगीनभाई- बौद्ध धर्म दर्शन, वल्लभभाई पटेल युनिव्हर्सिटी, विद्यानगर, १९७८

संघवी, पंडित सुखलालजी- दर्शन और चिंतन, पंडित सुखलालजी सन्मान समिति, गुजरात- विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद-९, १९५७

संघवी, पंडित सुखलालजी- योग दर्शन तथा योग-विंशिका,

साधु, ब्रम्हदर्शनदास- कर्म सिद्धान्त अने पुनर्जन्म, स्वामी नारायण अक्षरपीठ, शाहीबाग, अहमदावाद, २००४

साध्वी, उज्ज्वलकुमारी- जीवन धर्म, संपा. रत्नकुमार जैन 'रत्नेश', स्वाश्रय प्रकाशन समिति, दिल्ली, १९५५

साध्वी, उज्ज्वलकुमारी- जीवन धर्म, संपा. रत्नकुमार जैन 'रत्नेश', सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९४९

साध्वी, धर्मशीला- णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन, श्री उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, श्री एस. एस. जैन संघ अयनावरम, मुंबई, २००१

साध्वी, धर्मशीला- श्री प्रतिक्रमण सूत्र, उज्ज्वलधर्म ट्रस्ट, डॉ. डी. एन. गोसलिया, महेशविला, घाटकोपर, मुंबई, २००२

साध्वी, डॉ. धर्मशीला- जैन दर्शनातील नव तत्त्वे, उज्ज्वल साहित्य प्रकाशन, डॉ. धीरेन्द्र एस. गोसलिया, घाटकोपर, मुंबई,

सेठिया, आगरचन्द्र भैरोदान- नवतत्त्व, श्री अगरचंद भैरोदान जैन पारमार्थिक संस्थान, ग्रन्थालय भवन, बीकानेर, वी. निं. २४९०

सेठिया, भैरोदान- श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, श्री अगरचंद भैरोदान जैन पारमार्थिक संस्थान, ग्रन्थालय भवन, बीकानेर, वि. सं. २००५

सेठिया, भैरोदान- शिक्षासार संग्रह, श्री. अगरचंद भैरोदान सेठिया, जैनपारमार्थिक संस्था, बीकानेर (राज.), वी. नि. २४९९

स्वामी, श्री शंकराचार्य- शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी, गीता प्रेस, गोरखपुर

ड) विविध कोश ग्रंथ

अभिधान राजेन्द्र कोश (७ खंड)- श्री विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी, रतलाम १९१३

अभिधान राजेन्द्र कोश (७ खंड)- संकलन डॉ. प्रियदर्शनाश्री, डॉ. सुदर्शनाश्री, शाह दीपचंद छगनलाल जी, सदर बाजार, भीनमाल (राज.) १९९८

अर्धमागधी कोश (५ खंड) - मुनि रतनचंदजी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८८

आगम-शब्द-कोश- युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनू, १९८०

एकार्थक- कोश- जैन विश्वभारती, लाडनू, १९८४

ए कॉम्प्रिहेन्सिव अँड क्रिटिकल डिक्शनरी ऑफ प्राकृत लॅग्वेजेस (व्हॉल्यूम १,२) डॉ. अ. मा. घाटगे, भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पुणे- १९९६

जैन जेम डिक्शनरी-- जे. एल्. जैनी, आरा, १९१८

जैन लक्षणावली - बालचंद्र शास्त्री, वीर सेवा मंदिर, प्रकाशन, दिल्ली, १९७३

जैनागम निर्देशिका- मुनि कन्हैयालाल 'कमल', दिल्ली, १९६६

जैनेन्द्र सिद्धांत-कोश (४ खंड)- जैनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९२०

देशी-शब्द-कोष- जैन विश्वभारती, लाडनू, १९८८

पाइय-सद्द-महण्णवो- हरगोविंददास सेठ, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस, १९६३

प्राकृत-प्रॉपर-नेम्स (२ खंड)- एल्. डी. इन्स्टिटयूट, अहमदाबाद, १९७०-७२

ड) विविध शोध पत्रिका

अमरभारती (मासिक)-	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
अनेकान्त (त्रैमासिक)	वीर सेवा मंदिर, दिल्ली
ॲनल्स (वार्षिक)-	भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना
जिनवाणी-	कर्मसिद्धांत विशेषांक, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडळ, बापू बाजार, जयपुर
तुलसी प्रज्ञा (त्रैमासिक)-	जैन विश्वभारती, लाडनू
प्राकृत विद्या (त्रैमासिक)-	कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली
सम्बोधि-	एल्. डी. इन्स्टिटयूट ऑफ इन्डॉलॉजी, अहमदाबाद.
सम्मेलन पत्रिका-	लोक संस्कृति के अंचल विशेषांक

××××× ✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ×××××